

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता
'ख'-कारविभागात्मिका

"उत्तरखराडात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा--उत्तरखराड)

भाष्यकारः-मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्करकशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
जयपत्तनाभिजनः

* * *

(पुनःप्रकाशनाधिकार एकमात्र भाष्यकार से ही अनुप्राणित)
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर' के द्वारा प्रकाशित
एवं
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम-दुर्गापुरा-जयपुर के द्वारा मुद्रित
प्रकाशनतिथि-आषाढशुक्ल-पूर्णिमा, वि० सं० २०१६
(ता० २० जौलाई, सन् १९५९)

प्रथमवार ५०० प्रति



श्रीः

प्रकाशितग्रन्थसूची—

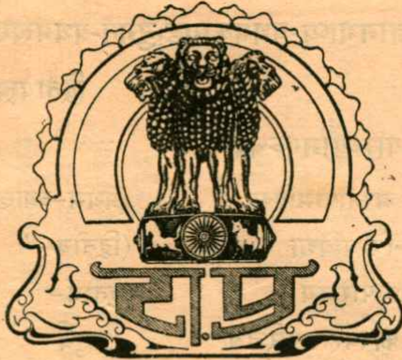
१–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता—'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड		१५)
२– "	–'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड*	२०)
३– "	–'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड*	२०)
४– "	–'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड*	२०)
५- "	–'ज्ञानयोग'-तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम, तथा षष्ठखण्ड	२०)
६– "	–'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड	२०)
७– "	–'बुद्धियोगपरीक्षा'-नामक अष्टमखण्ड	२०
८–ईशोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य-	प्रथमखण्ड ··· ··	१५)
९–ईशोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य-	द्वितीयखण्ड ··· ····	१५)
१०–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–	प्रथमखण्ड*··· ···	१५)
११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–	द्वितीयखण्ड ···· ···	१५)
१२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-	तृतीयखण्ड ··· ···	१५)
१३–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड		२०)
१४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीयखण्ड		१५)
१५–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा ···· ··· ····		२५)
१६–'भारतीय-हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड ··· ···		१५)
१७–'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्त्वम्' (संस्कृतनिबन्ध) ··· ···		१॥)

---

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं, जो सम्भवतः वर्षसमाप्ति–पर्य्यन्त प्रकाशित होजायँगे ।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग के सचिव-द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है—



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान-संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री औफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	यदुनाथसिंह
नई दिल्ली	(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
दिनांक 30 अगस्त 1958	मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक–राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)

---

*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्री:

प्रक्रान्त-वर्षीय-प्रकाशनों के सम्बन्ध में विशेष निवेदन—

विगत २-३ वर्षों से सर्वथा एकाकीरूपेण प्रकाशन-प्रवृत्तियों में अहोरात्र संलग्न रहने के कारण जहाँ अनुमानतः प्रकाशन ७-८ सहस्र-पृष्ठों का सम्पन्न-होगया, वहाँ हमें अपने स्नायवीय-स्वास्थ्य को भी जलाञ्जलि समर्पित कर देनी पड़ी। फलतः विगत कार्त्तिक-मास से ही हमें निःसीम 'रक्तचाप' का आतिथ्य-स्वीकार-कर लेना पड़ा, जिस इस महान् अभ्र से अद्यावधि भी आत्मत्राण नहीं होसका है।

संस्थान की प्रकाशन-प्रवृत्तियों के महान् उत्तरदायित्त्व का अनिच्छन्नपि आज भी हमें हीं वहन करना पड़ रहा है। अतएव शय्यारूढावस्था में भी येनकेनरूपेण विगत ६ मास से प्रकाशन-कार्य्य को आराध्य बनाना पड़ रहा है। अनेक सहयोगियों के आपातरमणीय-क्वाचित्क सहयोग की उपलब्धिका का भी निरन्तर प्रयास हुआ है। किन्तु युगधर्म्मानुबन्ध से उस में सफलता नहीं मिल सकी है। यही नहीं, इन आपातरमणीय-क्वाचित्क-सहयोगों से प्रक्रान्त-वर्ष में प्रकाशित होने वाले प्रस्तुत निबन्धों में प्रकाशनानुबन्धिनीं अनेक भूलें भी होगई हैं, जिनके लिए क्षमा-याञ्चा के अतिरिक्त **'नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय'**।

मानवाश्रम- दुर्गापुरा (जयपुर) राजस्थान	इति निवेदयति-यः कश्चिदपि मोतीलालशर्म्मोपाह्वो-मुकुरकशर्म्मा आङ्गिरसो भारद्वाजः जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता 'ख'–कारविभागात्मिका–उत्तरखण्डात्मिका

भक्तियोगपरीक्षा की संक्षिप्ता–विषयसूची

"परिच्छेदात्मिका"

भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्डात्मिका–'ख'–कारविभागात्मिका

के

प्रधान--प्रकरणों का नाम--दिग्दर्शन

३–"उपासनाभेदनिर्वचनम्"-नामकं-तृतीयं-प्रकरणम्

पृष्ठसंख्या २२५ से ३५४

परिच्छेदसंख्या-संकलन-१६८ (एकसौ अडसठ)

३

—*—

४–"उपासनापरिशिष्टनिर्वचनम्" नामकं चतुर्थं-प्रकरणम्

पृष्ठसंख्या ३५५ से ६६८ पर्य्यन्त

परिच्छेदसंख्या–संकलन–५०३ (पान्सौ तीन)

४

—*—

❀–"भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड का उपराम, एवं तद्द्वारा आत्मदेवता का संन्तर्पण" नामक उपसंहार-प्रकरण



—*—



—*—

तत्र-"उपासनास्वरूपनिर्वचनात्मके"--प्रथमप्रकरणे एते--परिच्छेदा निरूपिताः--द्रष्टव्याः

(प्रथमप्रकरण की परिच्छेदसूची)

१

इति–'उपासनास्वरूपनिर्वचन' नामक ३०४ परिच्छेदात्मक प्रथम–प्रकरण की परिच्छेदात्मिका सूची-उपरता

१

---*---

अथ--उपासनालक्षणनिर्वचनात्मके--द्वितीय--प्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिताः-द्रष्टव्याः

(द्वितीयप्रकरण की परिच्छेदसूची)

२

---*---

इति-'उपासनालक्षणनिर्वचनम्' नामक १५३ परिच्छेदात्मक द्वितीय-प्रकरण की परिच्छेदात्मिका सूची–उपरत

२

अथ–"उपासनाभेदनिर्वचनात्मके-तृतीयप्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिताः-द्रष्टव्याः

(तृतीय-प्रकरण की परिच्छेदसूची)

३

इति–'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक १६८ परिच्छेदात्मक तृतीय–प्रकरण की परिच्छेदात्मिका सूची–उपरता

३

अथ-उपासनापारीशिष्टनिर्वचनात्मके चतुर्थप्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिताः-द्रष्टव्याः
(चतुर्थप्रकरण की परिच्छेदसूची)
४

*–संशोधक की (हमारी) असावधानी से ग्रन्थ में २३१–२३२–२३३ संख्याओं के स्थान में ३३१–३३२– ३३ संख्याओं का समावेश होगया है। कृपालु पाठक संशोधन का अनुग्रह करेंगे।

महाविद्यानुगत-निदानरहस्य

(१) महाकालपुरुष, और उस की महाविद्या महाकाली
(आद्या-दक्षिणकालिका)

इति–'महाकाली'-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

१

(२)–अक्षोभ्यपुरुष, और उस की महाविद्या तारा
(द्वितीया–तारा–ब्रह्ममयी)

इति-तारास्वरूप-दिग्दर्शनम्

२

—— —*— ——

(३)–पञ्चवक्त्रशिव, और उस को महाशक्ति षोडशी (तृतीया-षोडशी-महाविद्या)

इति-'षोडशी'-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

३

(४)-त्र्यम्बकशिव, और उस की महाविद्या भुवनेश्वरी [चतुर्थी-महाविद्या]

इति–भुवनेश्वरी-स्वरूपदिग्दर्शनम्

४

---*---

(५)–कबन्धशिव, और उस की महाविद्या छिन्नमस्ता (पञ्चमी–महाविद्या)

---*---

इति-छिन्नमस्ता-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

५

——*——

(६)–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उस की महाविद्या भैरवी (षष्ठी-भैरवी-महाविद्या)

——*——

४१६–याम्य रुद्राग्नि से अनुप्राणिता दक्षिणदिशा, तथा सोमानुगता उत्तरदिशा का संस्मरण, दक्षिणोत्तर-दिगनुगत अग्निसोम-तत्त्वों के पारिभाषिक गमनागमन का समन्वय, उभय-समन्वित-रूप की पारिभाषिकी यज्ञरूपता, इत्थंभूत यज्ञ का स्थितिरक्षकत्त्व, तदनुबन्धी शक्तितत्त्व का 'त्रिपुरसुन्दरी' भाव निबन्धन मङ्गलमय स्वरूप, एवं सोम के अभाव से तत्स्वरूप की रुद्ररूप में परिणति का समन्वय ... ...

४१७–रुद्रात्मक अग्निरूप की संहारकता, तेजः-स्नेह-धर्म्मानुबन्धी अग्नि, और सोम, तन्निबन्धन विकास, तथा संकोच-धर्म्म, तदनुबन्धिनी विनाशरक्षण-भावनिबन्धना स्थितिद्वयी का रहस्यात्मक समन्वय प्रयास, दक्षिणाग्निरुद्रात्मक यम का विनाशाधिष्ठातृत्त्व, तन्निबन्धन दक्षिणामूर्त्ति-कालभैरव का पावन-संस्मरण, एवं तदभिन्ना महाशक्ति-भैरवी नामकी छठी महाविद्या के महा-माङ्गलिक स्वरूप का उपराम, और तद्ध्यान-मन्त्र का संस्मरण ६४६

इति–भैरवी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

६

---*---

(७)-पुरुषवञ्चिता, अतएव 'विधवा' नाम्ना-प्रसिद्धा महाविद्या-धूमावती

[सप्तमी-धूमावती-महाविद्या]

---*---

४१८–सर्वविध-भोग्य-परिग्रह-सम्भार-समन्विता माता वसुन्धरा के भोग्य-परिग्रहों से वञ्चित भाग्यहीनों के सम्बन्ध में एक रहस्य-पूर्ण-प्रश्न, एवं तत्समाधानाधिष्ठात्री-पुरुषवञ्चिता, अतएव-'विधवा' नाम से सुप्रसिद्धा महाविद्या माता-'धूमावती' का महामाङ्गलिक-संस्मरण, एवं निगमानुगता लक्ष्मीभाव-निबन्धना रोहिणी, और ज्येष्ठा-नक्षत्रानुबन्धी रहस्यात्मिका स्थितिका स्वरूप-समन्व-प्रयास.... ... . ६४७

४१९–रुद्र-यम-वरुण-निर्ऋति-नामक चतुर्विध-प्राणदेवताओं से अनुप्राणित चतुर्विध घोरघोरतम-सर्वविध रोग-शोकादि का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं सर्वदुःख-शोक-रोगादि-मूलभूता 'धूमावती' स्वरूपिणी-निगमानुगता घोरघोरतमा "निर्ऋति" के महामाङ्गलिक अभय-प्रवर्त्तक-पावन-स्वरूप का नैगमिक-संस्मरण, एवं 'घोरा वै पाप्मा निर्ऋतिः' वचन का समन्वय-प्रयास ... . "

इति–धूमावती-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

७

---*---

[८]–एकवक्त्ररुद्र, और उस की महाविद्या वल्गामुखी [बगलामुखी]
[अष्टमी-वल्गामुखी-महाविद्या]

——*——

इति–वल्गामुखी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

८

——०——

[९] मतङ्गशिव, और उसकी महाविद्या मातङ्गी [नवमी-मातङ्गी-महाविद्या]

———*———

इति-मातङ्गी-स्वरूप--दिग्दर्शनम्

९

———*———

(१०)–सदाशिवविष्णु, और उस की महाविद्या कमला (दशमी-कमला-महाविद्या)

———*———

इति–कमला–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

१०

—— * ——

—*—

रात्रितत्त्व, और दशमहाविद्या का प्रासङ्गिक-स्वरूप-विश्लेषण

इति–दशमहाविद्यानुगतानि-नैदानिकोदाहरणानि
समाप्तं चेदं महाविद्यानुगतं निदानरहस्यम्

* * *

श्री श्रीगणपति के नैदानिकस्वरूप का संक्षिप्त-इतिवृत्त

इति–भक्तियोगपरीक्षायां–उत्तरखण्डे
"उपासनापरिशिष्टनिर्वचनम्"
नामकं
चतुर्थं–प्रकरणं–उपरतम्
४

——*——

* * *

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता
'ख'–कारविभागात्मिका
"उत्तरखण्डात्मिका -भक्तियोगपरीक्षा"
[भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड]
की
संक्षिप्ता–विषयसूची–उपरता
[परिच्छेदात्मिका]

——*——

श्री:

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरममपरीक्षानुगता

'ख'- कारविभागात्मिका

"उत्तरखण्डात्मिका - भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड)

की

संक्षिप्त–विषयसूची–उपरता

(परिच्छेदात्मिका)

श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–उत्तरखण्डे

'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'

नामकं

प्रथमं–प्रकरणम्

१



ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक'

'भक्तियोगपरीक्षा'–नामक–उत्तरखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत–'ख'–कार विभागात्मक–द्वितीयखण्ड)

तत्रादौ प्रथमं–'*उपासनास्वरूपनिर्वचनम्*'

नामकं–प्रथमं–प्रकरणम्

१



१—माङ्गलिकसंस्मरण—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

३—वाचं देवा* उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

---

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इसके निराकरण के लिए 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रथमकाण्डीय–प्रथमखण्ड ही देखना चाहिए।

६—ओष्ठापिधाना न कुलीदन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥
७—यो यगो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा विज्ञानं समुपदिदेश गीतया यः ।
आनन्दं जनयतु विश्वतो मभायं गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमेतु ॥
८—य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता १८।६८ ।)
९—इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
तथाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति । (गीता १८।६७ ।)
प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः—
श्रीविश्वेशादयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदयः ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्ति-भाग्योदयः—
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

---- * ----

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए ! क्योंकि (विद्वान्-लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं । अपिच आपके बिना दूर का अथवा समीप का कोई भी कार्य्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्य्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! त्रिवृत (९), पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्य्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

२—एक ही अग्नितत्त्व (गायत्री–त्रिस्टुप्–जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहुताग्नि, प्रहुताग्नि, आमादग्नि क्रव्यादग्नि, कव्यादाग्नि, वैश्वानराग्नि, सान्तपनाग्नि, वेदाग्नि, सम्वत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित होरहा है । एक ही सूर्य्य विश्वोपलक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जङ्गम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत होरहा है । ३० योजन पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली सूर्य्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित होरही है । नानाभेदभिन्न उक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है । एक ही ब्रह्मतत्त्व उपाधिभेद से अनेक रूप धारण कर विभूति–सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त होरहा है ।

—"ऋक्सं० ६।४।२९।"

२-अधिदैवत-अभिभूत-समन्वयात्मिका 'भक्ति' लक्षणा उपासना से अनुप्राणित विविध प्रश्नों के समन्वय-समाधानात्मक-भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड का सिंहावलोकन--दृष्ट्या-दिग्दर्शन —

उपासना सगुणेश्वर से सम्बन्ध रखती है ?, अथवा निराकार व्यापक ब्रह्म से ?, उपासनाकाण्ड केवल माननीया बुद्धि की कल्पना है ?, अथवा इसका प्रकृति के साथ भी कोई नित्य सम्बन्ध है ?, प्राकृतिक उपासनायोग को सर्वप्रथम व्यावाहिकरूप किसने दिया ?, नित्य उपासनातत्त्व के आधार पर (भारतीय महर्षियों के द्वारा) आविष्कृत, पुष्पित एवं पल्लवित ईश्वरभावनामयी उपासना के विविधरूप क्यों होगए ?, उपासना और भक्ति एक ही तत्त्व है, अथवा पृथक् पृथक् ?, भारतीय सभ्यता के आरम्भ में देवयुग में उपासना का क्या स्वरूप था ?, वेदकालोपलक्षित सत्ययुग में उपासना का क्या स्वरूप रहा ?, पुराणकालोपलक्षित त्रेतायुग में उपासनामार्ग ने क्या स्वरूप धारण कर लिया ?, दर्शनकालोपलक्षित कलियुग की भक्ति किस स्वरूप में परिणत होगई ?, प्रतिमापूजन वेदादिशास्त्र सम्मत है, अथवा निरी--पौराणिकी कल्पना ?, ये ही कुछ एक सामान्य प्रश्न हैं, जो कि उपासनातत्त्व के अन्वेषक के सामने सर्व–

३—वसु–रुद्र–अदित्य भेदभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानी देवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि सभी देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठि हैं। भूः भुवः, स्व, महः, जनत्, तपः,–सत्यं ये सातों भुवन वाग्धरातल में हीं समर्पित हैं। (इसप्रकार जो वाक्तत्त्व चराचर में व्याप्त होरहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए हमारी पुकार सुनें)।

—"तै० ब्रा० २।८।८।५।"

४—"अक्षरमिति (अ[१]–क्ष[२]–रम्[३]–इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।३।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्त्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए) हमारी प्रार्थना सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८"।

५—जो औपनिषद् पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्म्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्तपुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश–स्वरूप उसी (चिद्घन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूँ।

—श्वेता० उ० ६।१८।"।

प्रथम उपस्थित होते हैं। साथ ही यह भी निश्चत है कि, जबतक अन्वेषक उपासना से सम्बन्ध रखने वाले उक्त बहिरङ्ग प्रश्नों का सम्यक् समाधान प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उपासना के मौलिक स्वरूप की ओर उसका अन्तरात्मा आकर्षित भी नहीं होसकता। इसी आवश्यक-विप्रतिपतिपति के निराकरण के लिए उपासना के अन्तरङ्गस्वरूप-परिचय से पहिले उपासनाप्रेमी पाठकों के सम्मुख उपासना-सम्बन्धी उक्त बहिरङ्ग प्रश्नों का समाधान रखना आवश्तक समझा गया, एवं इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उक्त प्रश्न-समाधानात्मक पूर्वखण्ड लिपिवद्ध किया गया।

३-पूर्वखण्ड-निरूपित भक्तियोग का स्वरूप-निष्कर्ष, एवं तन्निबन्धना कतिपय-प्रासङ्गिकी विशेषताओं का स्वरूप-समन्वय, एवं कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगत्रयी में से भक्तियोग का ही श्रेष्ठत्त्व-प्रतिपादन—

पूर्वखण्ड में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, यदि पाठक अथ से इति पर्य्यन्त उन्हें देखने का कष्ट करेंगे, तो निःसन्देह उन्हें यह स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि, ज्ञान-कर्म्मयोग की भाँति उपासनापरपर्य्यायिक, ईश्वरप्रणिधानलक्षण भक्तियोग भी मानवजीवन को सफल बनाने में एक अन्यतम उपाय है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में यह भी विश्वास है, कि ज्ञानयोग हो, अथवा कर्म्मयोग, जबतक उसमें ईश्वरी-यभावनारूप भक्तिभाव का समावेश नहीं कर लिया जाता, तबतक उन दोनों हीं योगों का एक शुष्क-स्थाणु से अधिक कोई मूल्य नहीं होसकता। ज्ञानकर्म्म की उच्चभूमिकाएँ भले ही ज्ञानी, एवं कर्म्मठ को मुक्त करदें, परन्तु भक्तिभाव से विरहित ये उच्चनिष्ठाएँ हमें उस आनन्दचर्वणा से तो सर्वथा वञ्चित ही रखती हैं, जो कि आनन्दचर्वणा माननीय मन को सतत रसाप्लुत बनाए रखती है। लौकिक ज्ञान हो, अथवा शास्त्रीय-ज्ञान। लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय कर्म्म। यदि इनमें श्रद्धायुक्त मत्परलक्षण भक्तियोग का समावेश कर दिया जाता है, तो इसी जीवन में हम उस शान्त आनन्द के अधिकारी बन जाते हैं, जिसकी कि भक्तिशून्य ज्ञान-कर्म्मवादी मृत्यु के पश्चात् कामना किया करते हैं।

४-भक्तिविरहिता शास्त्रनिष्ठा का नैरर्थक्य, एवं भक्तिवञ्चित कर्म्मयोग, तथा ज्ञानयोग की शुष्कभावनिबन्धना कुण्ठावृत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तद्व्यर्थता—

सचमुच उन्हीं शास्त्रनिष्ठों की शास्त्रनिष्ठा सफल है, जो शास्त्र के अक्षर अक्षर में गोविन्दरस-प्रमोदमधुरा माधुरी का रसास्वादन कर रहे हैं। उन्हीं कर्म्मठों का जीवन धन्य माना जायगा, जो शास्त्र-विहित वर्णधर्म्मानुकूल अधिकृत कर्म्मों में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहते हुए अपने प्रत्येक कर्म्म में उसे ओतप्रोत देखेंगे। उन्हीं ज्ञानियों की योगसाधना सफल कही जायगी, जो उद्धव की भाँति अपनी योग-साधन की उच्चभूमिका में भी उसी परमात्मतत्त्व में आत्मसमर्पणभाव सुरक्षित रख सकेंगे। यदि एक शास्त्रनिष्ठ शास्त्राभिमान में, कर्म्मनिष्ठ कर्म्माभिमान मे, एवं ज्ञाननिष्ठ योगाभिमान में पड़कर उस मध्यस्था भक्तिनिष्ठा की उपेक्षा कर देगा, भगवद्-भावना से वियुक्त रहेगा, तो उसकी शास्त्र-कर्म्म-ज्ञान-निष्ठाएँ सभी कुछ व्यर्थ ही सिद्ध होगीं।

५–अपठित–यथाजात-प्राकृत भी सहज मानवों की जन्मान्तरीय–संस्कारानुबन्धिनी लोकोत्तरा भक्तिनिष्ठा के समतुलन में शास्त्रनिष्ठ ज्ञानी–कर्म्मठ तथा योगी का भी अवरत्व-संस्थापन—

ठीक इस के विपरीत भगवदनुग्रहवश (जन्मान्तरीय–सुसंस्कारों के अनुग्रह से) यदि एक यथाजात अपठित भी पुरुषोत्तम पुरुषोत्तम की भावना में तन्मय रहेगा, तो वह उस शास्त्रभक्त की अपेक्षा, (जिसने अपने जीवन में बड़े बड़े पोथों का पारायण कर डाला है, जो पद पद पर शास्त्र की दुहाई देता रहता है), उस कर्म्मठ की अपेक्षा (जो अपने यज्ञादि कर्म्मानुष्ठों में सामने किसी को श्रेष्ठ नहीं समझता) उस ज्ञाननिष्ठ योगी की अपेक्षा (जिसने कि घोर घोरतम तपश्चर्य्या के द्वारा अपना शरीर काँटा बना–लिया है, जो कि सिद्धिगर्व में उन्मत्त है) कहीं श्रेष्ठ माना जायगा। शास्त्रमर्म्मज्ञों की दृष्टि में महामूर्ख, कर्म्मठों की दृष्टि में महा आलसी, योगियों की दृष्टि में सर्वथा हीनशक्ति भी प्रतीत होने वाला वह भक्त-वर लक्षीभूत उस भगवत्तत्त्व के सान्निध्य से क्या से क्या बन जाता है ?, इस आलौकिक रहस्य को पोथी का पण्डित नहीं जान सकता, कदापि नहीं जान सकता।

६–अशिक्षित, किन्तु भक्तिभावना-पूरित परमभागवत भक्त के संस्पर्शमात्र से लोक-सामान्य का अभ्युदय, एवं शास्त्राभिमानी कर्म्मठ, तथा ज्ञानी के समतुलन में तद्भक्त का महान् वैशिष्ट्य प्रतिपादन –

वह उन शास्त्रज्ञों की भाँति गला फाड़ फाड़ कर उपदेश देना नहीं जानता, यह सच है। उन कर्म्मठों की भाँति ज्योतिष्टोम–अयन–राजसूयादि यज्ञों का आडम्बर करना नहीं जानता, यह भी सच है। उन योगियों की भाँति मन्त्रसिद्धि के प्रयोगद्वारा वह आर्त्त प्राणियों का प्रत्यक्ष में कोई लाभ करता नहीं दिख-लाई देता, यह भी ध्रुव सत्य है। परन्तु इससे हुआ क्या । इस परम भागवत का संसार में रहना ही अभ्युदय का अन्यतम कारण है। इसकी बालभाषा वेदान्तियों के उन गहन उपदेशों से भी गहन, किन्तु सर्वबोधगम्य है। इसका आचरण ही महान् उपदेश है। इसकी दृष्टि ही महान् परप्रदान है। इसके शरीर से स्पर्श कर व्याप्त होने वाला वायु ही हमारे अनेक जन्मों के पातक भस्मसात् करने की शक्ति रखता है। पागल दुनिया इसे पागल समझकर इसका तिरस्कार करती रहती है। उधर यह पागल अपने पागलपन से ही मृत्यु की ओर अग्रेसर होने वाले शास्त्राभिमानी पागलों का त्राण किया करता है। विधिका कैसा मङ्गलमय विधान है ?।

७–शास्त्रनिष्ठानिबन्धमात्र से शास्त्रीय पथों का अनुकरण-प्रयास, भक्तिनिष्ठा की सर्व-मूर्द्धन्यता, भक्तिशून्य यच्चयावत् वाग्विजृम्भणों की आत्यन्तिक-निरर्थकता, एवं शास्त्रजाल–समाकुलित मानव के परित्राण के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा, तथा गीता के द्वारा तत्समाधान–समन्वय—

सच जानिए, यदि भगवान् अपने गीताशास्त्र में "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ने कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" यह घोषणा न कर जाते, तो इन पङ्क्तियों का लेखक यह जन इन आडम्बरों को कभी का स्मृतिगर्भ

में विलीन कर चुका होता । अन्ततोगत्त्वा इन पोथों से होगा क्या ?, पुनः पुन: यही सत्यविचार उदित होते रहते हैं । और वह क्षण सचमुच भगवान् की एक अपूर्व देन ही मानी जायगी, जिस दिन **"नामैवैतत्"** के रहस्यबोध के साथ साथ इस शास्त्रकाल से पीछा छूटेगा । वे शास्त्र किस काम के, जो हमें लक्ष्य से वञ्चित कर देते हों । वह पंडिताई किस काम की, जो हमें अभिमानी बनाकर हमारा सर्वनाश कर डालती हो । हमारा वह लम्बा चौड़ा उपदेश किस काम का, जिसके कुचक्र में पड़कर हमें अपने आत्मा के साथ साथ दूसरों को भी धोका देना पड़ता हो । हमारी वह लेखनशक्ति किस काम की, जो मानवसमाज में बुद्धि-भेद उत्पन्न कर उन्हें अभिनिविष्ट बना डालती हो । कबतक हम बीभत्स शास्त्रों से संसार का नाश करते रहेंगे ?, धर्म्म-मत-ईश्वर-आस्तिक-नास्तिक-शैव-वैष्णव-शाक्त आदि के मस्तक कबतक कन्दुकक्रीड़ा के साधन बने रहेंगे ? ओह ! यह कैसा ढकोसला, यह कैसी भीषण भ्रान्ति, प्रलयकाल से समतुलित यह कैसा गर्ज्जन-तर्ज्जन ?, मानसमाज की स्वार्थपूर्ण यह कैसी बर्बरता ?, यह शास्त्र, यह वेद, यह पुराण, यह दर्शन, यह बाइबिल, यह कुरान, यह जन्दावस्ता, भगवन् ! रक्षा कीजिए, इन नाशकारी महायन्त्रों से । कबतक हम इन वारुणपाशों में फँसे रहेंगे ?, कब हम हम, न रहेंगे, एवं आप आपन रहेंगे, कब तू तू-मैं-मैं का संघर्ष मिटेगा, कब विश्व उस शान्ति के शान्त-पावन-अचिन्त्य क्रोड में स्थान पावेगा ? भगवन् कहिए ! न—कद ? कदा !! कदा !!!

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ! ॥

८—समाधान की स्वीकृति, 'नाभक्ताय कदाचन' का संस्मरण, शास्त्रनिष्ठा से वञ्चित, तथा शास्त्रीय पथों के निन्दक आज के ये भक्त, और उनके भक्तिपथों की आपातरमणीयता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

समाधान ठीक है, परन्तु अधिकारी दुर्लभ हैं । इसीलिए तो उक्त समाधान पर भगवान् ने **"नाभक्ताय कदाचन"** यह नियन्त्रण लगा दिया है । नहीं, तो रूपान्तर से उक्त समाधान के ही अनुयायी वर्त्तमानयुग में अधिक मिलेंगे । भारतवर्ष को ही लीजिए न । आज ७५ प्रतिशत महापुरुषों के श्रीमुख से शास्त्रादि की निन्दा सुनने का ही सुअवसर मिलेगा । क्या ऐसे ही महापुरुष भक्त माने जायँगे ?, कदापि नहीं । यह भ्रान्ति न कर बैठना । क्योकि इस का नाम है-**"उपासना"** । उपासना साधन की अपेक्षा रखती है । और साधनदृष्टि से शास्त्रादि भी उच्चभूमिका में हीं प्रतिष्ठित हैं । हाँ, यदि शास्त्ररूप साधन पर ही जीवन-लीला समाप्त करदी, साध्य के साथ मनोयोग नहीं किया, तो अवश्य ही शास्त्रनिष्ठा

९-अनेकजन्मानुगता शास्त्रसिद्धा ज्ञान-कर्म्म-निष्ठासमन्विता कर्म्म-ज्ञानयोगनिष्ठाओं के अनुग्रह से ही उपलब्धा इहजन्मानुगता भक्तियोगनिष्ठा का पावन संस्मरण, एवं भक्तियोग के आधारभूत 'उपासना' तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का समन्वय-प्रयास—

जिन महापुरुषों के भक्तिभावनामय अपूर्व चरित्र हमें सुनने का सौभाग्य मिलरहा है, विश्वास कीजिए, यह उन की अनेक जन्मों की शास्त्रनिष्ठा का ही फल है-"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"। आप उस के सन्निकट चले जायँ, यही तो उप-आसन है। परन्तु चले कैसे जायँ, जब कि मध्यमें अविद्या का आवरण आरहा है। पहिले उस आवरण को हटाना आवश्यक होगा। और उस के लिए एक दूसरे आवरण का आश्रय लेना पड़ेगा। वह आवरण होगा शास्त्रीय-मार्ग का अनुष्ठान, फिर वह ज्ञानात्मक हो, अथवा कर्म्मात्मक, यह अधिकारी की योग्यता पर निर्भर है। यह नवीन आवरण पुराने अविद्यावरण को तो हटाएगा ही, साथ ही काम होजाने पर अपने आपभी हट जायगा। "हटाना" इस का मुख्य व्यापार है। मुख्य धर्म्म है। हटा वही सकता है, जो स्वयं भी हटना जानता है। जो स्वयं हटना नहीं जानता, वह अन्य को क्या हटावेगा ?। गतितत्त्व ही स्थिति पर आघात कर सकता है। एक स्थितिभाव दूसरे स्थितिभाव को कभी गतिरूप में परिणत नहीं कर सकता। चलता हुआ एञ्जिन ही स्थिर डब्बों को एक स्थान से अन्य स्थान पर ढकेलने में समर्थ होता है। जिस समय एञ्जिन अपने चलभाव को छोड़ देता है, उस समय वह उन अचल डब्बों को भी स्थानचलित करने में असमर्थ होजाता है. तात्पर्य्य जो स्वयं हटेगा, वही दूसरे को हटा भी सकेगा। विज्ञान के इस सामान्य सिद्धान्त के अनुसार वह दसरा गतिधर्म्मा आवरण जहाँ अपने गतिधर्म्म से उस स्थितिधर्म्मा प्रथमावरण को हटाता है, वहाँ उस के साथ साथ वह स्वयं भी अपने गतिधर्म्म से हट जाता है। निरावरण आकाश उदरभाव से शून्य होजाता है। यह, और वह मिल जाते हैं। यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है, जो कि इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है, एवं जिस उद्देश्य को कि आज उपासनावादी एकान्ततः भुला चुके हैं।

१०-उपासनाकाण्डानुगत उपासक, उपासनासाधन उपासनासाधक-त्रयी की स्वरूप-मीमांसा से अनुप्राणित चिन्तन-

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि, इस उपासनाकाण्ड में कौन तो उपास्य है, कौन उपासक है, कौन उपासना का साधन है, कौन स्थिर आवरण है, एवं कौन चल आवरण है ?। इन्हीं प्रश्नों के समाधान पर उपासना का स्वरूप अवलम्बित है। लौकिक उपासनामार्ग को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, पहिले शास्त्रीय उपासनामार्ग के सम्बन्ध में हीं उक्त प्रश्नों का विचार कीजिए।

११-शास्त्रीय-दृष्टि से उपासनातन्त्रत्रयी के चिन्तन का समन्वय-प्रयास, एवं 'तमेव-विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय' का रहस्यात्मक-संस्मरण—

शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वर उपास्य है, जीवात्मा उपासक है, एवं जगत् उपासना का साधन है। उस ओर ईश्वर प्रतिष्ठित है, इस ओर जीव प्रतिष्ठित है, मध्यमें जगच्चक्र परिवर्त्तित होरहा है। ईश्वर निरावरण है, जीव भी स्वस्वरूप से निरावरण है, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित जगत् भी स्वस्वरूप से निरावरण ही है।

विश्व यद्यपि अपने स्वरूप से तो निरावरण ही है, परन्तु जो इस से घनिष्ठ मैत्री कर लेता है, उस के लिए यह सावरण भी बन जाता है। जहाँतक जीव को अपने स्वरूप की रक्षा के लिए जगत् का संसर्ग अपेक्षित है, वहाँतक तो इस के लिए जगत् निरावरण रहने के साथ साथ उपकारक भी बना रहता है। परन्तु स्वरूप रक्षा की स्वाभाविक (प्राकृतिक) मर्य्यादा की उपेक्षा कर यदि जीव विशेषरूप से इस में संसक्त हो जाता है, तो वही निरावरण जगत् इस के लिए न केवल सावरण ही बन जाता, अपितु स्वरूपविघातक भी बन जाता है। और इसी संसक्तावस्था में आकर अंश जीव अपने उस अंशी निरावरण के ऐश्वर्य्य से वञ्चित होता हुआ दुःखार्णव में निमग्न होजाता है। इस दुःखार्णव से त्राण पाने का, साथ ही उस त्राता के अनुग्रह प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि, जीव अपने उस (ईश्वरीय) त्राता के स्वरूप को समझे-**"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"**,।

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥

१२-प्रक्रान्त-'उपासना स्वरूपपरिचय' के सम्बन्ध में--

उसे जाना कैसे जाय ?, इस का एकमात्र उपाय है—"उपासना"। उपासना कैसे की जाय ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—"उपासनास्वरूपपरिचय"।

१३-आवरणस्वरूप-दिग्दर्शन, स्वस्वरूपानगति से आवरण--भाव से असंस्पृष्ट ईश्वर-जीव-जगद्भाव, एवं आनन्दमय उपास्य का स्वरूप-संस्मरण—

ध्यान रहे, न तो ईश्वर आवरण का कारण है, न स्वयं जीव ही आवरण का कारण है, एवं न जगत् ही। यदि जगत् आवरण, एवं तन्मूलक दुःख का कारण होता, तो जगत् के पर्व पर्व में व्याप्त स्वयं जगदीश्वर सदा ही दुःखी रहते। परन्तु (शब्दशास्त्रप्रदत्ता शास्त्रीयदृष्टि के आधार पर) हम देखते, एवं सुनते आए हैं कि, जगन्नियन्ता नित्यविज्ञान-आनन्दघन है। यही क्यों, वैज्ञानिकाचार्य्यों नें तो जगत् को उसी आनन्दघन ब्रह्म का अंश मानते हुए इस की आन्दमयता ही सिद्ध की है। और यह सत्य भी है कि, कारणरूप ब्रह्म जब सच्चिदानन्दघन है, तो तत्कार्य्यरूप जगत् को कारणधर्म्मों से कैसे पृथक् किया जासकता है ?।

१४-आनन्दघन अंशी ईश्वर के अंशरूप जीवात्मा की आनन्दमयता का स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन उपासनातत्त्व, एवं शाश्वतकामना का संस्मरण, तथा तदनुबन्धी अर्कों से अनप्राणित आनन्दविस्तार—

यही अवस्था ईश्वरांशभूत जीववर्ग की है। आनन्दमय ब्रह्म का अंश जीव नित्यानन्दघन है, आनन्द ही उस का जीवन है, यह तो शास्त्रीय-दृष्टि के साथ साथ अनुभवदृष्टि से भी सिद्ध है। कोई भी प्राणी कभी

भूलकर भी दुःख की कामना नहीं करता। आनन्दकामना ही इस की शाश्वत--कामना है। यदि दुःखमात्रा भी इस के उक्थ (मूल) में समाहित रहती, तो कभी कभी आनन्दार्कों की भाँति इस में से दुःखार्क भी निकलते। जब इसमें दुःखार्क नामकी काममयी रश्मियों का हम आत्यन्तिक अभाव पाते हैं, तो इसे कैसे दुःखमय माना जासकता है ?। इसप्रकार जीववित्ति का भी स्वस्वरूप से निरावरणत्त्व, एवं नित्यानन्दघनत्त्व ही सर्वात्मना सिद्ध होजाता है।

१५-ईश्वर-जीव-जगत्-भावानुबन्धी त्रित्त्व का संस्मरण, तीनों की नित्यानन्दरूपता, एवं आकस्मिक 'दुःख' पदार्थ के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति, तथा तत्-स्वरूपान्वेषण-प्रयास—

ईश्वर-जगत्-जीव तीनों की समष्टि के अतिरिक्त चौथी वस्तु का सर्वथा अभाव, एवं तीनों हीं अपने अपने प्रातिस्विकरूपों से निरावरण, एवं आनन्दमूर्त्ति। फिर यह आवरण, एवं तज्जनित दुःख नामक पदार्थ कहाँ से, कैसे, क्यों, कब, आगए ?, सचमुच अध्यात्मशास्त्र की यह सब से बड़ी जटिल समस्या है। बुद्धयनुसार अन्वेषण करने के पश्चात् हमें तो इस सम्बन्ध में ये ही उद्‌गार प्रकट करते पड़ते हैं कि, सृष्टि से आरम्भ कर आजतक उत्पन्न होने वाले महा महा विद्वान् भी कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं देसके, और नाहीं भविष्य में ही इस का कोई उचित उत्तर मिल सकेगा।

१६-आस्तिक आचार्य्यों के शास्त्रीय समाधान से अनुगत अविद्यात्मक आवरण, तन्मूलक दुःख का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं दुःखानुगत स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण, तथा सहजदृष्टिपथानुगमन-प्रयास—

आस्तिक आचार्य्यों का यह उत्तर कि—"अविद्या के आवरण से ही दुःखोत्पत्ति होती है" कोई महत्त्व नहीं रखता। पहिले तो यही प्रश्न है कि, ईश्वर जब नित्यविज्ञान (विद्या) घन है, तो अविद्या आई कहाँ से ?। जब जगत्-एवं जीव दोनों का मूलकारण विद्यात्मक ईश्वर है, तो जगत्-जीव में भी अविद्या का निर्गम कैसे सम्भव हुआ ?। यदि यह मान लिया जाय कि, ईश्वर में तो अविद्या नहीं थी, परन्तु जगत्-जीव में अविद्या उत्पन्न होगई। यदि यह बात है, तो ईश्वर को सबका कारण मानना कैसे संगत बना ?। यदि थोड़ी देर के लिए अविद्या को सर्वथा पृथक् मान लिया जायगा, तो ईश्वर की व्यापकता कैसे सुरक्षित रहेगी ?। यदि काल्पनिक आचार्य्यों की बात मानते हुए जगत् का अस्तित्त्व ही न मान कर पीछा छुड़ाने का प्रयास किया जायगा, तो फिर उस नास्तिक के तर्क का खण्डन किस आधार पर किया जायगा, जोकि जगत्-शून्यवाद के साथ साथ न तो विश्वनियन्ता ईश्वर की ही सत्ता मानता, एवं न शरीरातिरिक्त नित्य जीवात्मसत्ता ही स्वीकार करता। बचाव के लिए यदि जगत् को कल्पना की जाती है, तो फिर परमात्मा-जीवात्मा के मानने की भी क्या आवश्यकता रह जाती है ?। ये ही कुछ एक ऐसी अड़चनें हैं, जिन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि, उक्त जटिल समस्या का निराकरण आजतक किसी से ठीक ठीक नहीं होसका है। यही नहीं, हमें तो कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि, बुद्धिवाद, किंवा शास्त्रवाद को एक ओर रख कर यदि अपनी यथाजात ग्राम्यदृष्टि से उक्त समस्या पर विचार किया जाता है, तो कुछ विशेष सफलता मिल सकती है। आइए, एकबार उसी दृष्टि से मीमांसा करने की उचित एवं अनिवार्य्य--धृष्टता कर ही ली जाय।

१७–दुर्बोध्यतमा–शास्त्रीय–मान्यताओं के प्रति तटस्थता, एवं सहजभावनिबन्धना प्राकृतदृष्टि से अनुप्राणित सहज–समाधान का स्वरूपान्वेषण–प्रयास—

जो शास्त्र ईश्वर-जगत्-जीव, तीन तत्त्व मानता हो, तीनों को निरावरण मानता हो, तीनों को नित्यानन्दमूर्त्ति मानता हो, शास्त्र के दुर्गम दुर्ग को प्रणाम कर अपने साधारण, अशिक्षित, प्राकृतिक अनुभव से विचार कीजिए कि, हम क्या हैं ?, और यह पुरोऽवस्थित अग्नि–पवन–गगन–मेघ–सरित्-तड़ाग-महीधर-सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्र–ओषधि–वनस्पति–कृमि–कीट-पशु–पक्षी–मनुष्यादि उच्चावच विविध भावापन्न वस्तुओं से नित्य समाकुलित–दृश्य क्या है ?।

१८–कारणसापेक्षतामूला कार्य्योत्पत्ति, मानवोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न क्रमधाराएँ, एवं क्रमसिद्धा पारम्परिकी कार्य्यकारणभावनिबन्धना सोपानपरम्परा का स्वरूप-दिग्दर्शन–प्रयास—

साधारण से अनुभव पर भी हमें यह तो मान हीं लेना पड़ेगा कि, कार्य्य की उत्पत्ति अवश्य ही कारण-सापेक्ष है। बिना कारण के कोई भी कार्य्य व्यक्तरूप में नहीं आसकता । सम्भव है, हम हमारी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाने में समर्थ होसकें। अनुमान शब्द का प्रयोग इस लिए करना पड़ रहा है कि, हमनें सामान्य दृष्टि से जिस पितृदम्पती को अपना कारण मान रक्खा है, वस्तुत: ये माता पिता हमारे कारण नहीं है। अपितु माता का शोणित, एवं पिता का शुक्र ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, एवं अन्नभोजन हमारी स्थिति का कारण है। सचपूँछा जाय तो पिता का शुक्र ही हमारा कारण है। शुक्र अन्न का ही रूपान्तर है, अत: अन्न कारण है। अन्न ओषधियों का रूपान्तर है, इसलिए ओषधियों कारण हैं। ओषधियाँ पृथिवी के रूपान्तर हैं, अत: पृथिवी कारण है । पृथिवी जल का, जल अग्नि का, अग्नि वायु का, वायु आकाश का कारण है। आकाश का कारण कौन ?, यहाँ आकर हमारी दृष्टिमर्य्यादा समाप्त होजाती है। ऐसी परिस्थिति में हमें यह अनुमान लगाना पड़ता है कि, कोई एक ऐसा नित्य तत्त्व है, जो आकाशरूप से सब का कारण बना हुआ है। वही अनुमेय तत्त्व आत्मा, ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से प्रसिद्ध है— 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'।

१९–परम्परा से अनुप्राणित नित्यसिद्ध कारण का स्वरूप संस्मरण, एवं दुःख स्वरूप-विचारोपक्रम—

इसप्रकार परम्परया हमें किसी नित्य कारण पर ही विश्राम करना पड़ता है। इसी नित्यकारणता का अन्वेषण करते करते सर्वप्रपञ्च के ईश्वर–जीव–जगत् ये तीन प्रपञ्च हमारे सामने उपस्थित होजाते हैं। हम, पुरोऽवस्थित दृश्य प्रपञ्च, हमारा और दृश्य प्रपञ्च का आदि कारण, ये ही तीन वर्ग क्रमशः जीव, जगत्, ईश्वर नाम से व्यवहृत हुए हैं। अब आवरण, एवं तत् सम्बन्धी दुःख का विचार कीजिए।

२०–हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, नामक दुःखप्रवर्त्तक चार योगों का उदाहरणात्मक स्वरूप–समन्वय, तत्प्रवर्त्तक 'प्रज्ञापराध', तन्निबन्धन–समत्त्वयोग-स्खलन, एवं तदनुप्राणिता दुःखपरम्परा का स्वरूप–समन्वय—

तीनों विवर्त्त आनन्द मय हैं, जैसे यह सिद्धान्त अव्यर्थ युक्तिवाद पर प्रतिष्ठित है, एवमेव आवरण और दुःख का अनुभव भी प्रत्यक्षसिद्ध है। दुःख होता अवश्य है, दुःख नाम का पदार्थ काल्पनिक हो, अथवा

वस्तुतत्त्व । परन्तु दुःख के अस्तित्व में किसी को सन्देह नहीं होसकता । इसकी उत्पत्ति का कारण यही विदित होता है कि, हम अपने जीवन–साधक जगत् के पदार्थों की उपयोगिता में अपनी अज्ञता से कुछ असावधानी कर बैठते हैं । देखिए न, आनन्दलक्षणा तृप्ति का साधक अन्न भी कभी कभी सेवन की असावधानी से दुःख का कारण बन जाता है । हमें हित–मित भोजन करना चाहिए । परन्तु अपनी अज्ञता से हम हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग, अयोग, में से किसी एक के अनुगामी बनते हुए सर्वथा काल्पनिक दुःख को सत्य का रूप दे डालते हैं । परिणाम इस का यही होता है कि, अन्नग्रहण करने वाला इन्द्रियाकाश (इन्द्रिय–धरातल) दूषित होजाता है, यही दुष्टभाव है । इन्द्रिय 'ख' का (इन्द्रिय विवरों का दुष्ट बन जाना ही 'दुःख' है । भोजन करना चाहिए आधा सेर. किया पाव भर, यही हीनयोग है । भोजन करना चाहिए आधा सेर प्रकृत्युनगत अन्न, खागए आधा सेर प्रकृतिविरुद्ध अन्न, यही मिथ्यायोग है । भोजन करना चाहिए आधासेर, कर गए अधिक, यही अतियोग है । सायं प्रातः भोजन करना चाहिए, कुछ भी भोजन नहीं किया, यही अयोग है । न केवल रसनेन्द्रिय–सम्बन्धी भोजन के सम्बन्ध में ही, अपितु सभी ऐन्द्रियक विषयों के सम्बन्ध में चारों दोषों का समन्वय समझिए । ये ही चारों भाव उक्त दुःख के कारण बनते हैं । इसी दोषसमष्टि को 'प्रज्ञापराध' कहा जाता है । यह हमारा दोष है । हमारा नहीं, हमारे मन का ।

२१–संस्कार से संस्कृत मानव के विद्यमान मन से अनुप्राणिता आसक्ति का उपोद्बलक बुद्धितन्त्र, तन्निबन्धना दुःखप्रवृत्ति, एवं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' का संस्मरण—

हम तो जीवात्मा हैं । उसमें दोष का क्या सम्बन्ध ? । चान्द्रमन ही इन्द्रिय-वशवर्त्ती बन कर प्रज्ञापराध कर बैठता है । सच पूँछा जाय, तो इस में मन का भी क्या दोष । यह दोष तो उस बुद्धि का है, जो मन को अपने सञ्चालन में रखती हुई उसे सदसद् विवेक से वञ्चित कर देती है । समझ (बुद्धि) ही सदसद्विवेक के द्वारा सर्वोद्धार का कारण बनती है, एवं समझ ही अविवेक के द्वारा मन से प्रज्ञापराध करवाती हुई सर्वनाश का कारण बनती है । बुद्धि यदि स्वस्वरूप से विकसित है, तो हमारा मन हितकर–रुचिकर पदार्थों का विवेक करने में समर्थ होजाता है । ऐसा बुद्ध्यनुगत जन कभी तत् में अतत् की, अतत् में तत् की, एवं सत् में असत् की भ्रान्ति नहीं कर सकता । इस सदसद्विवेक से तत्त्वदर्शक यह मन जगत् के उन्हीं आवश्यकतम भोगों का अनु–गामी बनता है, जो कि भोग जीवनस्थिति के लिए आवश्यक होते हैं । गीताशास्त्र का भी चरम लक्ष्य यही है कि, दुःख का कारण न संसार है, न तुम हो । अपितु तुम्हें तुम्हारी समझ ही दुःख देती है । तुम अपनी समझ को इन्द्रियानुगत मन की अनुचरी बना डालते हो । मन के अधिकार में सीमित बुद्धि मन के स्नेह गुण से अपने स्वाभाविक अनासक्तिभाव से वञ्चित होजाती है । सदसद्विवेक नष्ट होजाता है । जगत् भोगों को कृतार्थ न समझ पुरुषार्थ मान बैठती है । एवं यही दुःख का मूलकारण है । इस से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"

२२–बुद्धि के दोष से समुत्पन्ना दुःखपरम्परा का लौकिक- उदाहरणों के माध्यम से स्वरूप–दिग्दर्शन—

बुद्धि ठीक है, तो सब कुछ व्यवस्थित है । यदि बुद्धि विकृत है, तो सबकुछ नष्ट है । यही विकृति-भाव आगे जाकर बुद्धिनाश का कारण बन जाता है, एवं बुद्धिनाश ही अन्तन्तोगत्वा सर्वनाश का कारण बन जाता

है–'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। बुद्धि क्यों बिगड़ती है, इस का उत्तर उसी से पूँछिए। बुद्धि बतलाएगी कि, आरम्भ में जब मेरा सेवक मन इन्द्रियों के द्वारा भौतिक विषयों में प्रविष्ट होता था, तो मुझे एकप्रकार से आनन्द मिलता था। इसी आनन्द के प्रलोभन में पड़कर मैं समय समय पर मन के भोगों में सहायक बनती रहती थी। मुझे यह विदित नहीं था कि, मेरी असावधानी से मुझ से ही शक्ति प्राप्त कर यह मन मेरे स्वरूप को ही आवृत कर देगा। आरम्भ की असावधानी का फल मुझे यही भोगना पड़ा कि, तुमने विषयसंस्कार लेपरूप जिन आवरणों से, अपने आपको आवृत किया, उनके आगमन से मेरा स्वाभाविक विकास भी दब गया। मुझे यह स्मरण है कि, आरम्भ में कुछ दिनों तक, जबतक कि मुझ में थोड़ा बहुत विकास था, विवेक था, तुम्हें अनिष्ट कर्म्मों से अनिष्ट भोगों से, अनिष्टसंगों से, दूषित विषयासक्ति से समय समय पर रोकती रहती थी। परन्तु तुम मिन्नतें माँग माँग कर, 'एकबार, हाँ बस एक बार, फिर कभी नहीं करूँगा' इस चापलूसी में मुझे फँसा कर उधर प्रवृत्त होजाते थे। दुःख है कि, मुझे क्या मालूम था कि, एक दिन मुझे इस का बहुत बुरा परिणाम देखना पड़ेगा। यदि आरम्भ में ही मैं थोड़ी धमकी से काम लेती, तुम्हारी मिन्नतों की कोई पर्वाह न कर तुम्हारा नियन्त्रण करती रहती, तो आज यह दुर्दशा नहीं होती। तुम एकबार, एकदिन कहते कहते आगे बढते गए। ज्यों ज्यों तुम पर अधिकाधिक संस्कार लेप होता गया, त्यों २ मेरा रहा सहा प्रकाश भी आवृत होता होगया। और आज तो मैं तुम्हारी सेविका ही बन गई हूँ। आरम्भ में जब तुम कोई पतन का काम कर डालते थे, तो मुझे दुःख भी होता था, सोचने की शक्ति थी कि, यह बुरा हुआ, बुरा किया। परन्तु तुम्हारे सञ्चित आवरणों की कृपा से आज तो मेरी वह शक्ति भी जाती रही है। जिन अनिष्टकर्म्मों का किसी समय मैं विरोध करती थी, उन की प्रवृत्ति में दुःख का अनुभव करती थी, आज एक उस मद्यपी की भाँत बिना न च नुच के उन्हीं कर्म्मों में तुम्हारा सहयोग देने के लिए परवश बन गई हूँ, जो कि मद्यपी मद्यपान की चरमावस्थावस्था में पहुँच कर अपना सम्पूर्ण विवेक खोकर मद्यपान में ही आन्द मानता रहता है। कभी वह समय था कि, शास्त्रविरुद्ध कर्म्म से मेरा कलेजा काँप उठता था। परन्तु आज, न पूछो, मैं स्वयं शास्त्र की निन्दा करने में अपना गौरव समझ रही हूँ। शास्त्र, धर्म्म, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, सत्, असत्, आदि सभी आज मेरे लिए केवल ढकोसले ही रह गए हैं। मेरा एकमात्र यही कर्त्तव्य रह गया है कि, विषयवासना की तृप्ति के लिए, लौकिक–वैभवों की पूर्त्ति के लिए तुम जिस पतनमार्ग की ओर अग्रेसर होरहे हो, चुपचाप तुम्हारा अनुगमन करती रहूँ। और एकदिन तुम्हारे सर्वनाश के साथ साथ अपना अस्तित्त्व भी सदा के लिए मिटालूँ।

२३–दुर्दशाग्रस्त–दुःखार्त्त–अर्जुन–सदृश–मानवों का प्राचुर्य्य, दुःखपरित्राणोपायभूता भक्तियोग–निबन्धना शरणागति,–'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' मूला हृदयस्थात्मदेवतानुगता शरणागति का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं तदनुगत मानव का जन्मसाफल्य—

लोग समझते होगें, मेरी ही यह दुर्दशा हुई है। नहीं, संसार में अधिकांश प्राणी मेरे ही बन्धु मिलेंगे। अर्जुनों की क्या कमी है। कमी है उस कृष्णतत्त्व की, जो ऐसे विषम-अवसरों पर हम जैसे प्राणियों को बुद्धि-योग प्रदान कर हमारा उद्धार किया करता है। कृष्णतत्त्व को भी लाञ्छन लगाना प्रायश्चित्त का भागी बनना है। वह भी दूर नहीं है। यहीं, अन्तरात्मा में हीं तो वह बैठा हुआ है। परन्तु हमने कभी उसकी शरण में जाने का प्रयास ही नहीं किया। कभी हमारे मुख से-"**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां-प्रपन्नम्**" यह आर्त्त-वाणी नहीं निकली।

अर्जुन की भी तो किसी समय यही दशा होगई थी। उस को भी तो बुद्धिव्यामोह ने आ घेरा था। परन्तु अर्जुन सँभल गया, उसने कृष्णतत्त्व के हाथों अपने रथ की बागडोर सौंपदी। उस सारथि ने, उस विज्ञान (बुद्धि) सारथिने परिस्थिति सँभाल ली। क्यों नहीं हम भी अर्जुन की भाँत ही उस तत्त्व को अपना सारथि बना कर अपनी बिगड़ी बनालें ?। जब उस तत्त्व का **"मा शुच"** यह आदेश, यह दिव्य सन्देश शाश्वत काल से अनाहतनाद की भाँति, अटलसत्य रूप से नभोमण्डल में गूँज रहा है, तो क्यों नहीं प्रणतभाव से उस का अनुगमन कर लिया जाय। क्यों नहीं-उप-आसन भाव-प्राप्तिसाधिका उपासना का आश्रय ले लिया जाय। क्यों नहीं उन्मनावृत्ति को जलाञ्जलि समर्पित कर मन्मनाभाव को प्रतिष्ठा बना लिया जाय ?। और फिर इसके अतिरिक्त हमारे उद्धार का और उपाय बच भी क्या जाता है। उस अबुद्धिरूप अविधाबुद्धि के आवरण ने हीं तो इदं को अदः से पृथक् कर रक्खा है। क्यों नहीं बुद्धिरूपा विद्याबुद्धि के आवरण से इस अविद्यावरण को हटाकर इसे वह बना लिया जाय। केवल प्रणतभाव में विलम्ब है। वहाँ पहुँचने भर की देर है। **"ददामि बुद्धियोगं तं"** आशीर्वाद तो धरा ही रक्खा है। यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है। यही स्वरूप हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक है। यही रक्षा हमारा जीवन है। ऐसा ही जीवन जीवन है। यही परा शान्ति है। यही शाश्वत आनन्द है। यही पुरुष का परमपुरुषार्थ है। यही जन्मसाफल्य है। और यही उपासनातत्त्व का एक मात्र सर्वश्रेष्ठ चरम लक्ष्य है।

२४–आवरणमूलक दुःखों की परम्परा से मानव का परित्राण करने वाले सुप्रसिद्ध रहस्यपूर्ण 'अक्षरयोग' का स्वरूप-संस्मरण—

फिर वही आवरण हटाने की बात चल पड़ी। चलिए, इस समस्या का भी निराकरण कर लिया जाय। दुःखनिवृत्तिपूर्वक शाश्वत आनन्दघन कृष्णतत्त्व, किंवा ईश्वरतत्त्व की प्राप्ति करते हुए स्वयं भी तद्रूप से प्रस्फुटित होजाने के लिए समझ का सुधारना तो परम आवश्यक है। समझ बुद्धि है। विद्या (ज्ञान) इस का प्रातिस्विक रूप है। परन्तु इन्द्रियदास मन की कृपा से आने वाले संस्कारलेपबन्धनरूप अविद्यावरण ने बुद्धि के स्वाभाविक (प्राकृतिक) विद्याभाव को आवृत कर उसे अविद्यारूप बना डाला है। इसे हटाने के लिए किसी ऐसे अन्य आवरण को माध्यमिक बनाना पड़ेगा कि, जो इस अविद्यावरण को हटाता हुआ स्वयं भी हट जाय। वह आध्यमिक बनेगा प्राकृतिक योग के आधार पर आविष्कृत शास्त्रीय विद्याबुद्धियोग। शास्त्रीय विद्याबुद्धियोग का अर्थ है—"अक्षरयोग"।

२५–'ईश्वर-जीव-जगत्' तथा 'ईश्वर-जगत्-जीव'-रूपा विभिन्न स्थितियों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, तदनुगत पुरुष-प्रकृति-विकृति-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं जीव का पराप्रकृतित्व-समन्वय—

अक्षरयोग को थोड़ी देर के लिए छोड़िए, और पहले यह विचार कीजिए, कि स्थिर आवरण कौन है, एवं चल आवरण कौन है। आरम्भ में हमनें **ईश्वर-जगत्-जीव**, यह स्थिति बतलाई है, जोकि दृष्टिक्रम से, किंवा वैकारिक क्रम से सर्वथा ठीक है। परन्तु जब स्थिति की दृष्टि से इस विवर्त्तत्रयी का विचार किया जायगा, तो ईश्वर–जीव–जगत् यह क्रम मानना पड़ेगा। इस क्रम में जगत् मध्यस्थन रह कर जीव मध्यस्थ बन जायगा। यद्यपि सृष्टिक्रम की प्राकृतिक धारा के अनुसार पहिले ईश्वर का स्थान है, फिर जगत् का उद्भव है, सर्वान्त

में जीवसृष्टि का विकास है। परन्तु आत्मकला की दृष्टि से पहिला स्थान ईश्वर का, दूसरा जीव का, एवं तीसरा जगत् का है। एक ही आत्मा के पुरुष, प्रकृति, ये दो विवर्त्त माने गए हैं, जिन के कि स्पष्टीकरण की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। प्रकृति के अमृतप्रधान पर, मृत्यु, प्रधान अपर भेद से दो विवर्त्त हैं। इस प्रकार **अमृतमृत्युसममूर्त्ति पुरुष, अमृतप्रधाना मृत्युगर्भितपराप्रकृति, मृत्युप्रधाना अमृतगर्भिता अपरा-प्रकृति** भेद से एक ही आत्मा के तीन रूप होजाते हैं। ये ही तीनों आत्मरूप क्रमशः **ईश्वर-जीव-जगत्** की प्रतिष्ठा बनते हैं। पर-अपर प्रकृति को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अपने अमृतमृत्युरूपों से सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही "ईश्वर" है। सम ईश्वर के चिदंश को (प्रत्यगात्मा को) अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रखने वाला, अपराप्रकृतिरूप जगत् को बहिर्जगत्, एवं अन्तर्जगत् (शरीर) रूप से बाहिर की ओर वेष्ठित रखने वाला पराप्रकृतितत्त्व ही जीव है।

२६-ईश्वर, जीव, तथा जगत्, तीनों तन्त्रों का दैवत-आत्म-भौतिक-भावनिबन्धन स्वरूप-समन्वय, एवं प्रकृतिसिद्धा क्रमव्यवस्था का रहस्य-पूर्ण दिग्दर्शन—

चिदंश को अपने गर्भ में रखने वाला, आधिभौतिकरूप से जीवशरीर बनने वाला, एवं आधिदैविक रूप से ईश्वरशरीर बनने वाला अपराप्रकृतितत्त्व ही "जगत्" है। इस से भी यह भी सिद्ध होगया कि, पुरुष-प्रधान ईश्वरसंस्था, पराप्रकृतिप्रधान जीवसंस्था, एवं अपराप्रकृतिप्रधान जगत्संस्था, इन तीनों में (प्रत्येक में) हीं तीनों विद्यमान हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है। ईश्वरसंस्था आधिदैविक है, जीवसंस्था आध्यात्मिक-संस्था है, एवं जगत्संस्था आधिभौतिक-संस्था है। एवं उक्त प्रधानता अप्रधानता से तीनों का तीनों में भोग सिद्ध होरहा है। पुरुष वही आपका सुप्रसिद्ध मनोमय, अतएव ज्ञानमय **अव्ययतत्त्व है**। पराप्रकृति वही आपका सुप्रसिद्ध प्राणमय, अतएव क्रियामय **अक्षरतत्त्व है**। एवं अपराप्रकृति वही आप का सुप्रसिद्ध वाङ्-मय, अतएव अर्थमय **क्षरतत्त्व है**। इस दृष्टि से अब यों कहा जासकता है कि, अक्षर क्षरगर्भित अव्यय ईश्वर है, अव्ययक्षरगर्भित अक्षर जीव है, एवं अव्ययअक्षरगर्भित क्षर जगत् है। किंवा अध्यात्म (अक्षर) अधिभूत (क्षर) गर्भित अधिदैवत (अव्यय) ईश्वर है, अधिदैवत-अधिभूत-गर्भित अध्यात्म जीव है, एवं अधि दैवत अध्यात्मगर्भित अधिभूत जगत् है। इस निरावरण प्राकृतिक दृष्टि से ईश्वर-जीव-जगत् यह क्रम है।

२७-जगत्पाश से आबद्ध जीवात्मा का स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निवारक कर्म्मकाण्डार्थ, तथा ज्ञानकाण्डार्थ-समन्वय-प्रयास, एवं तत्सहयोगी भक्तिकाण्डार्थ का संस्मरण—

यदि जीव जगत्पाश में आसक्तिपूर्वक बद्ध होजाता है, तो जगत् ईश्वर और जीव के मध्य में आवरण-रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। और उस दशा में ईश्वर-जगत्-जीव यह क्रम होजाता है। इस क्रम को बदल कर पूर्वक्रम का आश्रय लेकर जीव का ईश्वर के समीप बैठ जाना हीं एकमात्र उपासना का मुख्य लक्ष्य है। अपने आध्यात्मिक अधिभूत को ईश्वर के अधिभूत के साथ मिला देना कर्म्मकाण्डार्थ है। अपने आध्यात्मिक अधिदैवत को ईश्वर के अधिदैवत के साथ मिला देना ज्ञानकाण्डार्थ है। एवं अपने आध्यात्मिक आध्यात्म को अधिभूत द्वारा ईश्वर के अध्यात्म के साथ मिला देना ही उपासनाकाण्डार्थ है। इसीलिए तो ज्ञान-कर्म्म-उपासना के वैज्ञानिक लक्षणों के सम्बन्ध में पूर्व प्रकरणों में क्रमशः अधिदैवत साधन, अधिभूत साध्य, अधि भूत साधन, अधिदैवत साध्य, अधिभूतसाधन इस वाक्यधारा का समावेश हुआ है।

२८-ईश्वर-जीव-जगत् की प्रत्येक की त्र्यात्मकता पर भी तीनों की दैवत-आत्म-भूत-प्रधानता का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के, भक्तियोगात्मक-उपासना-योग के, एवं कर्म्मयोगात्मक भूतयोग के चरम-फलों का स्वरूप-संस्मरण—

ईश्वर के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत अधिदैवत की प्रधानता से अधिदैवत ही कहलाएँगे। जीव के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत तीनों अध्यात्म की प्रधानता से आध्यात्मिक ही कहलाएँगे। एवं जगत् के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत तीनों अधिभूत की प्रधानता से आधिभौतिक ही कहलाएँगे। तीनों में अध्यात्म-लक्षण जीव ही उपासक है। इस की यह उपासना तीन प्रकार से सम्भव है। यह अधिभूत को साधन बनाता हुआ अधिदैवत ईश्वर के आधिभौतिक जगत् का वैभव प्राप्त करले, यह एक पुरुषार्थ है। यही कर्म्ममार्ग है। इस से जीवात्मा का ईश्वरीय क्षरविभूति पर आधिपत्य होजाता है। अधिदैवत को साधन बना कर यह अधिदैवत ईश्वर के आधिदैविक (अव्यय) के साथ समवलयभाव को प्राप्त होजाय, यह एक पुरुषार्थ है। यही ज्ञानमार्ग (गीतासिद्ध बुद्धियोगात्मक ज्ञानमार्ग) है। एवं अधिभूत को साधन बना कर अधिदैवत ईश्वर के आध्यात्मिक तत्त्व (अक्षर) के साथ सायुज्यभाव को प्राप्त करले, यह एक पुरुषार्थ है। यही उपासनामार्ग है। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का चरमफल है अव्ययरूप में परिणति। भक्तियोगात्मक उपासना-योग का चरमफल है-अक्षररूप में परिणति। एवं कर्म्मयोगात्मक भूतयोग का चरमफल है-क्षरभाव पर आधिपत्य।

२९-अव्यय-अक्षर-क्षर-भावनिबन्धन स्थिति-गति-भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं विद्या, और अविद्या भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ सर्वथा स्थिर है, क्षर अर्थप्रधान बनता हुआ सर्वथा स्थिर है। मध्यस्थ क्रियाप्रधान अक्षर ही गतिमान् है। यही अक्षर जीवात्मा का स्वरूप समर्पक बना है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। अक्षर ही उपासना का मुख्य लक्ष्य है-"लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि"। हमारा मन क्षरप्रधान है, बुद्धि अक्षरप्रधान है, स्वयं जीवात्मा अक्षररूप है। अक्षरभाव ही बुद्धि का गतिलक्षण विद्याभाव है। क्षरभाव ही बुद्धि का स्थितिलक्षण अविद्याभाव है। क्षरप्रधान मन क्षरसजातीयाकर्षण से इन्द्रियों के द्वारा क्षरप्रधान आधिभौतिक विषयों से युक्त होकर उनके आवरणरूप भावना-वासना-संस्कारों से लिप्त होता हुआ बुद्धि के द्वारा प्राप्त स्वाभाविक प्रकाश से वञ्चित होजाता है। अविद्याग्रस्त मन से नित्ययुक्त अक्षरप्रधाना बुद्धि भी अक्षरात्मक विद्याभाव से आवृत होकर क्षररूप-अविद्यामयी बन जाती है। इस अविद्या का प्रवर्त्तक एकमात्र क्षर ही है।

३०-अक्षरनिबन्धना महामाया, तथा क्षरनिबन्धना योगमाया से अनुप्राणित त्रिगुण-भावनिबन्धन द्वन्द्वभाव का संस्मरण, एवं तन्मूलक पाशबन्धन—

कारण स्पष्ट है। अक्षर महामाया है, क्षर योगमाया है। महामाया जहाँ अव्यय की अनुग्राहिका है, वहाँ योगमाया अक्षरात्मक जीव की स्वरूपसमर्पिका है। इसी योगमाया में त्रिगुणभाव का विकास होता है। यही त्रिगुणभाव द्वन्द्वभाव का प्रवर्त्तक बनता है। यही द्वन्द्वभाव सदसत् के बन्धन का कारण बनता है। यही सदसद्बन्धन तत्त्वविवेक का अवरोधक बनता हुआ समझ को बिगाड़ डालता है।

सम्पूर्ण वेदादिशास्त्र, अथवा इतरशास्त्र च्चरप्रधान बनते हुए जगद्रूप हैं, भौतिक हैं, नाशरूप हैं, नाश करने वाले हैं। यदि हम साधन के साथ-साथ इन्हीं को साध्य समझने की भ्रान्ति कर बैठते हैं, तो यही शास्त्र मुक्ति के स्थान में बन्धन का कारण बन जाते हैं। वेदादि विद्याओं का अपनाना तो आवश्यक है, परन्तु साधनरूप से। विद्या का अनुगमन अच्छा है, परन्तु विद्या की रति (आसक्ति, अभिनिवेश) अच्छी नहीं। यह अभिरति तो हमारी समझ को और भी अधिक बिगाड़ डालती है। कारण, अविद्या की तो चिकित्सा फिर भी सम्भव है, परन्तु विद्या की चिकित्सा कौन करे। मूर्ख को समझा बुझा कर जल्दी ठीक रास्ते पर लाया जासकता है। परन्तु एक ऐसा विद्वान्, जिसने विद्या में अभिनिवेश उत्पन्न कर लिया है, जिस ने साधन को साध्य समझने की भूल करली है, उस समझदार की चिकित्सा तो असम्भव ही होजाती है। इसी-लिए उपनिषत् ने जहाँ अविद्याग्रस्त को केवल अन्धतम में प्रविष्ट माना है, वहाँ विद्याग्रस्थ को भूयोऽन्धकार में निमग्न माना है। देखिए !

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

२१-बन्धनप्रवर्त्तिका च्चरात्मिका अविद्या, एवं ततोऽपि भूयोरूपेण बन्धनप्रवर्त्तिका अक्षरात्मिका विद्या, तथा तन्निबन्धना उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

इसीलिए उपनिषत् ने एक स्थान पर इन विद्यानुगामियों को यह आदेश दिया है कि, तुम पाण्डित्य का गर्व छोड़ कर बच्चे बने रहो, तभी लक्ष्यसिद्धि पर पहुँच सकोगे-**"पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्"**। आदेश के अक्षर साधारण से प्रतीत होते हैं, परन्तु जब इन के रहस्यार्थ पर दृष्टि जाती है, तो उन कारुणिक महर्षियों के प्रति कृतज्ञता के आँसू उमड़ आते हैं। ऋषि ने उस महापरमात्मतत्त्व की प्राप्ति का जो सरलतम मार्ग बतलाया है, सचमुच ऋषि की वह एक ऐसी अमूल्य देन, जिससे हम कभी उऋण नहीं होसकते।

२२-द्वन्द्वभावविनिर्म्मुक्त बालबन्धुओं की सहजभावान्विता द्वन्द्वविनिर्मुक्ता-वस्तुस्थिति का स्वरूप-चित्रण, तथा द्वन्द्वातीत भगवान्, एवं तत्समतुलित द्वन्द्वातीत बालबन्धुवर्ग—

बच्चे क्या करते हैं ?, पहिले यही देखिए। बालवृत्ति स्वभाव से ही संसार के द्वन्द्व-जाल से पृथक् रहती है। द्वन्द्व में रहता हुआ भी बालक द्वन्द्वातीत बना रहता है। भौतिक पदार्थों की क्रीड़ा में निमग्न रहता हुआ भी वह उन की आसक्ति से बचा रहता है। उसकी दृष्टि में (जबतक कि समझ वा अभिमानी उसे डरा धमका नदे) एक विषधर सर्प भी उसीप्रकार विनोद की सामग्री है, जैसे कि मिट्टी का एक खिलौना। जिन खिलौनों को, काच-ठीकरी-लोहखण्ड-टूटी लकड़ी-छोटी सी गैंद-सीटी-आदि कीड़ासाधनों को मनुष्य सर्वथा निरर्थक समझता है, वे निरर्थक पदार्थ भी इस बालक के परमानन्द के कारण बने रहते हैं। उस विरक्त परमहंस बाल की समदृष्टि में सर्वत्र समलक्षण ब्रह्मानन्द ही छलक रहा है। बच्चे की इस विनोदसामग्री के सामने साम्राज्य का सुसमृद्ध भोगानन्द भी अतितुच्छ है। चुपके से देखिए, उस अबोध बालक को, उसकी विनोदसामग्री को,

उसकी क्रीड़ातन्मयता को, मानो वह, उस की सामग्री, एवं उसका विनोद तीनों एक ही होरहे हों। अद्वैत स्थूल-प्रतिमा बन कर मन्दहास कर रहा है। कैसी चरमकोटि की विषयप्रवृत्ति है, कैसा अद्भुत भेदसहिष्णु अभेद है। आप चपत लगाइए, रो देगा। थोड़ा पुचकार लीजिए, हँसता हुआ आपके कोड़ में आजायगा। रागद्वेष को प्रवेश करने का कहाँ अवसर है ?। भूख लगी, रोपड़ा। खिला दिया, चुप होगया। आवश्यकता की पूर्त्ति होजाने पर प्रकृतिविरूद्ध तृष्णाजाल को प्रवेश करने का कहाँ अवसर है ?। बतलाइए तो सही, भगवान् और बालक मे आप क्या भेद पाते हैं ?।

३३-द्वन्द्वजालासक्त बुद्धिदम्भी मानव के द्वन्द्वात्मक हर्ष, और विषाद, एवं द्वन्द्वातीत बालबन्धु की ध्वंस, तथा निर्म्माणात्मिका उभयवृत्ति में आनन्दरस की प्रवणता क स्वरूप-समन्वय—

एक चमत्कार और देखिए। द्वन्द्वजाल में फँसा हुआ मनुष्य जहाँ वैभवप्राप्ति पर अट्टाट्टहास करता है, अपने नवीन निर्म्माण पर अभिमान करता है, वहाँ उस वैभव-निर्म्माण के नष्ट होजाने पर व्यथा से व्याकुल होपड़ता है। यह बुद्धिमान् मनुष्य संग्रह से जितना अधिक प्रसन्न होता है, नाश से कहीं अधिक दुःखी भी बन जाता है। सम्भूति में हर्ष मनाता है, नाश से कहीं अधिक दुःखी भी बन जाता है। सम्भूति में हर्ष मनाता हैं, विनाश में शोकाकुल होजाता है। और इस द्वन्द्ववृत्ति का एकमात्र कारण है-"**आसक्ति**"। उधर बच्चे का बुद्धिवैभव देखिए। वह एक खिलौना पाकर जितना प्रसन्न होता है, उसे नष्ट भ्रष्ट कर, तोड़ ताड़ उसके विनष्टरूप में भी उतना ही आनन्द मनाता रहता है। मरुभूमि के उन छोटे बच्चों की वह अपूर्वक्रीड़ा एक अपूर्व ही उपदेश देरही है, जो उन बड़े बड़े पोथों से जन्मपर्य्यन्त सिर खपाने पर भी उपलब्ध नहीं होसकता। मरुभूमि में रेतोली मिट्टी अधिक है। इसलिए बच्चे प्रायः इसी को अपनी क्रीड़ा का साधन बनाते हैं। जब चातुर्मास्य आता है, तो मिट्टी आर्द्र होजाती है। उस आर्द्र मिट्टी से गाँव के बालक समूह बना कर भाँति भाँति के आकार बनाकर उनसे खेल खेलते हैं। परकोटा, दर्वाजा, लड्डू, बरफी, राजा, प्रजा, सिपाही सभी कुछ बड़े समारोह से बनाए जाते हैं। बहते पानी के स्रोत के अंश से नहरे बनाई जातीं हैं। गढ्ढेनुमा कुआ बनता है। कोई मित्र कहीं से फूटा कुल्लड़ ले आता है। कोई सखा टूटी-फूटी डोरी उड़ा लाता है। पानी भरा जाता है। तात्पर्य्य इस छोटी-सी बालमण्डली में विश्व का सारा खाका उतर आता है। यहाँ तक तो ठीक हुआ। और यहाँ तक तो सभी करते आए हैं। परन्तु आगे वह होता है, जिसे करने की बात तो दूर रही, आशंका से भी बुद्धिमानों का कलेजा काँप उठता है।

३४-बालबन्धुवर्ग से अनुप्राणिता बालक्रीडा के सहजसिद्ध दो परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्रीडा समाप्त होने पर घर वापस लौटने से पहिले सब बालक अपने हाथ पैरों से बल-प्रयोग के द्वारा सम्पूर्ण साधन नष्टभ्रष्ट करते जाते हैं, और साथ साथ "**म्हे ही खेल्या म्हे ही भुजाण्या**" (हमने हीं बनाया, हमने हीं बिगाड़ा) यह गान करते हुए हास्य-सरोवर में स्नान करते जाते हैं। मानो यही इनके विश्वनिर्म्माण-यज्ञ की सफलताका सूचक अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) हो।

३५–'म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाएया' नामकी राजस्थानीया लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

"म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाएया" यह वाक्य भी कम रहस्य नहीं रखता। सृष्टिरचना के तात्त्विक स्वरूप के अन्वेषण में प्रवृत्त एक अन्वेषक बीसों वर्षों के श्रम के अनन्तर जिस तत्त्वस्वरूप पर (सम्भवतः) पहुँचने में समर्थ होता होगा, वह सम्पूर्ण तत्त्व, सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान, प्रकृति का सम्पूर्ण लीलाचरित्र उक्त बालसूक्ति में गुप्तरूप से निहित है। उसे क्या जाने बेचारा पोथी का एक वह कीडा, जो "जायस्व, म्रियस्व" को ही चरितार्थ करता रहता है।

३६-व्यक्तभावनिबन्धन सृष्टिभाव, तदनुबन्धी निम्र्माण, अव्यक्तभावनिबन्ध लयभाव, तदनुबन्धी ध्वंसभाव, एवं तृष्टि-निम्र्माण-भावानुगत-निम्र्माण, ध्वंस-परम्पराओं का बालक्रीड़ोदाहरणमाध्यम से रहस्यात्मक-समन्वय—

सत्कार्य्यवादसिद्धान्त के अनुसार न तो कोई अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती, एवं न किसी का नाश ही होता। प्रकृति वेशभूषा से सुसज्जित होकर जब व्यक्तरूप से रङ्गमञ्च पर आजाती है, तो परिडतम्मन्य "विश्व-उत्पन्न होगया" यह बोल पड़ते हैं। जब प्रकृति विराम करती हुई अपने उसी अव्यक्तरूप में लीन होजाती है, तो परिडतवर्ग "विश्व नष्ट होगया" यह चीत्कार करने लगता है। इन्हीं परिडतम्मन्यों को आज वह, सगुणब्रह्म (बालक) बतला रहा है कि–भूलते हो। न कोई उत्पन्न होता, न नष्ट होता। पर्दा खुला अभिनेता ने खेल आरम्भ कर दिया, यही उत्पत्ति है। जबनिकापात (ड्रापसीन) होगया, इसी को नाश कहते हैं। अव्यक्त की व्यक्तक्रीड़ा ही उसका संसार है, व्यक्त का अव्यक्त बन जाना ही उसका अभाव मान लिया गया है। वस्तुतः उस नित्य का न कभी नाश होता, न उत्पत्ति-"**न जायते म्रियते वा कदाचित्**"। पर्दे के खुलने, एवं गिरने से ही अभिनेता की उत्पत्ति–नाश कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा। राधा उसका व्यक्तरूप है, कृष्ण उसका अव्यक्तरूप है। अव्यक्त कृष्ण (अव्ययपुरुष), एवं व्यक्त राधा (प्रकृति) का विपर्य्यय ही एक महारास है। और इस रास–रहस्य में प्रविष्ट होने का अवसर केवल तीन हीं भाग्यवानों को प्राप्त है।

३७–निम्र्माण–ध्वंसात्मक रासरसेश्वर के महारास के द्रष्टा तीन वर्ग —

पहिला सौभाग्य तो उस प्रकृति को है, जो रासरसेश्वर की वामाङ्गा बनी हुई हैं। दूसरा सौभाग्य उन जीवों को है, जो-"**द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ**" का रहस्य समझते हुए उस रासरसेश्वर के साथ सख्यभाव प्राप्त कर चुके हैं। तीसरा सौभाग्य उस बुद्धितत्त्व को है, जो अपने प्रकृति (अक्षर) भाव में (विद्याभाव में) आकर उसके साथ सायुज्यभाव को प्राप्त होगई है।

३८–भगवान् कृष्णावतार के महारास के तीन द्रष्टा भाग्यशालियों का पावन-संस्मरण—

देखिए न, इसीलिए तो पूर्णावतार के महारास में तीन हीं वर्ग प्रवेश कर सके। वे गोपियाँ, जो प्रकृति की ही प्रतिकृतियाँ थीं, रासरसेश्वर के अङ्गस्पर्श की अधिकारिणी बनीं, जो कि उनका प्रकृतिसिद्ध अधिकार था। दूसरा वर्ग उन श्रीदामा, आदि सखाओं का था, जो कृष्णतत्त्व के साथ सख्यभाव प्राप्त कर चुके थे। और तीसरे ज्ञानप्रदाता वे ही भोलेबाबा (भगवान् शङ्कर) थे, जिन्हें कि प्रकृतिरूप में परिणत होकर ही रासदर्शन की आज्ञा मिली थी।

३६-'अव्यक्तादीनि भूतानि' इत्यादि मूलक 'अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-परम्परानिबन्धन-सर्ग-प्रलय-सर्ग-चक्र का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र परिदेवना से असंस्पृष्ट द्वन्द्वातीत बालबन्धु—

हमारी बालमण्डली आज भी उसी रासक्रीड़ा में निमग्न रहती हुई हमें तत्त्ववाद की ही शिक्षा देती हुई आकाशवाणी कर रही है कि-"अहा ! म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाण्या"। यह हमारा-(प्रवृत्तिशिष्ट पुरुष का) ही खेल-(व्यक्तभाव) है । और आज हम हीं इसे अव्यक्तरूप में परिणत कर रहे हैं । बच्चों नें उन नारकीय शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त नहीं की है, जहाँ कि आरम्भ में हीं प्राकृतिक ईश्वरीय सत्य पर आक्रमण होजाता है । परमतत्त्वानुगता बालकों की स्वाभाविक-वाणी ईश्वर-तत्त्व का ही दिव्य सन्देश है । बच्चे **"म्हे ही बणाया-म्हे ही बिगाड्या"** नहीं बोलते । बोलें कैसे, जबकि तत्त्वतः न कोई बनाता, एवं न कोई बिगाड़ता । खेल था, खेल बँद होगया, कबतक के लिए, विश्राम का समय निकालने तक । फिर वही खेल, वही व्यक्तभाव । इस अनादिनिधनचक्र में उत्पत्ति, और नाश का कैसा, कहाँ समावेश ? । अपने इसी परतत्त्वभाव से रहस्यवेत्ता बालक सब कुछ तहस-नहस कर वापस लौटते हैं, और मार्ग में अगले दिन के खेलों का कार्य्यक्रम (स्कीम) तय्यार होने लगता है । कैसा ब्रह्मचक्र है ? । और कैसे हैं उनके ये जादूगर अभिनेता, जो सङ्केत-सङ्केत में हीं ग्रन्थराशियों का, उनके मर्म्मज्ञ अभिमानी दिग्गज विद्वानों का अभिमान चूर्णित कर डालते हैं । बतलाइए, पाण्डित्य अच्छा, अथवा बालभाव ? । बच्चे आसक्त नहीं होते, इसीलिए वे द्वन्द्वातीत रहते हुए नित्यतृप्त हैं । हम आसक्तिवश वेदना के अनुगामी बने रहते हैं । अव्यक्त-व्यक्त-पुनः अव्यक्त, इस तत्त्व का हमें परिज्ञान नहीं होता, यही अतत्त्ववाद हमारी समझ बिगाड़ता है, यही हमारी परिदेवना (वेदना) का मूल कारण है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

४०-दुःख की कारणतानिबन्धना स्वरूप-मीमांसा, दुःखानुभव, तथा सुखानुभव से अनुगता स्मृतियों का स्वरूप-दिग्दर्शन, दुःख--सुख-द्वन्द्वानुगत-'ख' तत्त्व का स्वरूप-निदर्शन, आत्मरूप 'ख' भाव की पूर्णता, तथा अपूर्णता का स्वरूप-समन्वय, एवं दुःखात्मक द्वन्द्वचक्र से परित्राण प्राप्त करने के सम्बन्ध में किञ्चि-दिव आवेदन—

दुःख का एक कारण तो है अव्यक्त से व्यक्तभाव की अपूर्व उत्पत्ति मान बैठना, एवं व्यक्त के अव्यक्तभाव को उस व्यक्तरूप का नाश समझ लेना । दूसरा कारण थोड़ा रहस्यपूर्ण है । संसार में हजारों पदार्थ अव्यक्त से व्यक्तावस्था में आते रहते हैं, एवं पुनः अव्यक्तरूप में परिणत होते रहते हैं । परन्तु हम देखते हैं कि, उन के व्यक्तभाव से न हमें हर्ष होता, न अव्यक्तभाव से शोक । हर्ष शोक का सम्बन्ध उन व्यक्ताव्यक्त पदार्थों से हैं, जो कि हमारे आत्मा की सीमा में प्रविष्ट रहते हैं । हमें जो वस्तु प्राप्त होती है, अथवा परिश्रम करके जिसे हम व्यक्तरूप देते हैं, वह हमारी वस्तु ही हमारे हर्ष का कारण बनती है । एवं हमारी बनी हुई वस्तु जब अव्यक्त बन जाती है, अथवा कोई बलात्कार से, धोके से, चोरी से हम से वह वस्तु हमारी आत्मसीमा से बाहिर निकल जाती है, तभी दुःख होता है । जबतक ममत्त्वभावापन्न पदार्थ आत्माकाश में

प्रतिष्ठित रहते हैं, तबतक आत्मा पूर्ण सा प्रतीत होता हुआ, सुष्ठुभाव का अनुगामी बना रहता है। यही हमारा (आत्मा का) सुखानुभव है। जब वस्तु आत्माकाश से निकल जाती है, तो आत्मा अपूर्ण सा बनता हुआ दुष्टभाव का अनुगामी बन जाता है। यही हमारा दुःखानुभव है। ख (आत्मा) का सुष्टुभाव, पूर्णभाव सुख है, एवं ख का दुष्टभाव, शून्य भाव ही दुःख है। इस सुख-दुःख-द्वन्द्व को दूर करने के लिए अव्यक्त-व्यक्त ज्ञान के साथ साथ हमे वेदान्त सम्मत आत्मा के अद्वयज्ञान की भी उपासना करनी पड़ेगी। सांख्यसम्मत प्रतिशरीर भिन्न चैतन्यवाद, एवं अव्यक्त का व्यक्तीभाव, व्यक्त की पुनः अव्यक्तरूप में परिणति, इन दोनों सिद्धान्तो में से केवल दूसरे सिद्धान्त का अनुगमन करना पड़ेगा, पहिले को छोड़ते हुए शारीरक सम्मत व्यापक आत्मवाद का अनुगमन करना पड़ेगा। हमें अपनी संकुचित सीमा को एकात्मवाद के द्वारा व्यापक बनाना पड़ेगा। तभी दुःखादि द्वन्द्वों की आत्यन्तिक निवृत्ति होसकेगी। हमें विश्वास करना पड़ेगा कि, हमी सब कुछ हैं। सर्वत्र एक तत्त्व ही आधार बना हुआ है। उस एक की सीमा के भीतर ही प्रकृति की उक्त अव्यक्त-व्यक्त--अव्यक्त–क्रीड़ा होरही है। इस भावना का परिणाम यह होगा कि, आत्माकाश में कभी अपूर्णता का अवसर नहीं आएगा। कभी वह अव्यक्त से पूर्ण रहेगा, कभी अव्यक्त के व्यक्तरूप से। हमें यह भावना करनी पड़ेगी कि, हम हीं इस विश्वक्रीड़ा के प्रवर्त्तक हैं, हम हीं इस के निवर्त्तक हैं। दूसरे शब्दों में-हम हीं विश्वरूप व्यक्त हैं, एवं हम हीं अव्यक्तरूप अभाव हैं। हमें आत्माराम बन कर इस महारास में प्रवृत्त होना पड़ेगा। "**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**" ही महारास का वास्तविक स्वरूप माना गया है-(देखिए श्रीभागवत रासपञ्चाध्यायी)।

४१–आत्मारामानुगता बालक्रीडाओं का स्वरूप-संस्मरण, 'क्रीडा', तथा 'लीला' शब्द के रहस्यार्थों का समन्वय-प्रयास, एवं भगवान् व्यास के 'लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्' सिद्धान्त का पावन-संस्मरण—

क्या आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि, बच्चे की सभी क्रीडाएँ केवल आत्मरामता को ही लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त होतीं हैं ?। जिसप्रकार हम अपने कर्म्मकलापों से, अपने विविध निर्म्माणों से भविष्य के लिए विविध फलों की कामना किया करते हैं, क्या बालक भी ऐसे किसी भावी फल की कामना से क्रीड़ाकर्म्म में प्रवृत्त होता है ?। नहीं, सर्वथा नहीं। क्रीडात्मक कर्म्मलक्षण विनोद ही उस का क्रीडाफल है। कर्म्म और फल का यहाँ भेद है ही नहीं। क्रीडाधारा के साथ साथ ही आनन्दधारा भी प्रवाहित रहती है। इसी आत्मारामता को "**लीला**" कहा जाता है। बच्चे किसी फलाकांक्षा से, किसी आशामयी तृष्णा से अपने विश्वनिर्म्माण में प्रवृत्त नहीं रहते। अपितु इन की तो यह स्वाभाविक लीला है, आत्मकामना का उपबृंहणमात्र है। ईश्वर ने क्यों विश्व का निर्म्माण किया, क्यों बिगाड़ा ?, इन प्रश्नों का समाधान भी इसी बालविश्वरचना, एवं ध्वंस से गतार्थ होजाता है। ईश्वर को किसी फल की आकांक्षा नहीं है। अपितु उस की स्वाभाविक लीलामात्र है। कितने एक मनुष्य बैठे बैठे पैर हिलाया करते हैं। क्या इस कर्म्म में कोई फलाशा कारण है ?, नहीं, यह तो उस की स्वाभाविक लीलामात्र है। यदि मनुष्य अपने सभी कर्म्मों को फलाशात्यागलक्षणा अनासक्ति से युक्त करने लगे, तो आज ही वह विमुक्त है। आशापाश ही उस की ईश्वरप्रदत्ता इस स्वाभाविकी लीला का स्वरूप विकृत कर देता है। इसीलिए सवथा निरावरण भी विश्व इसके लिए सावरण बनता हुआ दुःखत्रयी का कारण बन जाता है। उधर ईश्वर स्वाभाविकी लीला में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी नित्यबुद्ध, मुक्त है। "**लोकव–**

त्त्वलीलाकैवल्यम्" (व्याससूत्र) से व्यासदेव ने इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है, जिस की कि प्रतिकृति हमारे बालबन्धु, एवं उन की स्वाभाविकी क्रीड़ा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर उपनिषत् को कहना पड़ा कि **"तुम पाण्डित्य का अभिमान छोड़कर बच्चे बन जाओ"**।

४२–उपासना का महान् माध्यम गोपशु, बाललीलोपासना के माध्यम का रहस्यात्मक स्वरूप-समन्वय, 'तज्जलानीत्युपासत' रूप माध्यम का संस्मरण, एवं सहजसिद्ध औपासनिक तत्त्वों के कतिपय रहस्यात्मक क्षेत्रों का पावन-संस्मरण —

जिसप्रकार आत्मदोष की निवृत्ति के लिए महर्षियोंनें गौसेवा आवश्यक मानी है (देखिए छान्दो० उपनिषत्--सत्यकामाख्यान , एममेव बाललीलोपासना भी इस सम्बन्ध में अन्यतम उपाय माना गया है। आप बच्चों में खेलिए, उन्हें भगवान् समझिए, उनकी सेवा कीजिए, उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रीडा को गहनतम वेदान्तोपदेश समझते हुए उन पर पूर्ण लक्ष्य रखिए। वहाँ आप को वे अद्भुत तत्त्व उपलब्ध होंगें, वे अपूर्व आदेश मिलेंगे, जिन की कि मानवसमाज के विकृत मस्तिष्क की उपज इन ग्रन्थों में गन्ध भी नहीं है। लीलावतार स्वयं पूर्णेश्वर कृष्ण ने अपनी गौसेवा, एवं बालक्रीड़ा से हमें यही आदेश दिया है। परमात्मतत्त्व औंधे लटकते हुए तपस्वी योगियों में नहीं मिलेगा। युधिष्ठिर के समकक्ष राजसूयादि यज्ञों के अनुयायी कर्म्मठों की मण्डली में भी आप शान्तिलाभ नहीं कर सकेंगे। महा महा शास्त्रज्ञों के घोर घोरतम उपदेशों से भी आप अपनी बची खुची स्वाभाविक शान्ति खो बैठेंगे। विशाल वैभव भी आप को निराश ही लोटा देंगे। बड़े बड़े शिक्षणालयों से भी आप उपरत ही बन जाँयगे। ईश्वरतत्त्व मिलेगा आप को प्राकृतिक लीला में, शान्त सरोवरों में (तज्जलानीत्युपासत), निर्जन कन्दराओं में, चाकचिक्यशून्य ग्राम्य कुटियों में, शिक्षायन्त्र से बचे हुए ग्राम्यगीतों में, उन मुग्ध, भोले ग्रामीणों में, उन बालकों में, उन की स्वाभाविकी लीला में। वहाँ, जहाँ रागद्वेषने अबतक प्रवेश नहीं पाया है। वहाँ, जहाँ मनुष्य के विकृत मस्तिष्क की विकृत खोजने प्रवेश नहीं पाया है। क्या हम भ्रान्त पथिक कभी इस अमृतनिर्झरी के रसास्वदन का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे ?।

४३–विद्यात्मक आवरण, तथा अविद्यात्मक आवरण की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन —

हाँ, तो उक्त बालक्रीड़ा--निदर्शन से प्रकृत में हमें बतलाना यही था कि--क्षररूप, अतएव स्थिरभावापन्न अविद्यात्मक आवरण के निराकरण के लिए हमें अक्षररूप, अतएव गतिभावापन्न विद्यात्मक आवरण को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा। यह आवरण स्थिर बनता हुआ क्षररूप अविद्या का बाना पहिन कर कालान्तर में उस पूर्व अविद्यावरण से भी कहीं अधिक भयानक न बन जाय, इस के लिए पूर्णरूप से सतर्क रहना पड़ेगा। इस सतर्कता के लिए विद्याभिमान से बचना पड़ेगा। इस अभिमान से बचने के लिए फलासक्ति छोड़नी पड़ेगी। फलासक्ति छोड़ने के लिए अपने मन–बुद्धि–जीव को प्रत्यगात्मलक्षण आध्यात्मिक हृदयस्थ ईश्वर में ही अपने आपको समर्पित करना पड़ेगा। इस समर्पणभाव के लिए विद्या-कर्म्माभ्यास-काल में ही तात्त्विक दृष्टि आगे करते हुए हमें अपने विद्या–कर्म्माभ्यास में भगवद्भावना का समावेश करना पड़ेगा।

४४-भगवद्भावनात्मिका भक्ति से वञ्चित ज्ञान-योग-कर्म्म-शास्त्र-आदि विजृम्भणों का प्रपञ्च--पूर्णत्त्व, तथा निःसारत्त्व,-एवं तत्सम्बन्ध में महर्षि का उद्घोष—

ठीक इसके विपरीत भगवद्भावनाशून्य विद्याग्रन्थों में यदि हम एक जन्म ही नहीं, असंख्य जन्म भी व्यतीत कर देंगे, तब भी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेंगे। घोर तपश्चर्य्या भी हमें शान्ति नहीं देसकेगी। शास्त्रनिकषा (कसौटी) पर घर्षण खा खा कर सुसूक्ष्म बनी हुई अपूर्वबुद्धि, अपूर्व मेधा भी हमें परमात्मतत्त्व पर नहीं ले जासकेगी। यदि हम यावज्जीवन कथाश्रवण करते रहेंगे, तब भी इस बहुश्रुतवृत्ति से भी आत्मनिःश्रेयस् नहीं होगा। आत्मनिःश्रेयस् होगा उस प्रत्यगात्मा की स्वाभाविक—ज्ञानज्योति का शारीरकात्मा पर अनुग्रह होने से ही। और उस के लिए प्रत्येक दशा में भगवद्भावना की चर्वणा, ईश्वरतत्त्व का संस्मरण ही आवश्यक होगा। देखिए ! आपका शास्त्र ही इस सम्बध में क्या कहता है !—

नायमात्मा प्रवचेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन ।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनं,
आश्चर्य्यवत् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।

———— ❋ ————

४५-कलियुगानुगत-प्रचलित-भक्तिवाद के सम्बन्ध से नवीनरूपेण आविर्भूत एक काल्पनिक प्रवाद, और तन्नीरक्षीर-विवेक—

आजकल ऐसा प्रवाद चल पड़ा है कि, 'कलियुग में शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगमन कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। न तो कलियुग में मनुष्य की आयु ही पूर्ण होती, न इसे ऐसी सुविधाएँ ही प्राप्त होतीं, जिन से कि यह अपनी आर्थिकचिन्ता से विमुक्त होता हुआ शास्त्रादिष्ट क्लेशसाध्य, बहुसमयसाध्य, एवं पूर्णसुविधासाध्य उस वर्णाधर्म्मानुगत कर्म्म में प्रवृत्त रह सके"। ऐसी दशा में कलियुग में मानवजाति के उद्धार का एकमात्र यही मार्ग बच रहता है कि, मनुष्य सुविधानुसार थोड़ा बहुत समय निकाल कर नामस्मरण, सामूहिक रूपसे नामसंकीर्त्तन, अवतारपुरुषों के लीला चरित्रों का अभिनय आदि करता रहे"।

४६--अतीतयुगों के परमभागवत भक्ति के आचार्य्यों का पावन संस्मरण, तन्निबन्धना वर्णाश्रमाचारसंसिद्धा महती निष्ठा का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं सुप्रसिद्ध शास्त्राचार से समन्वित भक्तिपथ का ही वास्तविक भक्तिपथत्त्व-समन्वय—

वैसे तो उक्त भक्तिवाद को प्रवाद कहना धृष्टता ही मानी जायगी । क्योंकि नारदपञ्चरात्र, श्रीमद्भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंनें भी कलियुग में नामसंस्मारण को भी उद्धार का एक मुख्य साधन मानाहै । और फलांश का विचार करने से भी हमें इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय तुलसी, सूर, मीरा, तुकोबा, ज्ञानेश्वर, समर्थरामदास, नाभा, कणप्प, करमाबाई, सहजोबाई, कबीर, सुन्दरदास, दादू, रैदास, कुब्जा, भिल्लनी, निषाद, आदि परम भागवत-विभूतियोंनें इस नामस्मरण के प्रभाव से ही जहाँ अपने आपको मुक्त किया है, वहाँ अपने दिव्य उपदेशों से उस मानवसमाज की भी अधिकांश में रक्षा ही की है, जो कि कलियुग के घोर अनाचारों से पतनोन्मुख होरहा है । उक्त विभूतियों में से तुलसी, सूर, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि पर्य्यन्त कतिपय महात्माओं के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जासकता है कि, सम्भवतः इन्होंनें शास्त्र का अथ से इति पर्य्यन्त अध्ययन किया होगा, जैसाकि उन की कृतियों से स्पष्ट है । ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी (गीताव्याख्या) वेदान्त का जहाँ उच्च ग्रन्थ माना जासकता है, वहाँ तुलसी की रामायण भी अपनी सर्वज्ञता का आदर्शवत् परिचय दे रही है । सूरपदावली भी कम महत्त्व नहीं रखती । इसी आधार पर इन के सम्बन्ध में यह भी कल्पना की जासकती है कि, सम्भवतः ये महापुरुष वर्णाश्रमधर्म्म के कट्टर पक्षपाती रहे होंगे । इन का भक्तिरस वर्णाश्रमधर्म्म को मूल मानकर ही प्रवाहित हुआ होगा । स्वयं तुकोबाने सर्वश्री शिवाजी को कुलधर्म्म का महत्त्व समझाते हुए निम्न लिखितरूप से वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल क्षात्रधर्म्म के अनुगमन का ही उपदेश देकर यह सिद्ध किया था कि, शास्त्रविहित कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहते हुए जिस भक्तिमार्ग का अनुगमन किया जायगा, वही सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग माना जायगा । देखिए !

४७–सुप्रसिद्ध भक्तप्रवर महात्मा सन्ततुकाराम महाभाग की वर्णाश्रमधर्म्मनिष्ठात्मिका मान्यता का पावन–संस्मरण—

*** 'तसं नाहीं राजे ! वर्णाश्रमधर्म्मप्रमाणं प्राप्त झालेलीं कर्त्तव्ये तुच्छा लेखून, ईश्वरप्राप्ती साठी संसाराचा त्याग करण्याची, किंवा दूसरा कोणता ही खटाटोप करण्याची आवश्यकता नाहीं । राजा असो, सिपाई असो, किंवा तुमचा एखादा सामान्य प्रपंची प्रजाजन असो, धर्म्मानं नेमून कर्त्तव्ये करीत करीत परमेश्वराला आपलासा करून घेण्याचा अगदीं साधा मार्ग म्हणजे''—**

---

* राजन् ! ऐसा नहीं है, भूलते हो । वर्णाश्रमधर्म्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्त्तव्यकर्म्मों को तुच्छ समझ कर ईश्वरप्राप्ति की लालसा से संसार छोड़ देने की, अथवा और किसी मार्ग के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं है । राजा हो, अथवा एक मामूली सिपाही हो, अथवा तुह्मारे राष्ट्र में रहने वाला कोई साधारण प्रजाजन हो, सब का उद्धार एकमात्र वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल कर्त्तव्यकर्म्म करने से ही होसकता है । (इस सम्बन्ध का पूरा विवरण ईशभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए) ।

४८–शास्त्रानुगत वर्णाश्रमाचार-पथों से असंस्पृष्टा सत्त्वभावनात्मिका भक्ति, एवं तथाविधा सत्त्वभक्ति के अनुवर्त्मा भक्त-आचार्य्यों का नामसंस्मरण—

परन्तु मीरा, नाभाजी, भक्तवर कणप्प, करमाबाई, रैदासजी, भिल्लनी आदि के सम्बन्ध में तो उक्त घटना भी घटित नहीं होती। स्त्री शूद्रादि वर्गों में प्रतिष्ठित रहने के कारण न इन्हें शास्त्राध्ययन का अधिकार ही था, एवं न इन का ज्ञानीय धरातल ही उच्च था। फिर भी हम देखते हैं कि, केवल नामस्मरण से ही ये भक्तप्रवर उस परमपद के अधिकारी बन गए हैं, जिसे प्राप्त करने में बड़े बड़े शास्त्रनिष्ठ, कर्म्मठ, योगी, ज्ञानी भी कभी कभी लक्ष्यच्युत होते देखे गए हैं। ऐसी दशा में भक्ति के इस सरल पथ को शास्त्रावेश में पड़कर प्रवाद कह डालना धृष्टता नहीं, तो और क्या है?।

४९–'कल्याण' नाम से प्रसिद्ध भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में ऊहापोह, एवं नामसंस्मरणात्मक भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में युगधर्म्मनिबन्धन प्रवादों का समावेश—

मार्ग तो अवश्य ही अभ्युदयकर, एवं एकान्ततः प्रवादशून्य है। परन्तु मार्गानायुयायी कतिपय महानुभावों की कृपा से यह 'कल्याण' पथ आज भक्ति के पावन नाम पर जो उत्पात मचा रहा है, भक्तिमार्ग के जिस सर्वोच्च आसन पर विराजमान करने का मिथ्याभिमान कर रहा है, उसने अवश्य ही इस मार्ग को प्रवाद का अधिकारी बना डाला है, यही स्वीकार कर लेने में भी किसी भी विचारशील को तो कोई भी आपत्ति नहीं होगी। पहिले भी ऐसे ही छद्मवेशधारी कतिपय व्याघ्रचर्म्माच्छन्न रासभोंनें शास्त्र की ओट में हमारी मौलिक वैदिक संस्कृति को कुचलने का प्रयास किया था। जनता, भोली जनता, कुछ काल के लिए धूर्त्तों की, स्वार्थियों की इस स्वार्थलीला में फँस भी गई थी। परन्तु स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय श्रीशङ्कराचार्य्य, कुमारिल, मण्डनमिश्र, उदयनाचार्य्य, आदि कतिपय कुशल मल्लाहोंनें मझधार में डूबती नौका बचाली थी।

५०–कल्पनात्मक कुकाण्डों के समावेश से भक्तिमार्ग की स्वरूप-विच्युति, एवं भक्तिपथ के माध्यम से अर्थप्रधाना 'विश्वेदेववृत्ति' का घातक-प्रचार, और संस्कृति का स्वरूपाभिभव-प्रयास—

देखिते हैं कि, संस्कृति के दुर्भाग्य से आज पुनः उस धूर्त्तलीला की पुनरावृत्ति होने लगी है। भक्ति के पवित्र नाम के व्याज से, कल्याण घोषणा की ओट में पुनः आज कतिपय ऐसे प्रचारक खड़े होगए है, जिन्होंनें आकार, वेशभूषा, बोलने का ढँग, अतिशय नम्रता, पदे पदे भगवान् के नाम का सम्पुट, कहने को शास्त्र की अनन्यनिष्ठा, आदि कुछ एक ऐसे ऐसे अव्यर्थ शस्त्रों का सहारा लेकर निःशङ्कभाव से हमारी संस्कृति को कुचलने के लिए कमर कसली है। सबसे बड़े खेद का विषय तो यह है कि, कतिपय विद्वान् हीं भावुकतावश इत्थंभूत अकाण्डताण्डवों को प्रोत्साहित करते जारहे हैं। जब विद्वानों की यह दशा है, तो सामान्य-जनता के भ्रम के सम्बन्ध में क्या कहा जाय?। भगवान् न करे—इन भोले बाबा विद्वानों का वरप्रदान भस्मासुर की भाँति इन्हीं पर कभी आक्रमण न कर बैठे। चतुर विश्वेदेवोंनें भक्ति को भी अर्थसाधन का द्वार बना डाला। ज्ञान-वैराग्य के साथ समतुलित होने वाली भक्ति आज चित्रों से समतुलित होरही है। धातुके टुकड़ों से उस का मूल्य आँका जारहा है। कल्पना के आधार पर भक्ति के अर्थार्थीभक्त, ज्ञानीभक्त, आर्त्तभक्त आदि विविध चित्रों का आविष्कार किया जारहा है। कहना न होगा कि, इस कुकाण्ड से

साहित्य के साथ साथ देश की मौलिक कला भी छिन्न भिन्न होती जारही है । मानो इन महापुरुषों का अवतार कलिदेव को साहाय्य प्रदान करने के लिए ही हुआ हो ।

५१–संस्कृति-सभ्यता-कला-विज्ञान-आचारधर्म्म-आदि मौलिक-विभूतियों की उपेक्षा में सिद्धहस्ता झञ्झा-ताल-मृदङ्गादि-समन्विता आज की अनर्थकारिणी भक्ति का ताण्डवनृत्य, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-अभ्युदय का गत्यवरोध—

देश को आज कैसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता है ?, देश का मौलिक साहित्य आज किस विपत्ति में पड़ा हुआ है ?, परसाहित्य किस विभीषिका के साथ हमारा सर्वस्व हड़प करने के लिए सन्नद्ध खड़ा है ?, कला, विज्ञान दर्शन, आदि मौलिक विभूतियाँ किस वेग से रसातल की ओर जारही हैं ?, इन सब प्रश्नों को वहाँ, उस भक्ति की सीमा में प्रवेश करने का भी अधिकार नहीं है । भारतवर्ष अपनी इन विमल विभूतियों के करुणक्रन्दन से हा–हाकार कर रहा है, और हम ताल–मँजीरे ढोलक लेकर विनोद मना रहे हैं । क्या भक्ति का यही लक्ष्य है ?। क्या शास्त्र हमें ऐसी ही भक्ति का आदेश दे रहा है ?। कर्त्तव्यकर्म्मों को सर्वथा छोड़ दिया जाय, लोक संग्राहक कर्म्मों की उपेक्षा कर दी जाय, मौलिक साहित्य को कुचलने दिया जाय । किया जाय केवल घुँघरु तरँग के आधार पर श्मशाननृत्य । कैसा उत्तम भक्तिमार्ग है ?, और कैसे हैं हम आँखों के अन्धे ?, जो अब भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए सर्वनाश की ओर ही अग्रेसर होरहे हैं ।

५२–भक्तप्रवर महात्मा तुलसी की सूक्ष्मा दृष्टि से अनुप्राणित भक्तिसम्बन्धी, तथा शास्त्र-सम्बन्धी अनाचार, एवं भक्तिपथमाध्यम से तुलसी के द्वारा धर्म्मनिष्ठा का संरक्षण-प्रयास—

भक्तवर तुलसी को भय था कि, कुछ ही समय पीछे स्वार्थीलोग भक्ति के नाम पर वर्णाश्रमधर्म्म के घोर विरोधी बन जायँगे । भक्ति के प्रचार को वैषयिक तृप्ति का साधन बना डालेंगे । इसी भय से महात्मा तुलसी ने भविष्य की सन्तति को भक्ति का वास्तविक मर्म्म समझाने के लिए सामयिक भाषा में रामायण निर्म्माण करना आवश्यक समझा । स्वयं तुलसी के समय में भी शास्त्रों का मौलिक रहस्य लुप्त होचुका था । * शास्त्र केवल पाखण्ड–विवाद के ही साधन रह गए थे । इसी पाखण्ड के विशोधन के लिए, साथ ही भविष्य के उत्पातों को रोकने के लिए "स्वान्तः सुखाय" के द्वारा तुलसीसूक्तिसुधा प्रवाहित हुई । तुलसी की भक्तिनिष्ठा के सम्बन्ध में कुछ कहना अपना उपहास ही कराना है । तुलसीने भक्तिमार्ग के द्वारा ध्वस्तप्राय वर्णाश्रमधर्म्म को ही सदृढ दुर्ग से सुरक्षित कर दिया ।

५३–एक रहस्यात्मिका स्थिति का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास, एवं आर्षसंस्कृति-सभ्यता के अन्यतम संरक्षक गीता, रामायणरूप महान् दो स्तम्भ

आज एक रहस्य की बात पाठकों को बतलावें । श्रीमद्भगवद्गीता, और तुलसीकृत रामायण, आर्षसभ्यता को बचाने के सम्बन्ध में इन दोनों को विशेष स्थान दिया जासकता है । ज्ञान की उच्चभूमिका का अभिमान करने

---

* हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहि पन्थ ।
जेंहि विवाद पाखण्डतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ ॥

वालों के लिए जहाँ गीता पर्य्याप्त है, वहाँ सामान्य अधिकारियों को सुव्यवस्थित रखने के लिए रामायण पर्य्याप्त है। और इन दोनों के सम्बन्ध में यह भी बड़े ही अभिमान के साथ कहा जासकता है कि, जबतक आर्ष-सन्तान के कोश में ये दोनों निधियाँ बचीं रहेंगी, तबतक यह येन केन-रूपेण अपना स्वरूप सुरक्षित रखने में अवश्य ही समर्थ रह सकेगी।

५४-पुराणयुगानुगता उपासना. तथा उपास्य का स्वरूप-संस्मरण, एवं 'वासुदेवः-सर्वमिति' मूलक अवतारों का वासुदेवात्मकत्त्व-संस्थापन, तथा विष्णुलक्षण वासुदेवतत्त्व का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

बात थोड़ी अवश्य अटपटी है, साथ ही कल्पनामयी-सी प्रतीयमाना भी। परन्तु है रहस्यमयी, एवं विज्ञानदृष्टि से सिद्धापि। भक्तिपरीक्षा के पूर्वखण्ड में जिन ५ उपासनामार्गों का निरूपण हुआ है, वहीं उपास्यभेद से चतुर्युगों का भी स्पष्टीकरण हुआ है। एवं उन्हीं प्रकरणों में सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग-इन चार युगों के साथ क्रमशः **षोडषी-यज्ञ-विराट्-विश्वप्रजापति का** (उपास्यरूप से) भी सम्बन्ध बतलाया गया है। और वहीं यह भी स्पष्टीकरण किया गया है कि, यज्ञेश्वरप्रजापति षोडशीप्रजापति के पूर्णावतार हैं। एवं हमारे चरितनायक गीताचार्य्य श्रीकृष्ण विष्णुमूर्त्ति इसी पूर्णावतार की मानुषी प्रतिमा थे। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, आर्य्यावर्त्त के सभी अवतार वासुदेवतत्त्व के ही अंशावतार माने गए हैं, जैसा कि **"वासुदेवः सर्वमिति"** से भी स्पष्ट है। सब से पहिले देवयुग में इन का अवतार हुआ। उसी अवतारने विवस्वान् को सर्वप्रथम गीतोपदेश दिया। आगे जाकर मनु-शतरूपा की तपश्चर्य्या से प्रसन्न होकर इसी विष्णुलक्षण वासुदेवतत्त्व ने इस दम्पती को वरप्रदान किया कि-"मैं त्रेतायुग में दशरथ बने हुए तुम्हारे घर जन्म लूँगा।

५५-वासुदेवतत्त्व की रामावताररूप में परिणति, मनु, और प्रतापभानु, तन्निबन्धन रामावतार, श्रीरामका 'अयन', और महात्मा तुलसी—

इसप्रकार वासुदेवतत्त्वने हीं त्रेता में रामरूप से अंशावतार धारण किया। स्वयं रामायण ने-**"मनु-एवं प्रतापभानु** के आख्यानों के द्वारा पूर्णरूप से इसीं सिद्धान्त का समर्थन किया है। आगे जाकर वही रामरूप वासुदेव द्वापरान्त में कृष्णरूप से प्रकट हुए। इसी अपने अन्यरूप से उन्होंनें देवयुगारम्भ में विस्वान् के प्रति उपदिष्ट, परम्परया राजर्षिसम्प्रदाय में हीं प्रतिष्ठित, किन्तु कालदोष से विलुप्तप्राय वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का अपने अनन्यभक्त अर्जुन को निमित्त बना कर पुनरुद्धार किया। आगे जाकर कलियुग में (विलुप्तप्राय) उस राम-अयन का तुलसी के द्वारा पुनः प्रचार हुआ।

५६-त्रेतायुगानुगता उपासना से अनुप्राणिता एक विशेष घटना का संस्मरण, देवयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग-भेदानुगत भक्तिपथों का संस्मरण, एवं तत्र समत्त्वलक्षण बुद्धियोग का संस्थापन-प्रयास—

घटना यों घटित हुई। देवयुगानुगता सिद्धजाति में उत्पन्न कपिल की सांख्यनिष्ठा का, एवं हिरण्यगर्भ महर्षि की योगनिष्ठा का तदनुयायी ज्ञानी, एवं कर्म्मठों में जब दुरुपयोग होने लगा, तो भगवान् वासुदेव

को बुद्धियोगनिष्ठा के प्रचार के लिए अवतार धारण करना पड़ा। बुद्धियोग का प्रचार हुआ, और पर्य्याप्त रूप से हुआ। देवयुग से आरम्भ कर सत्ययुग पर्य्यन्त मानव समाज बिना किसी नियन्त्रण के वर्णधर्मानुगमन पूर्वक भगवदुपदिष्ट बुद्धियोग का यथाकथंचित् अनुगामी बना रहा। परन्तु कालातिक्रम से बुद्धियोग का वास्तविक मर्म्म लुप्त होने लगा। ज्ञान-कर्म्मसमत्वमूलक बुद्धियोग पुनः कर्म्मत्यागलक्षण अव्यक्त ज्ञानयोग समझा जाने लगा। दूसरे शब्दों में-बुद्धियोग पुनः देवयुग के आदिकाल में प्रचलित ज्ञानमार्ग से युक्त होगया। इस विषमावस्था में विकृतिभावापन्न प्रकृति मण्डल को एक ऐसे अंशावतार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो कि पुनः मानवशरीर धारण कर कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में चातुर्वर्ण्यधर्म-मूलक कर्म्ममार्ग का समावेश कर उसे ज्ञान-कर्म्म-समत्वलक्षण बुद्धियोग का स्वरूप प्रदान करे।

५७-देवयुगानुगता संस्मरणीया ज्ञान-कर्म्म-निष्ठाद्वयी, एवं तत्संस्थापक वासुदेव कृष्ण का देवयुग में पूर्णावतार—

स्मरण रखने की बात है कि, देवयुग में ज्ञान-कर्म्म, दोनों निष्ठाएँ विपरीत पथ पर ही जारहीं थीं। थीं दोनों हीं प्रचलित, परन्तु द्वन्द्वभाव से। एक वर्ग विशुद्ध ज्ञानयोग का पक्षपाती था, तो दूसरा केवल कर्म्मयोग का। ऐसी दशा में तत्कालीन विकृतिलक्षण प्रकृतिमण्डल को ऐसा अवतार अपेक्षित था, जो दोनों का मेल कराता हुआ, दोनों के युग्मरूप पूर्णब्रह्म की प्रतिकृतिरूप (सदसद्रूप) बुद्धियोग का उपदेश दे। यह काम तभी सम्भव था, जबकि यज्ञेश्वर वैष्णवतत्त्व की ज्ञान-कर्म्म दोनों विभूतियाँ अवतीर्ण हों। फलतः उस देवयुग में सर्वलक्षण वासुदेव का पूर्णावतार ही हुआ।

५८-देवयुगोत्तरभावी त्रेतायुग, और तत्र-अपेक्षित अँशावतार, तन्निबन्धन सौरमण्डल, एवं तदनुगत सूर्य्यानुगत सूर्य्यवंशी भगवान् राम के अवतार का पावन-संस्मरण-, तथा मनु और शतरूपा की तपश्चर्य्या—

परन्तु त्रेतायुग में पूर्णावतार की आवश्यकता नहीं थी। कारण-बुद्धियोग का एकांश, किंवा अर्द्धांशरूप ज्ञानयोग तो पूर्णरूप से विकसित ही था। कमी थी केवल वर्णधर्म्मानुगत शास्त्रीय कर्म्म की। इस समय के अवतार का काम केवल इतना हीं था कि, वह प्रचलित ज्ञानयोग में वर्णाश्रममर्य्यादामूलक कर्म्मयोग-मात्र का समावेश और कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वासुदेव यज्ञेश्वर की सूर्य्यकला ही पर्य्याप्त थी। त्रयीधर्म्म की प्रतिष्ठा एकमात्र सूर्य्य ही है, यह सर्वविदित है ही। वही तत्त्व आज रामरूप से अवतीर्ण हुआ, एवं इस का श्रेय मिला मनु-शतरूपा दम्पती की कर्म्ममयी तपश्चर्य्या को।

५९-पूर्णावतार, तथा तदंशावतार-विभूतियों का पावन संस्मरण,-तथा अवतार के मुख्य उद्देश्य का समन्वय—

वासुदेव के ही पूर्णावतार जहाँ कृष्ण-देवकीनन्दन आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, वहाँ इन्हीं के अंशावतार राम-परशुराम-बलराम-मीन-कूर्म्म-वराह-वामनादि नामों से व्यवहृत हुए हैं। सर्वथा यह सिद्ध विषय है कि, पूर्णात्मक मानुषावतार हों, अथवा अंशात्मक मानुषावतार, हैं दोनों विवर्त्त वासुदेवोपलक्षित पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञाधिष्ठाता, पञ्चदशाहयज्ञप्रवर्त्तक, इन्द्रसखा, गोविन्द के ही अवतार। इनके अवतार धारण करने के यों तो अनेक उद्देश्य माने गए हैं, परन्तु प्रधानरूप से दो ही उद्देश्य हैं।

६०-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-त्रयी, एवं आचरणभाव का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

वैकारिक विश्व जब अपने मूलभूत प्रकृतितत्त्व की उपेक्षा कर देता है, तो प्रकृतिमण्डल (विश्व प्रजा के अनाचार से, एवं प्रकृतिविरुद्ध आचरण से) क्षुब्ध-अशान्त-भयावह, एवं संघातक बन जाता है। इस प्रकृति को समरूप में परिणत कर देना अवतार का पहिला, एवं मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य को लेकर अवतीर्ण वासुदेव प्रधानरूप से समदर्शन की शिक्षा देते हैं। इस शिक्षा की सिद्धि के लिए प्रकृति के उस बुद्धियोगात्मक महागीत का, औपनिषद् तत्त्व का किसी एक योग्य पात्र को निमित्त बना कर उपदेश देते हैं, जो कि बुद्धियोग समदर्शन की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। समदर्शनमूलक, महागीतरूप वासुदेव का वही उपदेश "गीता" नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा उद्देश्य है—"**सम्यक्चारित्र्य**" की शिक्षा देना।

६१—जैनदर्शनानुगत महत्त्वपूर्ण तत्त्वार्थसूत्र का संस्मरण, एवं तदर्थसमन्वय-प्रयास—

यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि, जो काम देख भाल कर, सोच समझ कर किया जाता है, वही सफलता का कारण बनता है। इसी आधार पर सामान्य लोकभाषा में भी—"**देख कर चलो**"—"**समझ कर करो**"—**देख भाल कर आगे बढ़ो, अन्यथा ठोकर खाओगे**" इत्यादि किंवन्दन्तियाँ प्रचलित हैं। इन्हीं किंवदन्तियों के आधार पर हम मानवसमाज के पुरुषार्थ को **सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य**, इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। सामान्यज्ञान (ऐन्द्रियक ज्ञान) सम्यग्दर्शन है, विशेषज्ञान (मनोयुक्त बौद्धिकज्ञान) सम्यक् ज्ञान है। उभय ज्ञानों का आधार तदनुकूल कृत आचरण सम्यक् चारित्र्य है। देखो, समझो, करो में "**देखो**" सम्यक् दर्शन है, "**समझो**" सम्यक् ज्ञान है, एवं "**करो**" सम्यक् चारित्र्य है। तीनों का समन्वितरूप ही मोक्षमार्ग का अन्यतम कारण है, जैसाकि—"**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**" इत्यादि तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानावसरपर विस्तार से बतलाया जाचुका है—(देखिए दार्शनिक आत्मपरीक्षा, भू० द्वि० खण्ड० पृष्ठ सं० २००)।

६२—देवयुगानुगत पूर्णावतारके द्वारा विवस्वान् के प्रति बुद्धियोगनिष्ठोपदेश का संस्मरण—

जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है, देवयुग, किंवा सत्ययुग में न ज्ञान की कमी थी, न चरित्र की। कमी थी केवल सम्यग्दर्शन की। आचरणरूप कर्म्ममार्ग भी पूर्णरूप से विकसित था, ज्ञानरूप सांख्यमार्ग भी पूर्णरूप से प्रचलित था। परन्तु सांख्यों का ज्ञान, योगियों का कर्म्म, दोनों हीं समदर्शनरूप सम्यक् दर्शन से वञ्चित थे। परिणाम यह था कि, दोनों एक न रहकर दो स्वतन्त्र वर्ग बन गए थे। न इस युग में ज्ञान-तत्त्वोपदेश की आवश्यकता थी, न चरित्र का ही उपदेश आवश्यक था। आवश्यकता थी केवल सम्यग्-दर्शनोपदेश की। फलतः तत्कालीन वासुदेवावतारने विवस्वान् को निमित्त बनाकर वही कमी पूरी की।

६३ गीताशास्त्र की समदर्शनात्मिका महती शिक्षा का रहस्यात्मक समन्वय, एवं आचारणात्मिका शास्त्रनिष्ठा से तटस्थ गीताशास्त्र—

पाठकों को यह मान लेना चाहिए कि, गीता का प्रधान उद्देश्य समदर्शन की ही शिक्षा देना है। गीता ने तत्त्ववाद का विश्लेषण करते हुए केवल कर्म्म-ज्ञान का मौलिक रहस्य ही [illegible] या है। कौन कर्म्म

करने चाहिए, कौन नहीं करने चाहिए ?, इस विधि–निषेध–मूलक आचरण की शिक्षा का भार गीता ने **"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ"** इत्यादि रूप से शास्त्र पर ही डाल दिया है। गीता में विशेष रूप से "कैसे करना चाहिए ?" इस कर्म्मोपपत्ति का ही विश्लेषण हुआ है। क्या करना चाहिए ?, यह सम्यग्दर्शन पर अवलम्बित है। प्रथमोदेश की उस आदि युग में अनावश्यकता थी, अतएव वह अप्रतिपादित रहा ! आवश्यकता थी दूसरे उपदेश की, वही आवश्यक समझा गया। स्वयं गीता का **"यथेच्छसि तथा कुरु"** यह उपसंहारवाक्य भी इसी समदर्शन--सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है।

६४-त्रेतायुगानुगत अवतार की महत्त्वपूर्णा-आचरणधर्म्ममूला चरित्रशिक्षा का स्वरूप-संस्मरण—

जैसाकि कहा गया है, त्रेतायुग में आचरणलक्षण कर्म्मभाग ज्ञानमार्ग से निकल गया। सम्यग्दर्शन भी रहा, सम्यक्ज्ञान भी। परन्तु सम्यक्–चारित्र्य लुप्त होगया। पुनः अव्यक्त, कर्म्मत्याग–लक्षण ज्ञानयोग बल पकड़ गया। फलतः इस युग में ऐसे अवतार की आवश्यकता हुई, जो प्रधानरूप से सम्यक्–चारित्र्य की शिक्षा प्रदान करे। और इस युग के अवतार ने यही किया भी।

६५-मनोविज्ञानसिद्धान्तमूलक एक रहस्य का विश्लेषण, 'आचरण' का महत्त्व संस्थापन, एवं आचारधर्म्म की व्यावहारिकता का स्वरूप-समन्वय, तथा भगवान् राम के चरित्र का संस्मरण—

मनोविज्ञान का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, यदि हम किसी को कर्म्ममार्ग पर आरूढ़ करना चाहते हैं, अथवा किसी की बुरी आदतें छुड़ाकर उसे सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं, तो वाचिक उपदेश की अपेक्षा आचरण इस सम्बन्ध में विशेषरूप से सफल होगा। जो उत्तम कर्म्म आप अपने परिवार से, समाज से, किंवा राष्ट्र से करना चाहते हैं, उपदेश की अपेक्षा आप स्वयं यदि उनका आचरण करने लग पड़ेंगे, तो विशेष सफलता मिलेगी। यदि आप स्वयं आचरण शून्य हैं, तो उस दशा में आपका वाचिक उपदेश व्यर्थ ही सिद्ध होगा। त्रेतायुग के समाज को आचरण की शिक्षा अपेक्षित थी, एवं आचरण व्यवहारमार्ग से अधिक सफल होता है। अतएव अंशावतार भगवान् रामने इस युग में वाचिक, सम्यग्दर्शन–ज्ञानरूप उपदेश की उपेक्षा कर केवल सम्यक् चारित्र्य की ही शिक्षा प्रदान की। राम स्वयं एक आदर्श गृहस्थी बनें। राम का परिवार स्वयं एक आदर्श परिवार बना। रामचन्द्र तत्कालीन आचरण–शून्य, दुराचारी समाज को सच्चरित्र की शिक्षा देना चाहते थे, उसे वाचिक न बनाकर व्यावहारिकरूप प्रदान किया। स्वयं उन शास्त्रीय मर्य्यादाओं का अनुगमन किया। राम के इस चरित्रानुगमन का तत्कालीन मानवसमाज पर कैसा प्रभाव पड़ा ?, यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

६६-भगवान् राम, तथा भगवान् कृष्ण, नामक महान् अवतारों के चरित्र, तथा उपदेश के माध्यम से एक रहस्यपूर्ण तथ्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यदि तुलनात्मिका दृष्टि से विचार किया जायगा, तो राम–कृष्ण की तुलना में आचरण की दृष्टि से राम का आचरण ही विशेष महत्त्व का अधिकारी माना जायगा। कृष्ण का व्यक्तित्व जहाँ सर्व्वोच्च शिखर

पर प्रतिष्ठित था, वहाँ कृष्ण के परिवार में अनेक दूषित प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। मद्यपान जैसा दुष्कर्म्म यादववंश में पूर्णरूप से प्रचलित था। और आगे जाकर तो इसी मद्य के अनुग्रह से यादवगंश का नाश भी हुआ। कृष्ण का वैय्यक्तिक जीवन आदर्श (आदेशरूप से, न कि व्यावहारिक रूप से) भले ही मान लिया जाय, परन्तु परिवार आदर्शशून्य ही माना जायगा। स्वयं श्रीमद्भागवत ने कृष्णलीला के सम्बन्ध में—"**ईश्वराणां वचः सत्यं,............**" यह कहते हुए कृष्णलीलाचरण का अनुगमन निषिद्ध ही माना है। स्वयं परीक्षित के--"आप्तकाम यदुपति ने लोकसंग्रह के विरुद्ध परदाराभिमर्शन क्यों किया?," प्रश्न करने पर उक्त समाधान ही किया है।

६७-श्रीकृष्णावतार की परिपूर्णता, किन्तु आचारशैथिल्य, तथा श्रीरामावतार की अंशावतारलक्षणा-अपरिपूर्णता, किन्तु आचार का पूर्णत्व, तथा एक रहस्य का समन्वय-प्रयास—

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि, कृष्णावतार का स्थान अवतार-परिगणना में सर्वोच्च है। अवतार-विज्ञान के अनुसार कृष्ण की अपेक्षा राम का आसन बहुत नीचा है। फिर भी सामान्य लौकिक मर्य्यादा के अनुयामी सामान्य मनुष्यों के लिए आदर्शदृष्टि से कृष्ण की अपेक्षा राम का ही आसन ऊँचा माना जायगा, और माना गया है। न्यायतः यह मान्यता उचित भी है। कृष्णावतार का उद्देश्य मर्य्यादा-शिक्षण नहीं था, उद्देश्य था एकमात्र समदर्शन का पुनः प्रचार। और यह भी सिद्ध विषय है कि, बिना समदर्शन--समज्ञान के सम्यक् आचरण कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इसप्रकार समदर्शन का मौलिक रहस्य बतलाते हुए भगवान् ने सम्यक्चारित्र्य की (परम्परया) ओर भी संकेतरूपेण मानवसमाज का ध्यान आकर्षित किया। "**किं कर्म्म, किमकर्म्मेति**" से आचरणभाव ही समन्वित हुआ है। रामभद्र का उद्देश्य एकमात्र था-आचरण की शिक्षा। यह उद्देश्य सर्वात्मना तभी सफल होसकता था, जबकि वे स्वयं एक आदर्श गृहस्थी बनते, स्वयं उन पारिवारिक मर्य्यादाओं का अनुगमन करते, जिनका कि वे तत्--कालीन मर्त्यलोगों को (मनुष्यों को) अनुगमन कराना चाहते थे। वही हुआ भी। और इसी उद्देश्य की सफलता के कारण भगवान् राम "**मर्य्यादापुरुषोत्तम**" नाम से प्रसिद्ध भी हुए। पुरुषोत्तम का एकपत्नीव्रत, पितुराज्ञापालन, बन्धुस्नेह, प्रजापालन, अपूर्व मातृभक्ति, आश्रितरक्षा, न्यायपरायणता, आदि आचरण हीं इनका मर्य्यादाभाव प्रकट कर रहा है। रामपरिवार का आदर्श एक ओर, सृष्ट्यारम्भ से आज पर्य्यन्त का आदर्श एक ओर, दोनों की तुलना में रामपरिवार का आदर्श ही भारी मिलेगा।

६८-श्रीरामचरितमानस के आचारणात्मक धर्म्म, तथा श्रीकृष्णगीता के समदर्शनात्मक उपदेश—

रामभद्र उसी वासुदेव के अंश थे। अतएव इनके समदर्शन-ज्ञानात्मक उपदेश में भी देवयुग--कालोप दष्ट गीतासिद्धान्त ज्यों के त्यों उद्धृत हुए हैं, जैसाकि मानसान्तर्गत श्रीरामोपदेशस्थलों से यत्र तत्र स्पष्ट है। यही क्यों, गीता और रामायण को सामने रख लीजिए। अनेक स्थान तो आपको ऐसे मिलेंगे, जिनसे ऐसा प्रतीत होगा कि, मानो रामचरित ने गीताश्लोकों का ही अनुवाद किया हो।

६९–मनःस्वरूप-संस्थापक आचार-प्रधान श्रीरामावतार, और रामचरितमानस, तथा बुद्धिस्वरूप-संस्थापक-उपदेशप्रधान श्रीकृष्णावतार, और बुद्धियोगशास्त्र—

एक बात और । गीता प्रधानरूप से बुद्धियोग का ही उपदेश देती है, तो रामायण प्रधानरूप से मानवीय मन को मर्य्यादा की ओर ही आकर्षित करती है । गीता बुद्धितत्त्व का विश्लेषण करती है, तो रामायण मनस्तत्त्व का उपबृंहण । गीता बुद्धियोगशास्त्र है, तो रामायण मनोयोगशास्त्र । दर्शन दृष्टि है, दृष्टि का बुद्धि से सम्बन्ध है । अतएव बुद्धि को चक्षु, किंवा चाक्षुप पुरुष कहा गया है । आचरण ऐन्द्रियक व्यापार है, इसका प्रवर्त्तक मन है । "एतसर्वं मन एव" के अनुसार मन ही इन्द्रियों के द्वारा सदसदाचरणों में प्रवृत्त रहता है । रामायण ने, किंवा रामभद्र के आचरण ने हमें यही शिक्षा दी है कि, तुम्हारा मन मेरा जैसा बने । मैं अपने मानस जगत् के आधार पर जिस पद्धति से सांसारिक कर्म्म में प्रवृत्त हुआ हूँ, उसी प्रकार तुम भी अपने मानस को राममानसचरित्र का अनुगामी बनाओ । अपने इसी प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए रामायणग्रन्थ—"**रामचरितमानस**" नाम से प्रसिद्ध हुआ है ।

७०–त्रेतायुगानुगत श्रीरामका आचारणात्मक-'अयन'-धर्म्म, एवं तन्निबन्धन-रामायण-ग्रन्थ, तथा द्वारपयुगानुगत श्रीकृष्ण का उपदेशात्मक-'गान' धर्म्म, एवं तन्निबन्धन-गीताग्रन्थ का संस्मरण—

हाँ, तो तात्पर्य्य यह निकला कि, त्रेतायुगकालीन रामावतार ने अपने अयन (गमन–आचरण–कर्म्म'-व्यवहार) द्वारा तत्समय में प्रचलित ज्ञानयोग में वर्णाश्रमधर्म्ममूलक शास्त्रीय कर्म्म का प्रवेश कर पुनः बुद्धियोग का उद्धार किया । रामभद्र का उद्देश्य जहाँ चरित्रशिक्षण था, वहाँ अपने चरित्र की मूल-प्रतिष्ठा वर्णाश्रमधर्म के शिक्षण के साथ साथ भगवान् ने शबरी, निषाद, विभीषण, हनुमान आदि को आश्रय–प्रदान करते हुए भक्तितत्त्व का भी विश्लेषण किया । अवतारभक्ति, किंवा मानुषावतारभक्ति का उदय सर्वप्रथम त्रेतायुग में हीं हुआ, जैसाकि पूर्वखण्डान्तर्गत 'पुराणयुगकालीन-उपासनामार्ग' नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । रामभद्र के लीलासमय में हीं आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के द्वारा राम–चरित्र का संकलन भी होचुका था । और इसके सबसे पहिले, एवं प्रधान शिष्य बने कुश, एवं लव ।

७१–त्रेतायुगनिबन्धना ज्ञान-कर्म्म-समन्वयात्मिका निष्ठा का तद्युग में पूर्ण समन्वय, किन्तु तदुत्तरभावी द्वापरयुग में पुनः तत्शैथिल्य, एवं तन्निबन्धन गीताशास्त्र के समन्वयात्मक बुद्धियोग का अर्जुन के माध्यम से पुनः प्रतिसंस्करण-प्रयास, और गीता के द्वारा भक्तिपथका भी लोकसंग्रहदृष्ट्या संस्थापन, एवं तत्परिणाम—

रामावतार से जनता ने ज्ञान के साथ साथ कर्म्म को भी अपनाया । पुनः एकबार बुद्धियोग अपने स्वरूप से विकसित हुआ । परन्तु मानवीय मन की उद्दाम–वासनाओंनें पुनः इसे भुलाने का उपक्रम कर दिया, द्वापरान्त पर पहुँचते तो बुद्धियोग पुनः उन्हीं दो खण्डों में परिणित होगया । जो परिस्थिति देवयुग के आरम्भ में होने वाले स्पर्द्धायुग में थी, वही यहाँ उपस्थित होगई । जनता चरित्र (कर्म्म) पर भी आरूढ थी, सम्यग्दर्शनज्ञानलक्षण* ज्ञान पर भी । परन्तु कालातिक्रम से दोनों विच्छिन्न होचुके थे । फिर वही-"**ज्ञानयोगेन**

साङ्ख्यानां, कर्म्मयोगेन योगिनाम्" का पुराना राग प्रचलित होगया था । ऐसी दशा में पुनः वासुदेव को पूर्णावतार–धारण कर ज्ञान-कर्म्म समदर्शनमूलक बुद्धियोग के उपदेश की आवश्यकता प्रतीत हुई । और उसी की पूर्त्ति के लिए विवस्वत्–कालीन गीतोपदेश को (अर्जुन को निमित्त बनाकर) पुनः दोहराया गया । परिणाम क्या हुआ ?, सर्वविदित है । पुनः मानवसमाज बुद्धियोग का अनुगामी बना । उस युग के गीतोपदेश की अपेक्षा इस युग के गीतोपदेश में भक्तिमार्ग पर विशेष प्रकाश डाला गया । क्योंकि अन्तर्यामी जानते थे कि, अनुपद में हीं मानवसमाज पर कलिदेव का अनुग्रह होने वाला है । कलि के आक्रमण से मानवसमाज तबतक अपनी ज्ञान-कर्म्मोभयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठाको आसक्ति से नहीं बचा सकेगा, जब तक कि वह अपनी इस निष्ठा में भगवदर्पणभाव का समावेश नहीं करलेगा । इसप्रकार युगधर्म्मरहस्यवेत्ता परमकारुणिक भगवान् ने इस प्रतिसंस्कृत बुद्धियोग को भक्ति का बाना पहिनाकर जनता के सामने रक्खा । परिणाम अच्छा ही हुआ ।

७२–उदासीनभावात्मक दृष्टिकोण का समन्वय, द्वापरान्त, तथा कलियुगारम्भानुगत भक्तियोग के उच्चावच-तारतम्य, तन्निबन्धन द्वन्द्वभाव, अंशतः बुद्धियोगसम्पत्ति का संरक्षण, किन्तु कलिकृपा से कालान्तर में तद्विलुप्ति, तथा सत्य-त्रेता-द्वापर-कल-युग-निबन्धन भक्तिपथों के विविध विन्यासों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं साधनभावों की साध्यरूप में परिणति, और ईश्वरभाव के स्थान में अनेक–देवता-वाद का संस्थापन —

अच्छा ही हुआ, इस उदासीनभाव से युक्त वाक्यप्रयोग का कारण यही है कि, द्वापरान्त, एवं कलि के आरम्भ में होने वाले भक्तिरसालुप्त बुद्धियोग का प्रचार कुछ समय पर्य्यन्त तो ठीक ठीक चलता रहा । परन्तु काल के उसी शाश्वतचक्र से आगे जाकर पुनः वही द्वन्द्वभाव उपस्थित होगया । भगवत्–तत्व के लीला–संवरण करने के अनन्तर परीक्षित से आरम्भ कर दूसरे परीक्षित पर्य्यन्त (लगभग २ सहस्र वर्ष-पर्य्यन्त) तो यज्ञकर्म्मानुगत ज्ञानयोगलक्षण बुद्धियोगमार्ग येन केन रूपेण सुरक्षित बना रहा । परन्तु कलिकृपा से बढने वाली भोगैश्वर्य्यवासनाओं के आकर्षण से मानवसमाज क्रमशः अपने कर्म्ममार्ग से ज्ञान का निष्काशन करने लगा । कैसा सुसङ्गत परिवर्त्तन हुआ । आरम्भ में (देवयुग में) दोनों थे, परन्तु स्वतन्त्ररूपेण । अतः बुद्धियोगनिष्ठा का आविष्कार हुआ । त्रेता में कर्म्म शिथिल पड़ गया था, ज्ञान प्रधान बन गया था । रामावतार ने सम्यक्चारित्र्य की व्यावहारिकी शिक्षा देकर ज्ञान में कर्म्म का समावेश कर पुनः बुद्धियोग का उद्धार किया । आगे जाकर द्वापरान्त में पुनः उसी देवयुग की पुनरावृत्ति हुई । अर्थात् रहे ज्ञान–कर्म्म दोनों । परन्तु देवयुग की भाँति-"**एकं साख्यं च योगंच यः पश्यति स पश्यति**" रूपसमदर्शनमूलक बुद्धियोग पुनः लुप्त होगया । दोनों के समन्वय कराने के लिए पुनः उसी वासुदेवतत्त्व को पूर्णावतार धारण कर पूर्ण, एवं समत्व–लक्षण उसी विलुप्त योग का दर्शन कराना पड़ा । परीक्षितान्त तो यह योग चलता रहा, परन्तु आगे जाकर ज्ञान गौण बन गया, कर्म्म प्रधान बन गया । ज्ञानगर्भिता यज्ञकर्म्मनिष्ठा प्रधान बन गई । लोग भोगैश्वर्य्यों की कामना में फँस कर यज्ञ को आत्मपचन का कारण बनाने लगे । "**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते**" का स्थान "**फले–एवाधिकारस्ते**" ने छीन कर लोकसंग्रहमूलक सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप विकृत कर दिया । स वे साथ ही अनेक देवतावाद ने भी बल पकड़ा । साधनरूपा देवोपासना साध्यकोटि में प्रविष्ट होगई ।

तान्त्रिकमार्ग ने वैध पद्धतियों को छोड़कर इन्द्रियलोलुप्ता का आसन ग्रहण कर लिया। शास्त्रीय यज्ञ-कर्म्म में विहित आवश्यक पशुपुरोडाशनें दैनिक भोजन का स्थान ग्रहण कर लिया। शास्त्रीया अहिंसारूपा हिंसा ने अज्ञानवश घोर हिंसा का रूप धारण कर लिया। ब्राह्मणों का धर्म्माचरण एकबारगी ही पापा--चरण बन गया। ईश्वरवाद, देवतावाद की ओट में मानवता कुचली जाने लगी।

७३-वस्तुस्थिति के स्वरूपोपशम के लिए अपेक्षित अंशावतार, तद्रूप बुद्धमत-प्रवर्त्तक-गोतमबुद्ध, एवं तदनुप्राणित अहिंसादि पथ—

फलत: अब एक वैसे अंशावतार की आवश्यकता हुई, जो कर्म्म के इस बीभत्स अशास्त्रीय आक्रमण से विश्व की बढ़ती हुई अशान्ति का विरोध करे। ईश्वरता-देवत्त्व आदि की ओर से दृष्टि हटाकर मानव-सुलभ सत्य-अंहिसा-वैराग्य-अस्तेय आदि सामान्यधर्म्मों का प्रचार कर इनके द्वारा समाज का दृष्टिकोण दूसरी ओर मोड़सके। ऐसा ही हुआ। सर्वश्री गोतमबुद्धने यही किया, जैसाकि उनके कर्त्तव्यों, एवं उपदेशों से स्पष्ट है।

७४-बुद्धमत की परम्परानुगति, तथा नूतनता के सम्बन्ध में नीरक्षीरविवेक, एवं ब्राह्मणधर्म्म की प्रतिच्छाया से ही अनुप्राणित बुद्धमत का स्वरूप-दिग्दर्शन—

लोग समझते होंगे, बुद्ध कोई नवीन धर्म्म है। परन्तु इस समझ में बड़ी ही भ्रान्ति है। हमें तो यह स्वीकार कर लेने में अणुमात्र भी आपत्ति नहीं हैं कि, बुद्धमत शाश्वत सनातनधर्म्म का ही (साम-यिक सुधारयुक्त) एक रूपान्तर है। बुद्धने प्रधानरूप से जो तीन उद्देश्य समाज के सामने रक्खे थे, वे ही इस सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक हैं।

७५-संघभावना से विच्छिन्न कलहमूलक कलियुग, शक्तिसञ्चयानुगत 'संघ' वाद, तच्छरणागति, तत्प्रतिष्ठारूप धर्म्म की शरणागति, एवं बुद्धघोषणाएँ—

स्वार्थवश समाज, एवं राष्ट्र की संघशक्ति छिन्न भिन्न होगई थी। पहिला उद्देश्य बुद्ध का यही था कि, बिखरा हुआ राष्ट्रबल पुनः सुसंघठित बन जाय। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंनें सर्वप्रथम —"संघं शरणं गच्छामि" का तुमुलनाद करना आवश्यक समझा। संघठन के प्रचार के लिए ही वीतराग भिक्षुओं के बड़े बड़े संघ स्थापित हुए। साथ ही बुद्ध यह भी समझते थे कि, जबतक संघ का आधार धर्म्म नहीं बनेगा, तबतक संघ स्थिर नहीं रह सकेगा। फलत: संघघोषणा के साथ साथ ही इन्होंनें दूसरी घोषणा की—"धर्म्मं शरणं गच्छामि"।

७६-बुद्धावतार से पूर्व धर्म्मस्वरूप-विमर्श, तद्युगानुगता धर्म्मभावनाओं का कलिमूलक स्वरूपाविर्भाव, बुद्धिशरणात्मक बुद्धियोग के द्वारा ही तन्निस्तारोपाय-प्रदर्शन, एवं तद्रूपान्तर की ही शरणागति से अनुप्राणित बुद्धमत—

क्या बुद्धावतार से पहिले धर्म्म न था ?। था, और अवश्य था। परन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ब्राह्मणधर्म्म एकेश्वरसिद्धान्त को भुला कर नानापर्वों में विभक्त होगया था। दूसरे

शब्दों में-व्यापक धर्म्मने नानामतवादों का बाना पहिन लिया था। और इस विभिन्न मतवाद का मूल-कारण था-मानवसमाज की मानसजगत् की विषयभोगों की ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति। मनुष्य का बुद्धि-तत्त्व लुप्त होगया था, केवल मानस-जगत् का साम्राज्य रह गया था। मनमाने ढँग से धर्म्म को मनमाना रूप दे दिया गया था। बौद्धजगत् मानसजगत् का दास बन गया था। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि पूर्णावतार का समदर्शनमूलक बुद्धियोग विलुप्त होचुका था। इसी का रूपान्तर से पुनरुद्धार करने के लिए, मानसमत को बौद्धधर्म्म का स्वरूप प्रदान करने के लिए ही सर्वश्री बुद्ध का—"बुद्धं शरणं गच्छामि" यह आदेश संसार के सामने आया, जो कि आदेश-"बुद्धौ शरणमन्विच्छ" इस गीतादेश का ही रूपान्तर है।

७७-अवग्रहात्मक सामान्यज्ञान, तथा अवगमात्मक विशेषज्ञान का तारतम्य-समन्वय, सनातन-ब्राह्मणधर्म्म, एवं तत्प्रत्यंशरूप ही बुद्धमत का दिग्दर्शन—

अवग्रहज्ञान का जहाँ मानस के सामान्य-ज्ञान से सम्बन्ध है, अवगम का वहाँ बौद्धक विशेष ज्ञान से सम्बन्ध है। अवग्रहज्ञान की सफलता अवगमज्ञान ही माना गया है (देखिए दा० दृष्टि से आत्मपरीक्षा प्रथम खण्ड)। बुद्धियोग की प्रतिष्ठा यही अवगमज्ञान (बौद्धिक विशेषज्ञान) है। अवगम ही विषयावगति (सम्यक् ज्ञान) का कारण है। सुगतबुद्ध ने अवगमात्मक इसी अवगमभाव की शरणागति का आदेश दिया है। निदर्शनमात्र है। बुद्धमत-सम्बन्धी ऐसे अनेक उदाहरण उपस्थित किए जासकते हैं, जो गीता में अपना मूल ज्यों का त्यों सुरक्षित रख रहे हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हमें मानना पड़ेगा कि, बुद्धमत सनातनधर्म्म, किंवा ब्राह्मणधर्म्म का ही समसामयिक एक नवीनरूप था।

७८-बुद्धमतानुबन्धी आर्य्यसत्यचतुष्टय, दुःखवाद, अनात्मवाद, आदि विभिन्न वादों की मूलप्रतिष्ठात्मक-सर्वधर्म्मस्रोतमूर्त्ति ब्राह्मणधर्म्म का पावन-संस्मरण, एवं तदाधारेणैव राष्ट्र का महाराष्ट्रत्त्व—

इसके अतिरिक्त बुद्धदेव के- आर्यसत्यचतुष्टय, दुःखवाद, अनात्मवाद, अनित्यवाद, जन्म--मृत्यु--जरा--व्याधिवाद, मध्यमपथवाद, (मझिमनिकाय), अशुचिवाद, अविद्यावाद, निर्वाण--तृष्णाक्षयवाद, ज्ञानयज्ञवाद, अनीश्वरवाद, कर्म्मवाद, मैत्र्यादि भावनावाद आदि आदि और और सिद्धान्त भी कोई अपूर्व आविष्कार नहीं हैं। सबका मूल ब्राह्मणधर्म्म में यत्र तत्र ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में इस महासम्प्रदाय को, जिसका विस्तार अतुलित है, हिन्दुत्त्व से पृथक् मान लेना सचमुच ब्राह्मणधर्म्मवादियों की महाभ्रान्ति है। कौन कहता कि-बुद्धमत ब्राह्मणधर्म्म का विरोधी है ?। कौन कहता है कि, वे और हम पृथक् हैं ?। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, जिस दिन हम अपने सीमित दृष्टिकोण को उदार बनालेंगे, उस दिन हमारा आज का स्वल्पकाय राष्ट्र एक महाराष्ट्र के रूप में परिणत होजायगा।

७९–बुद्ध के द्वारा ब्राह्मणधर्म्मात्मक कर्म्ममार्ग में 'बुद्धि' का समावेश-प्रयास, तत्पथानुधर्म्मा अभिनिविष्ट भिक्षुओं के द्वारा 'बुद्धि' की 'बुद्धिवाद' रूप में परिणति, तन्मूला अनर्थपरम्पराएँ, एवं तच्छमनाय भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्य का आविर्भाव, एवं पुनः ब्राह्मणधर्म्मात्मिका सनातननिष्ठा का संस्थापन—

तात्पर्य्य, बुद्धावतार ने कर्म्ममार्ग में बुद्धिवाद का समावेश कर एक नवीन रूप से ही बुद्धियोग का आदर्श तत्कालीन मान समाज के सामने रक्खा। परन्तु अन्ततः तो ठहरा यह मानवसमाज ही। मन की स्वाभाविकी उच्छृंखलता ने पुनः अविद्यापथ का अनुगमन करना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के वास्तविक मर्म्म को न समझ कर तदनुयायी अभिनिविष्ट भिक्षुओं के प्रचार से, तदनुगामी राजवर्ग के सहाह्य से ब्राह्मणधर्म्म पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण होने लगे। अंहिसाने, वैराग्यने, अनीश्वरवादने मूलसंस्कृति की जड़ों पर आघात करना आरम्भ कर दिया। अनेकेश्वरवाद के उपशम के लिए बुद्धदेव की ओर से जिस कल्पित अनीश्वरवाद का थोड़े समय के लिए विकास हुआ था, उसने अनुयायीवर्ग की अविद्या से अभिनिवेश का रूप धारण कर पुनः संसार में एक भीषण परिस्थिति उत्पन्न करदी। इसी परिस्थिति को सँभालने के लिए भगवान् शङ्कराचार्य्य का अवतार हुआ। अनेकेश्वरवाद से जनता पहिले ही कटु अनुभव कर चुकी थी। अतएव श्रीशङ्कर ने एकेश्वरवाद को आगे करते हुए, अद्वैतब्रह्म की स्थापना से ही पुनः ब्राह्मणधर्म्म को प्रतिष्ठित किया। साथ ही शङ्कर यह भी अनुभव कर रहे थे कि, यदि ब्राह्मणधर्म्म के विधि भाग के द्वारा सम्मत यज्ञकर्म्म को सहसा जनता के सामने पुनः रख दिया जायगा, तो जनता भड़क उठेगी। क्योंकि अनेकेश्वरवाद की ही भाँति यह यज्ञकर्म्म भी समाज को त्रस्त कर चुका था। इन्हीं सम्पूर्ण परिस्थियों को लक्ष्य में रखते हुए आचार्य्यने अनीश्वरवाद का आमूलचूड़ उन्मूलन करने ही में लोकसंग्रहरक्षा की दृष्टि से बुद्धसम्मत जगन्मिथ्यात्ववाद को सुरक्षित रखते हुए, अनेकेश्वरवाद की उपेक्षा सी करते हुए ब्राह्मणधर्म्म के उपनिषत् भाग के द्वारा सम्मत ज्ञानयोग का ही आदर्श समाज के सामने रखना आवश्यक समझा। कहना न होगा कि, ब्राह्मणधर्म्म के इस संशोधितरूपने एकबार पुनः भारतवर्ष में इसी का प्राधान्य उपस्थित कर दिया था।

८०–श्रीशङ्कर के मायिक अद्वैतमार्ग का कालान्तर में शैथिल्य, तत्संशोधन के लिए सज्जीभूत वैष्णवधर्म्म--परायणा भागवत--सम्प्रदाएँ, तन्मूला साम्प्रदायिकी भक्ति, एवं विधि के दुर्विपाक से कालान्तर में उसका भी स्वरूपाभिभव—

आचार्य्य श्रीशङ्कर का अद्वैतमार्ग भी अधिक समय पर्य्यन्त सुरक्षित नहीं रह सका। वह विश्वतीत अद्वैतवाद, वह कर्म्मवैराग्य, वह सगुणोपासनाका तिरस्कार जनता अधिक समय पर्य्यन्त सहन न कर सकी। योग के प्रबल समर्थक स्वश्री कुमारिल, मण्डनादि तो शंकरकाल में ही पनप चुके थे। कुछ ही समय पीछे भगवत्पाद रामानुज-वल्लभ-निम्बार्क–माध्व–आदि परम भागवत अवतारोंनें भक्तियोग को जाग्रति प्रदान की। शंकर का अद्वैतवाद लुप्तप्राय होगया। भागवत-सम्प्रदायोंनें भक्ति का पूर्णरूप से प्रसार कर दिया। कर्म्म-ज्ञान-मार्गों में भक्तिसुधा प्रवाहित कर दोनों नीरस पथों को सरस बना दिया गया। परन्तु शतशः प्रणाम है उस कालपुरुष को, और विधि के उस विचित्र विधान को, जिसने इस भागवत–सम्प्रदाय को भी चिरकाल पर्य्यन्त स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं न रहने दिया।

८१–भागवत--सम्प्रदायाचार्य्यों के मूलसिद्धान्तों के अभिभवकर्त्ता सम्प्रदाय के व्याख्याता, तत्र परम--भागवत--शुद्धाद्वैत--सम्प्रदाय--प्रवर्त्तक आचार्य्यप्रवर की मान्यताओं का पावन--संस्मरण—

भागवत--सम्प्रदायों के आविर्भावक मूल आचार्यों के मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण करने पर विज्ञ पाठकों को बिना किसी नच नुच के यह मान ही लेना पड़ेगा कि, प्रत्येक आचार्य्य ने अपनी सम्प्रदाय के मूल में प्रस्थानत्रयी (गीता-व्याससूत्र-उपनिषत्) को ही प्रतिष्ठित किया है। इन भागवत वैष्णवाचार्य्यों का भक्तिमार्ग शास्त्रनिष्ठा को, शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म को मूल मान कर ही आगे बढ़ा है। उदाहरण के लिए वल्लभसम्प्रदाय को ही लीलिए, जिसने "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि। समाधिभाषाव्यासस्य" कहते हुए अपनी अपूर्व शास्त्रनिष्ठा ही सिद्ध की है, जिस का कि पूर्वखण्डान्तर्गत 'प्रतिमापूजन, और उपासना' नामक प्रकरण के आरम्भ में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

८२–विभिन्न--साम्प्रदायिक--संघर्षों के दुस्परिणामस्वरूप--आततायी- विदेशियों का भारतराष्ट्र में प्रवेश, तद्द्वारा देश--दुर्दशा, एवं अन्ततोगत्त्वा अनन्यशरण--भगवान् 'राम' के महान् संस्मर्त्ता महात्मा तुलसी का प्रादुर्भाव, एवं तद्द्वारा रामभक्ति के माध्यम से धर्म्मनिष्ठा का अंशतः संरक्षण--प्रयास—

हुआ क्या ?, सुनिए। स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थलीलाने आगे जाकर वैष्णव–सम्प्रदायों के मौलिक सिद्धान्तों को सर्वथा कुचल कर केवल कल्पना के आधार पर इन्हें नवीन ही स्वरूप देडाला। भक्तिप्रसारक भागवत धर्म्म भुक्तिप्रसारक बन गया। ईश्वरपूजा का स्थान व्यक्तिपूजाने छीन लिया। उपासना की साधनरूपा भगवत्प्रतिमाएँ विलासलीला की साधिका बना डालीं गई। शान्तिसंवाहक आचार्य्योंका सन्देश गृहकलह का कारण बना दिया गया। शैव–वैष्णवों में परस्पर वह सिरफुटव्वोल चली, वह द्वन्द्व चला, जिसे देख सुनकर हृत्कम्प होजाता है। शास्त्रों को अपने मतवाद-पोषण का साधक बना कर उन का वास्तविक तात्पर्य्य सर्वथा तिरोहित कर दिया गया। भक्तिमार्ग ने ज्ञान–वैराग्य का परित्याग कर वर्णाश्रमधर्म्म की सर्वथा उपेक्षा ही कर दी।

८३–महात्मा--तुलसी के युग से अनुप्राणिता भयावहा विषमा स्थिति, एवं पण्डितम्मन्यों के उच्छृंखलवाद—

उधर इसी युग में देश के दुर्भाग्य से देश विधर्म्मियों के हाथ चला गया। उनके संसर्ग से यहाँ की संस्कृति पर अत्यन्त ही दूषित प्रभाव पड़ा। संस्कृतभाषा का प्रचार प्रसार अवरुद्ध होगया। संस्कृतज्ञ विद्वान् सम्प्रदायभक्ति के आवेश में पड़कर केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों के, नाममात्र के लिए दर्शनादि-ग्रन्थों के जाल में फँस गए। वैदिक-संस्कृति लुप्त होगई। सच्छास्त्र पाखण्ड–विवाद से लुप्त होगए। जनता के मुख से एक स्वर से त्राहि माम्! त्राहि माम्!! की पुकार निकल पड़ी। दुःखी अन्तःकरणों से पुनः उसी अन्तिम आश्रयभूत "राम" नाम का विनिर्गम हुआ। और आर्य्यजाति के सौभाग्य से इस नाम को पुनः–प्रोत्साहित किया स्वनामधन्य गोस्वामिप्रवर सर्वशास्त्रमर्म्मज्ञ महात्मा तुलसीने।

८४–युगधर्म्मानुगता स्थिति के परपारदर्शी महात्मा तुलसी के द्वारा 'लोकभाषा' के माध्यम से ही 'रामचरित--मानस' का प्रणयन, एवं गीता, तथा रामायण के द्वारा ही आर्षसंस्कृति का आंशिक-संरक्षण--

तुलसी के सामने परिस्थिति अवश्य ही भयानक थी। तुलसी ने देखाकि, सम्प्रदायों ने भक्ति की ओट में वर्णाश्रमधर्म्म का गला घोंट डाला है! विदेशियों के संसर्ग से संस्कृतभाषा लुप्त होगई है। परिणाम इस का यही हो रहा है कि, अधिकांश में मानवसमाज स्वयं शास्त्रमर्म्म समझने में असमर्थ रहता हुआ उन अभिनिविष्ट पण्डितों के हाथ की ही कठपुतली बन रहा है, जोकि पण्डितम्मन्य स्वार्थसाधन को आगे करते हुए शास्त्रों के वास्तविक मर्म्म को उलटा सीधा समझा ने का पापकर्म्म कर रहे है।

८५–नामस्मरणात्मिका भक्ति का वर्त्तमानयुगनिबन्धन सर्वथा आलोच्य--दृष्टिकोण –

इन्हीं सब परिस्थितियों का अथ से इतिपर्य्यन्त अध्ययन कर महात्मा तुलसी इस निश्चय पर पहुँचे कि, इस समय समाज को ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो सामयिकभाषा में हो, जिस में सामयिक भाषा के द्वारा शास्त्रों का वास्तविक मर्म्म रक्खा जाय, वर्णाश्रमधर्म्म का मौलिक रहस्य प्रतिपादित रहै, और इस सब शास्त्रीय मार्गों का आधार बने "भक्तिवाद"। इसी उद्देश्य की सिद्धिके लिए तुलसी के द्वारा रामायण का आविर्भाव हुआ। कहना न होगा कि, तुलसी अपने उद्देश्य में सर्वात्मना सफल हुए। और आज इस भीषण युग के भीषण आक्रमणों को सहती हुई भी आर्य्यजाति यथाकथञ्चित् जो जीवित है, इस का प्रधान श्रेय तुलसी की रामायण को ही मिल सकता है। स्मरण रखने की बात है कि, उपदेश हमें चाहिए कृष्ण का, तो आदर्श चाहिए राम का। कृष्ण के गीत सुनें, राम अयन (गमन) का अनुसरण करें, इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर आर्य्यजाति जीवित रह सकती है। वह भक्तिमार्ग किस काम का, जिस में न कृष्ण का गीत हो, न राम का अयन हो। कृष्ण के बुद्धियोग से, एवं रामप्रदर्शित वर्णाश्रमधर्म्ममर्य्यादा से वञ्चित भक्तिमार्ग कभी त्रिकाल में भी रामकृष्ण के भक्तों का तो उद्धार नहीं कर सकता।

८६–भक्तों की घोषणा के माध्यम से प्रचलिता नामभक्ति के द्वारा विविध अनाचारों का आविर्भाव—

नामस्मरण अच्छा है, सर्वोत्तम है, परन्तु वर्णाश्रमानुमगन को मूल बना कर ही। संकीर्त्तन अच्छा है, परन्तु लोकसंग्राहक लौकिक–वैदिक कर्म्मों को मूल बना कर ही। कहना न होगा कि, प्रचलित मार्ग ने इस सब विभूतियों से वञ्चित करते हुए हमें सर्वथा अकर्मण्य हीं बना डाला है। मानो भक्ति एक बाजारू सौदा हो। और सभी बड़ी सुगमता से उसे खरीद सकते हो ?। आज जिसे देखो, यही भक्तराज बना हुआ है। गली गली में कीर्त्तन होरहे हैं। मानो शास्त्रनिष्ठाओं का कीर्त्तन होरहा हो। जिस भक्तिमार्ग में ज्ञान का समावेश नहीं, वैराग्य का गन्ध नहीं, कर्म्म का संग्रह नहीं, वह कैसी भक्ति ?, और कैसे उस के ये अनुयायी स्वार्थसाधक वञ्चक ?।

८७–नामभक्तिव्याज से विरोषणा के समर्थक--पूरक--नामभक्तों के प्रचलित, सर्वविनाशक अकाण्ड--ताण्डवों का नग्नचित्रण, एवं तन्निरोधार्थ प्रज्ञाशीलों से किञ्चिदिव आवेदन—

जिन भक्तवरों की दुहाई देकर आज के ये भक्त्यभिमानी जन्तु शास्त्रनिष्ठा की अनावश्यकता उद्घोषित कर रहे हैं, हम उन्हीं से यह पूँछते हैं कि, बतलाइए, वैसे भक्त संसार में कितने हुए हैं ?। यदि जन्मान्तर-

निष्ठाओं के प्रभाव से दस–बीस–(सौ–पचास–अथवा -दस–बीस हजार–असम्भव) ऐसे महात्मा प्रकट होगए, जिन में प्रत्यक्ष में शास्त्रनिष्ठा का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, तो एतावता ही यच्चयावत् मनुष्य उसी अनधि–कृत मार्ग पर चलने लगें, क्या यह सम्भव होगा ?। अभ्युपगमपक्षवादका आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि, संसार के सभी मनुष्य इस पथ के अनुगामी बन सकते हैं, ऐसी दशा में संसार संसार रहेगा, अथवा पीड़ितों का करुण–क्रन्दस्थल, यह भी विचारणीय बात है ।

८८–वर्त्तमान भक्तिवाद के अकाण्ड- ताण्डवों का नग्न चित्रण —

जो भक्तिमार्ग वर्णाश्रमसम्मत आचार-व्यवहारों की न केवल उपेक्षा ही करता हो, अपितु निन्दा करता हो, जहाँ का भक्तिमार्ग भगवत्–प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा पर बलवत् रूपसे से आक्रमण कर रहा हो जो भक्तिमार्ग मानवसमाज को स्वाभाविक वर्णसिद्ध कर्म्म से वञ्चित रखता हो, जो भक्तिमार्ग वेदादिशास्त्रों को एक ओर रख कर विशुद्ध कल्पना का अनुगमन करता हो, जिस भक्तिमार्ग में शास्त्रमर्म्मशून्य, वर्ण से भी अनधिकारी दम्भी व्यक्ति ब्राह्मणमण्डली को उपदेश दे रहे हों, जिस भक्तिमार्ग में भक्ति के व्याज से भोली जनता को धोका देकर अर्थसञ्चय किया जारहा हो, जिस भक्तिमार्ग के अनुसरण से हम अपने स्वाभाविक कर्म्म से वञ्चित हो-जायँ, जिस भक्तिमार्ग के आक्रमण से देश का मौलिक साहित्य, विज्ञान, दर्शन, शिल्प, कला सब कुछ आपत्ति में पड़जायँ, कर्म्मज्ञानशून्य भक्ति का वह अशास्त्रीय पथ और देशों की बात तो जाने दीजिए, कम से कम आर्य्यावर्त्त के लिए, इस कर्म्मभूमि के लिए तो कभी अभ्युदयकर सिद्ध नहीं हो सकता । अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है । क्या हम आर्य्यावर्त्त के विद्वानो से यह आशा रक्खें कि, वे संघठितरूप से इस भयावह कल्पित भक्तिमार्ग का अवरोध कर आर्य्यावर्त्त की मौलिकता बचाने के लिए कोई प्रयास करेंगे ?।

८९–भक्ति के प्रासङ्गिक प्रक्रान्त इतिवृत्त का विराम, भक्तिस्वरूप की ओर आकर्षण प्रयास, भक्तिरूपा उपासना, तथा तन्निबन्धन उपास्य, एवं तद्विशेषभावों का संस्मरण–

प्रासङ्गिक–भक्ति–वक्तव्य समाप्त हुआ । अब भक्ति के स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो कि इस प्रकरण का मुख्य विषय है । उक्त प्रासङ्गिक वक्तव्य से ही भक्ति का स्वरूप भी अधिकांश में गतार्थ होजाता है । केवल स्पष्टीकरण–अपेक्षित है । ईश्वरप्रजापति-ध्यानलक्षणा उपासना, यज्ञप्रजापति-कर्म्म-लक्षणा उपासना, विराट्प्रजापति-कर्म्मलक्षणा-उपासना, विश्वप्रजापति-कर्म्म-लक्षणा–उपासना, प्रतिमोपासना, अवतारलीलोपासना, नामस्मरणोपासना, संकीर्त्तनोपासना, आदि आदि उपासनामार्ग के जितने भी अवान्तर भेद अधिकारी की योग्यता के आधार पर व्यवस्थित हैं, वे सभी उपासनामार्ग शास्त्रसम्मत हैं, अतएव सर्वथा मान्य, एवं सर्वथा उपादेय हैं ।

९०–भक्तिनिबन्धन साध्य–साधन–भावों का स्वरूप- संस्मरण, भक्ति के मध्यस्थ आधार का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, अधिदैवत, तथा अधिभूत–मूलक भक्तिकाण्ड, 'यस्य नाम महद्यशः' का प्रासङ्गिक–संस्मरण, श्रुति के–'नामैवैतत्', एवं 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि सन्दर्भोंका दिग्दर्शन, और भक्तिपथानुगत महतोमहीयान् राजमार्ग का स्वरूप–समन्वय—

"जीवात्मा उक्त किन्हीं भी साधनों में से किसी एक भी साधन को उपासना का माध्यमिक साधन बनाता हुआ उस उपास्य तत्त्व की घनशक्ति से युक्त होकर भूमाभाव में परिणत होजाय" उपासनाकाण्ड का

एकमात्र यही चरम लक्ष्य है। उपासना के सभी साधन साधन हैं, भौतिक हैं, अतएव अविद्यारूप हैं, आवरण रूप हैं, असत्य हैं। परन्तु यह भी निश्चित है कि, असत्य साधन हीं सत्यतत्त्वकी प्राप्ति के कारण बन सकते हैं। क्षरात्मक असत्य आवरण को हटाने के लिए अक्षर की प्रतिच्छाया से युक्त उस क्षरावरण का, दूसरे शब्दों में भौतिक आवरण का ही आश्रय लेना आवश्यक है। "भौतिक आवरण को माध्यमिक बनाने से जीवात्मा में जड़ता का उदय होगा" इस तर्क का उपासनाकाण्ड में कुछ भी महत्त्व नहीं है। क्योंकि उपासनासिद्धान्त के अनुसार भौतिक साधन पर केवल दृष्टि रहती है। मनोयोग रहता है, उसी व्यापक उपास्य पर ही। **"अन्य पर दृष्टि, अन्य पर मन"** यही उपासनासिद्धि का मूल मार्ग है। **"अधिभूत पर दृष्टि, अधिदैवत पर मन"**, यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है। हाँ, उस दशा में उपासनाकाण्ड अवश्य ही आवरक बन जाता है, जबकि उपासक साधनों को ही साध्य मान बैठता है। भगवत् प्रतिमा पर दृष्टि, जिस व्यापक ब्रह्म की यह कल्पित प्रतिमा है, उस ब्रह्म के साथ मनोयोग, यही उपासना उपासना है। नाम दृष्टि स्थिरता मात्र का कारण है। आत्मयोग, किंवा मनोयोग तो उसके साथ होना चाहिए, जिस का यह नाम है–**'यस्य नाम महद्यशः'**। यदि आप केवल नाम पर ही रह जाएँगे, तो श्रुति--**"नामैवैतत्"** कह कर आपका तिरस्कार कर देगी। **"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"** के अनुसार नाम–प्रतिमात्मिका शास्त्रसिद्धा-ज्ञानकर्म्मात्मिका, अपरा–प्रकृतिलक्षणा अपराविद्या क्षरात्मिका बनती हुई अविद्या है। साधनावस्था में हीं इसका महत्त्व है। साध्यदशा में तो उस पराविद्यात्मक अक्षरतत्त्व को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। यही उक्त श्रुतिस्वारस्य है। एवं इस स्वारस्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में शास्त्रीय पथ का ही अनुसरण आवश्यक है। क्योंकि यही मार्ग हमारे लिए राजमार्ग बनता है।

६१–शास्त्रीया कर्म्म--धर्म्म-निष्ठा से वञ्चिता नामभक्ति से सम्भावित भीषण--परिणाम, एवं तन्निबन्धन अधात्मक--आत्मपचन का दिग्दर्शन—

यदि शास्त्रीय ज्ञानकर्म्म की अवहेलना कर शास्त्ररूप लोकातीत महात्मा भक्तों की देखे देखी हम सामान्य लौकिक मनुष्य भी केवल नामपरायण बन जाएँगे, तो पद पद पर पतन का भय रहेगा। हमारा निर्बल आत्मा नाम के उस अतुलित भार को उठाने मे समर्थ ही नहीं होसकेगा। इसप्रकार भागवत पुरुषों के आदेशों की उपेक्षा कर केवल उन के आचरण की नकल करने से ही हम कर्त्तव्य से विमुख होजाएँगे। हमारी गृहस्थमर्य्यादा छिन्न भिन्न होजायगी। हम लोकसंग्रह के विरोधी बन जायँगे। लोकसमुन्नतिमूलक कार्य्यों के सहयोग से वञ्चित होते हुए हम केवल आत्मवञ्चन के ही कारण बने रह जाएँगे।

६२ शास्त्ररूपा अर्गला से नियन्त्रित भक्तिमार्ग का ही वास्तविक भक्तिपथत्त्व, शास्त्र–निष्ठा से अनुप्राणिता गीता के द्वारा संशोधित ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक-बुद्धियोगरूप–भक्तियोग का तात्त्विक -स्वरूप--समन्वय—

शास्त्र ही हमारे लिए एक ऐसी अर्गला है जो कि, समय समय पर हमें उत्पथ मार्ग की ओर जाने से रोकती रहती है। पाप का भय ही हमें कर्त्तव्य की ओर आकर्षित करता है। इन सब परिस्थितियों को सामने रखते हुए हम सामान्य अधिकारियों का यही आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, विधिनिषेधात्मक शास्त्र को ही स्वकर्त्तव्य–कर्म्म के सम्बन्ध में प्रधान निर्णायक मानते हुए तदनुसार ही राजमार्गात्मक भक्तिपथ

का अनुसरण करें, जो राजमार्गात्मक भक्तियोग गीताशास्त्र में (राजविद्यासिद्ध)-''ऐश्वर्य्यबुद्धि'' योग नाम से प्रसिद्ध हुआ है। गीता की दृष्टि से ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग ही उपासना का वास्तविक स्वरूप है, जिस का कि संक्षिप्त निरूपण इसी उत्तर खण्ड की समाप्ति पर होने वाला है।

६३-लोकप्रचलिता योगत्रयी, शास्त्रीया योगत्रयी, एवं संशोधिता योगत्रयी के पारस्परिक-रहस्यात्मक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

सम्भवतः अब पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि, लोकप्रचलित ज्ञान, कर्म्म, भक्ति-योगत्रयी, शास्त्रीय-ज्ञान, कर्म्म, भक्ति-योगत्रयी, एवं गीतासम्मत ज्ञान, कर्म्म, भक्तियोगत्रयी, इन तीनों में अहोरात्र का अन्तर है। पूर्व की कर्म्मयोगपरीक्षा, एवं ज्ञानयोगपरीक्षा के उपसंहार में, और भक्तिपरीक्षा के पूर्वखण्ड में यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार इन तीनों त्रिकों का स्पष्टीकरण किया जाचुका है। तीनों में से लौकिक त्रयी को तो छोड़ दीजिए। प्रकरणसङ्गति के लिए शास्त्रीय, एवं गीतासम्बन्धी दो योगत्रयी-भावों पर पुनः एक बार दृष्टि डाल लीजिए।

६४-शास्त्रीया योगत्रयी का सम्भावित तात्पर्य्य, एवं तत्संशोधित--शास्त्रीय--स्वरूप का सोदाहरण--स्पष्टीकरण--प्रयास—

शास्त्रीया योगत्रयी का तात्पर्य्य यही है कि, यद्यपि शास्त्र ने तीनों योगों का स्वरूप वही बतलाया था, जो कि गीता में प्रतिपादित हुआ है। परन्तु आगे जाकर मानव समाज के तत्तद्विशेष-व्यक्तियोंनें अभिनिवेश-वश उन तीनों का स्वरूप विकृत कर डाला। क्योंकि इन तीनों विकृत स्वरूपों का मूल शास्त्रीय योगत्रयी ही बनी थी। केवल इसी मूल सादृश्य को लेकर इस अशास्त्रीय, किंवा कल्पित, किंवा दूषित योगत्रयी को भी शास्त्रीय योगत्रयी नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। इस शास्त्रीय दूषित योगत्रयी के निम्नलिखित लक्षण किए गए हैं, किंवा किए जासकते हैं, किंवा किए जायँगे।

६५-ज्ञानयोगः शास्त्रीयः, कल्पितः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः---(१)

सांसारिक दुःखी से बचने के लिए प्रत्येक मनुष्य का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, सबसे पहिले वह यह विश्वास करे कि, नाम-रूप-कर्म्मात्मक यह दृश्य जगत् सर्वथा मिथ्या है, निःस्सार है, मृगमरीचिका है। इस जगन्मिथ्यात्त्ववाद की भावना को दृढ़मूल. बनाकर निःश्रेयस्भाव (मुक्ति) का आकांक्षी मनुष्य पुत्र-लोक-वित्त आदि सब कुछ छोड़ता हुआ संन्यास धारण करले। लौकिक वैदिक समस्त कर्म्मों का-एकान्ततः परित्याग करदे। निराहार, इन्द्रियसंन्यम आदि उपायों के द्वारा शरीर की काम-वासनाओं का बलात्कार से नियन्त्रण करता हुआ सर्वत्र सदा ''अहं ब्रह्मास्मि'' मूलक अद्वैतभाव की ओर झुकता हुआ केवल आत्मचिन्तन में हीं निमग्न रहै। भूल कर भी कर्म्मपथ की ओर दृष्टि नहीं डाले। क्योंकि कर्म्म प्रत्येक दशा में विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति आत्मा

का स्वरूप आवृत करने वाला है। जबतक यह विशुद्ध ज्ञानयोग का अनुगामी नहीं बन जायगा, तबतक इस सांसारिक दुःखपाश से कभी इस का छुटकारा नहीं होसकेगा, नहीं होसकेगा।"।

—१—

६६–कर्म्मयोगः शास्त्रीयः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः—(२)

"कोई भी विचारशील इस सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता कि, मानवसमाज के दुःख का संसार कारण नहीं है, अपितु आवश्यकताओं की अपूर्त्ति है। मनुष्य के लिए स्वास्थ्य-प्रद भोजन, विनोद–सामग्री, समृद्ध वैभव, आदि जो सुख सामग्री अपेक्षित है, वह यदि यथेच्छ यथावसर मिलती रहती है, तो यह कभी दुःखी नहीं होता। दुःखी तभी होता है, जब कि आवश्यकता, एवं इच्छानुसार भोगैश्वर्य्य–सम्पत्ति नहीं मिलती। क्यों नहीं मिलती ?, इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। प्रकृति-विरुद्ध जाने से कर्म्म का स्वरूप बिगड़ जाता है। दूसरे शब्दों में–मनुष्य के दूषित अशास्त्रीय कर्म्मों से प्रकृति का स्वरूप बिगड़ जाता है। प्रकृतिकोप में यह इच्छापूर्त्ति में विफल–मनोरथ रहता है। ऐसी दशा में इस का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, यह प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों का ही अनुगामी बना रहै। उन प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों के यज्ञ, तप, दान, इष्ट, आपूर्त्त,, दत्त आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। ये सब वेदविहित वैज्ञानिक कर्म्म हैं। इन के अनुष्ठान से यह समृद्ध रहेगा, एवं परलोक में भी स्वर्गादि उत्तम सुखों का अधिकार प्राप्त कर लेगा। **इसप्रकार यावज्जीवन तत्तत् फलकामनाओं की सिद्धि के लिए तत्तत् विशेष यज्ञादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहना हीं कर्म्मयोग कहलाएगा, एवं यही कर्म्मयोग मनुष्य के वैय्यैक्तिक अभ्युदय का मूलकारण बनेगा"।**

—२—

६७–भक्तियोगः शास्त्रीयः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः—(३)

"सांसारिक भोगवैभव सुख के कारण हैं, इस सिद्धान्त में लेश भी तथ्य नहीं हैं। हम देखते हैं कि, जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य उत्तम है, साथ ही जिन के समीप पुत्रकलत्रादि प्रजासम्पत्ति, गृह-प्रासाद-वनोपवन-द्रव्यादि भौतिक सम्पत्ति, शासनबल आदि भी पर्य्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, वे भी अन्तर्जगत् में अशान्ति का ही अनुभव करते देखे गए हैं। और प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है—(अनुभव किया जाता है) कि, सबकुछ साधन–सामग्री के रहते हुए भी, सबकुछ कर्म्म करते हुए भी यदि किसी अज्ञात कारणवश हमारा चित्त अशान्त रहता है, तो हमारा वे कर्म्म,एवं कर्म्म से

प्राप्त भौगवैभव-सुख के स्थान में दुःख के ही कारण बने रहते हैं। इस के अतिरिक्त क्षणिक कर्म्म से प्राप्त सुख साधक भौतिक वैभव भी क्षणिक ही माने जायँगे। जिस सुख की लालसा से हम कर्म्म करते हैं, कर्म्म सफल होता है, कर्म्म से सुखसाधक भोगवैभव प्राप्त होते हैं, वे भोगवैभव क्षणिक कर्म्म के आधार पर प्रतिष्ठित रहने के कारण हमारे देखते ही देखते ही विलीन होजाते हैं। और आगतवैभव की यह विनिष्टि हमें उस पूर्वावस्था से भी अधिक दुःखी बना डालती है, जिस अवस्था में कि हमारे समीप वे वैभव नहीं थे। ऐसी दशा में भौगवैभवप्राप्ति-साधक कर्म्म को सुख का कारण मान लेना कथमपि सुसङ्गत नहीं कहा जासकता। अवश्य ही अपने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए अज्ञानवश कृत कुकर्म्म-जनित पापसंस्कारों को दूर करने के लिए हमें किसी तीसरे ही मार्ग का अनुगमन करना पड़ेगा, और वही मार्ग होगा सुप्रसिद्ध भक्तियोग। संसार का वैभव क्षण क्षण में परिवर्त्तित होता रहता है। महा महा वैभव क्षणमात्र में स्मृतिगर्भ में विलीन होजाते हैं। परन्तु इस नाशलीला के अणु अणु में व्याप्त उस जगदीश्वर पर इस उत्पत्ति-नाश का कुछ भी तो प्रभाव नहीं होता। बस हमें इसी के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए, जिस से कि इस के अनुग्रह से, इस की कृपा से मृत्युसंसारसागर, में हम त्राण पासकें। इसप्रकार आत्मज्ञान, यज्ञादिकर्म्म, आदि सब का परित्याग कर हमें खाते पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते, सदा, नाम, प्रतिमा आदि को आधार बनाकर प्रणतभाव से उसी का स्मरण, अर्चन, गायन करते रहना चाहिए। इस प्रणतभाव से वह हम पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करेगा, हमारे अनेक जन्म-सञ्चित पाप धो देगा, हम चिरन्तन-शान्ति के अनुगामी बन जायँगे। और यही सर्वोत्तम मार्ग भक्तियोग कहलाएगा।

—३—

९८-महाभारतयुग से पूर्वस्थिति, तदनुप्राणिता शास्त्रीया योगत्रयी का संस्मरण, तद्भेदनिबन्धना मानववर्गत्रयी, तत्सम्बद्धा निष्ठात्रयी, एवं 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' का स्वरूप-समन्वय प्रयास, तथा गीता की तृतीया भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

महाभारतकालानुगत गीतोपदेश से पहिले मानवसमाजने दुःख से त्राण पाने के लिए इन्हीं उक्त तीनों-शास्त्रीय-योगों को अपना रक्खा था। योगत्रयी के भेद से तत्कालीन मानवसमाज तीन श्रेणियों में विभक्त होरहा था। तीनों में परस्पर अहमहमिका चलती रहती थी। हिरण्यगर्भानुयायी कर्म्मठ मीमांसक यज्ञादिकर्म्म-प्रवृत्ति की ही सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर रहे थे। कपिलानुयायी सांख्य कर्म्मनिवृत्ति को ही निःश्रेयस का अन्यतम कारण मान रहे थे। एवं पुराणमतानुयायी भगवान् के अनुग्रह को ही सर्वेसर्वा मान रहे थे। यह स्मरण रखने की बात है कि देवयुग, एवं सत्ययुग में उक्त पौराणिक भक्तिमार्ग का विकास नहीं हुआ था। उस समय

भक्तिनिष्ठा योग (कर्म्म), सांख्य (ज्ञान) इन दोनों में ही अन्तर्भूता थी। इसलिए देवयुगकालीन योगों का सिंहावलोकन करते हुए भगवान्--ने "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ !" यही कहा है। त्रेतायुग से ही भक्ति का उक्त पौराणिकरूप आविष्कृत हुआ, एवं द्वापर पर आते आते तो ज्ञान–कर्म्म–भक्ति, तीनों में से यह भक्तिमार्ग ही प्रधान बन गया। इसी लोकरूढि को संशोधनपूर्वक आदर देने के लिए द्वापरान्त में होने वाली अपने गीतोपदेश की पुनरावृत्ति में भगवान् को दो लोकनिष्ठाओं से अतिरिक्त इस तीसरी भक्तिनिष्ठा का भी समावेश करना पड़ा। इसके लिए भगवान् को स्वतन्त्ररूप से राजविद्या-रहस्यपूर्वक ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का निरूपण करना पड़ा, जो कि ऐश्वर्य्यबुद्धियोग गीता का भक्तियोग कहलाया।

९९–लोकप्रचलिता निष्ठात्रयी से अनुप्राणिता दोषों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं तत्संशोधक गीताशास्त्र के योगत्रयी से अनुप्राणित एक महान् लोकसंग्राहक--दृष्टिकोण का स्वरूप--समन्वय—

लोकप्रचलित तीनों निष्ठाओं में क्या दोष थे, जबकि उनका आधार निर्दोष शास्त्र था ?। इसके समाधान की कोई आवश्यकता नहीं है। एक सबसे बड़ा दोष यही था–कि, तीनों योग अपेक्षया लोकसंग्रह से वञ्चित होकर केवल स्वार्थलिप्सा की सिद्धि के ही कारण बन रहे थे। पाठक यदि अथ से इति पर्य्यन्त गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालेंगे, तो सर्वत्र उन्हें उन अक्षरों से यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ेगी कि, **"तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारा कर्म्म, तुम्हारी भक्ति ऐसी होनी चाहिऐ, जिससे तुम्हारे साथ साथ संसार का भी बहुत, किंवा थोड़ा उपकार हो"**। स्वार्थयुक्त परमार्थमार्ग ही विश्वशान्ति की, लोकाभ्युदय की, लोकसंग्रह की मूल प्रतिष्ठा है, इस सार्वजनीन–सिद्धान्त में किसी को कुछ भी तो विप्रतिपत्ति नहीं होसकती।

१००–सीमाभावात्मक 'स्वार्थ' की स्वरूप--मीमांसा, भूमाप्रतिबन्धक, तथा शान्तितुष्ट्यादि प्रवर्त्तक भूमाभाव, एवं 'परस्परं भावयन्तः' मूलक सहयोग से अनुप्राणित योग का स्वरूप--समन्वय —

स्वार्थ एक सीमाभाव है। सीमाभाव प्रत्येक दशा में भूमा का विरोधी है। शान्ति, तुष्टि, तृप्ति, आनन्द का वास्तविक स्वरूप भूमा ही है। अनुभव की बात है कि, ज्यों ज्यों हम अपनी दृष्टि, मन, बुद्धि आदि को सीमित बनाते जायँगे, संकुचित करते जायँगे, त्यों त्यों इन्द्रिय, मन, बुद्धि–सहकृत शरीराभिमानी शारीरक-आत्मा (जीवात्मा) की शक्तियाँ (स्वाभाविक विकास) भी सीमित, एवं संकुचित होतीं जायँगीं। परिणाम इस शक्तिसंकोच का यह होगा कि, हम अपने अभिलषित पदार्थों की केवल आशा ही आशा तो करते रहेंगे, परन्तु तदनुकूल कर्म्म हमसे नहीं होसकेगा। सदा हम अपने आपको असमर्थ ही पाएँगे। क्योंकि हमने हमारी अध्यात्मसंस्था को केवल अपने लिए नियत रक्खा, दूसरों को लाभ पहुँचाने की ही चेष्टा नहीं की, अपितु दूसरों को स्वार्थप्रतिबन्धक समझकर उन्हें हानि पहुँचाने का ही जघन्य प्रयत्न किया। अतएव हमारे उस कार्य्य में (जिसे कि हमारी अल्पशक्ति पूरा नहीं कर सकती) उन दूसरों का कोई सहयोग मिलेगा, और उस सहयोग से हम अपना कर्म्म सफल बनालेंगे, इसकी भी कोई आशा नहीं रही। यही क्यों, जब दूसरों के कर्म्म में हमारा सहयोग नहीं, अपितु हम उनके विरोधी हैं, तो वे भी हमारे कर्म्म में बाधा उपस्थित करें, इसमें कौनसा आश्चर्य है। और उस दशा में हम अपनी रही सही शक्ति को भी न पनपा सकें, तो इसमें भी क्या आश्चर्य है ?।

१०१–सुख--शान्ति--विघातिका स्वार्थपरायणता, तज्जनित--शोक--परिताप, तन्मूला आसक्ति, तदनुगत पाशबन्धन, एवं आत्मविभूति का आत्यन्तिक अभिभव—

इसप्रकार हमारी स्वार्थपरायणता ही आगे जाकर सुख शान्ति के स्थान में शोक-परिताप का ही कारण बन जाती है। इस समान्य लौकिक दृष्टि से भी स्वार्थपरायणता एक हानिकरवृत्ति ही सिद्ध होती है। शास्त्रीय आत्मदृष्टि के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। स्वार्थभाव आत्मा की व्यापकता पर आघात करता है। स्वार्थमयी वृत्ति आसक्ति को प्रधानरूप से अपना प्राघुणिक बनाती है। आसक्तिभाव किस प्रकार हमारी आत्मविभूति का सर्वनाश कर डालता है ?, यह स्पष्ट किया ही जाचुका है।

१०२–शास्त्रीया लोकप्रचलिता योगत्रयी से अनुगता दोषभावना का स्वरूप-दिग्दर्शन, कर्म्मत्यागमूला महती भ्रान्ति, आसक्तिभाव निबन्धन महादोष, तथा दैवत–भौतिक--आत्मिक--भावत्रयी के तारतम्य से अनुप्राणिता योगत्रयी—

तीनों योगों के उक्त लक्षणों से पाठकों को विदित होगा कि, तीनों हीं मार्गों के मूल में स्वार्थमूला आसक्ति बैठी हुई है। तीनों में ज्ञानमार्ग तो आसक्ति के साथ साथ एक कल्पना का भी साम्राज्य बना हुआ है। देहधारी मनुष्य सब कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है। फिर जब ज्ञानवत् कर्म्म भी आत्मा का प्रातिस्विक स्वरूप है, तो उसे छोड़ा भी कैसे जासकता है ? । इस दृष्टि से ज्ञानयोग की निःसारता सर्वात्मना सिद्ध होजाती है। कर्म्मयोग में स्वार्थमूला आसक्ति हैं, भक्तियोग में भी भगवदनुग्रह-फलकामनारूपा आसक्ति है। फलतः इन दोनों का भी त्याजभाव स्पष्ट होजाता है। इहीं सब दोषों को देखते हुए इन शास्त्रीय निष्ठाओं में संशोधन करना आवश्यक समझा गया है, एवं गीता के द्वारा संशोधित वे ही तीनों शास्त्रीय-योग गीतायोग बनते हुए (गीता में) **ज्ञानबुद्धियोग** (ज्ञानयोग का संशोधितरूप किन्तु गीता का ज्ञानयोग), **धर्म्मबुद्धियोग** (कर्म्मयोग का संशोधितरूप, किंवा गीता का कर्म्मयोग) एवं **ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग** (भक्तियोग का संशोधितरूप, किंवा गीता का भक्तियोग) इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, और इन तीनों की मूलप्रतिष्ठा बने हैं–क्रमशः अधिदैवत, अधिभूत-अधिदैवत एवं अधिभूत प्रपञ्च, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

१०३–दैवत, तथा भौतिक शब्दों के पारिभाषिक--अर्थों का स्वरूप--समन्वय, एवं तन्निबन्धन ज्ञान, और कर्म्मशब्दों की स्वरूप–व्याप्ति का दिग्दर्शन, तथा तन्निबन्धना ज्ञान--कर्म्म--भक्ति--योगत्रयी का स्वरूप--संस्मरण—

ज्ञानयोग का अधिदैवत के साथ, कर्म्मयोग का अधिभूत के साथ, एवं भक्तियोग का अधिदैवत–अधिभूत के साव सम्बन्ध माना गया है। अधिदैवत, अधिभूत शब्दों का अनुगमभाव से सम्बन्ध है। अतएव तत्तद्विशेष प्रकरणों के अनुरोध से अधिदैवताधिभूत-शब्दों से तत्तद्विशेषभावों का, किंवा विशेष पदार्थों का ही ग्रहण किया जाता हैं। प्रकृत योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले अधिदैवत शब्द का अर्थ है **"ज्ञान"**। एवं अधिभूत शब्द का अर्थ है–**"कर्म्म"**। लौकिक योगत्रयी हो, शास्त्रीय योगत्रयी हो, अथवा गीता की योगत्रयी ही है, सर्वत्र ज्ञान–कर्म्मरूप अधिदैवत, अधिभूत–भावों की ही प्रधानता मिलेगी। इन तीनों से

अतिरिक्त ज्ञान, कर्म्म दो विवर्त्त और हैं। एक सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित है, एक सबसे अवरकोटि में प्रतिष्ठित है। इस ज्ञानकर्म्म द्वन्द्व के पञ्चक से योगत्रयी के भी पाँच विवर्त्त होजाते हैं। एवं पाँच विवर्त्तों के कारण अधिकारीवर्ग भी ५ भागों में ही विभक्त होजाते हैं। एक एक विभाग में तीन तीन योग हैं, अतः एक एक विभाग में तीन तीन अधिकारीवर्ग होजाते हैं। फलतः पञ्चधा-विभक्त ज्ञानकर्म्म-प्रपञ्च के पञ्चदशधा-विभक्त योगों के अनुयायी अधिकारी पञ्चदशधा हीं विभक्त होजाते हैं। जिसने पञ्चधा-विभक्त इस त्रिक रहस्य को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। क्योंकि इस तीन पाँच से बाहिर और ज्ञातव्य कुछ भी नहीं बच रहता।

१०४-अप्रासङ्गिक, किन्तु योगस्वरूपानुबन्धेन प्रासङ्गिक विस्तारभाव के अनुगमन के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन, एवं अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित पञ्चविध द्वन्द्वात्मक विवर्त्तों का स्वरूपान्वेषण-प्रयास—

थोड़ा अप्रासङ्गिक विस्तार तो होगा, परन्तु उपासना के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए उपादेय भी। अतः संक्षेप से इन १५ हों विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक ही समझा जायगा। कोई अपूर्व, अश्रुत बात नहीं कहनी है। सभी तथ्य रूपान्तर से पूर्वप्रकरणों में यत्र तत्र कहे सुने हैं। अत्र तु समन्वय-मात्र कर लेना है। हाँ, इतना पहिले से ही अवधानपूर्वक लक्ष्य में रखना पड़ेगा कि, इन पाँचों, किंवा १५ हों विवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा केवल हमारी अध्यात्मसंस्था ही है। इसे लक्ष्य में रखते हुए पहिले यही विचार कीजिए कि, अध्यात्मसंस्था में ज्ञानकर्म्म के वे पाँच द्वन्द्व कौन कौन हैं ?, जिन के आधार पर कि पञ्चधा-विभक्ता योग-त्रयी, किंवा १५ योग प्रतिष्ठित हैं।

१०५-'अहम्' भावानुगत-'हम' पदार्थ की स्वरूप-मीमांसा का उपक्रम, तद्गर्भित 'आत्मा', और-'शरीर' नामक दो महिमा-विवर्त्तों का पारिभाषिक स्वरूपान्वेषण प्रयास, एवं तदनुप्राणिता ज्ञान-कर्म्म विभूतियों का समन्वयात्मक दिग्दर्शन—

"हम" क्या हैं ?, इस प्रश्न के उत्तर में "आत्मा-शरीर" यह द्वन्द्वभाव तो सर्वसम्मत है। प्रत्येक आस्तिक बिना किसी नच नुच के यह तो स्वीकार कर ही लेगा कि, जिसे हम "हम" कहते हैं, उस "हम" की सीमा में (अहम् की सीमामें) एक तत्त्व तो ऐसा है, जो कभी नहीं बदलता, एवं एक तत्त्व ऐसा है, जो बदलता ही रहता है। न बदलने वाला भाग "आत्मा" कहलाता है, एवं बदलने वाला भाग "शरीर" कहलाता है। बदलने वाला शरीर प्रत्यक्ष में दीखता है, न बदलने वाला आत्मा अनुमानगम्य है। क्योंकि बदलने वाली वस्तु कर्म्म कहलाती है, न बदलने वाली वस्तु ज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर हम न बदलने वाले आत्मा को "ज्ञान" कह सकते हैं, एवं बदलने वाले शरीर को "कर्म्म" कह सकते हैं। इसी विश्लेषण से अत्र हमें "हम" के सम्बन्ध में इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि, जिसे हम "हम" कहते एवं समझते हैं, उस 'हम' में आत्मा नामक ज्ञानतत्त्व, एवं शरीर नामक कर्म्मतत्त्व दोनों का समन्वय है। ज्ञान-कर्म्म के समन्वितरूप का ही नाम "हम", "किंवा अहम्" (मैं) है।

१०६–केवल ज्ञानानुगत आत्मा, तथा केवल कर्म्मगर्भित-शरीर-रूपा-महती भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास, एवं कर्म्मगर्भित ज्ञान का आत्मस्वरूपत्त्व, तथा ज्ञानगर्भित कर्म्म का शरीररूपत्त्व-समन्वय, और ज्ञान-कर्म्म का सुप्रसिद्ध 'ओतप्रोतभाव–सम्बन्ध', एवं-'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' का संस्मरण—

उक्त विवेचन से थोड़ी देर के लिए हमें कुछ ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि, मानो आत्मा केवल ज्ञानमूर्त्ति है, एवं शरीर विशुद्ध कर्म्ममूर्त्ति है। परन्तु थोड़ी तात्त्विकदृष्टि के आश्रय से इस भ्रान्ति का तत्काल ही निराकरण कर होजाता है। जिसे (आत्मा को) हम ज्ञानमूर्त्ति कहते हैं, वहाँ भी कर्म्म है। एवं जिसे हम कर्म्ममूर्त्ति कहते हैं, वहाँ भी ज्ञान विद्यमान है। अन्तर दोनों के ज्ञान कर्म्मों में केवल यही है कि, आत्म-सम्बन्धी ज्ञानकर्म्म निरावरण हैं, शरीरसम्बन्धी ज्ञान कर्म्म सावरण हैं। दूसरे शब्दों में आत्मरूप ज्ञानकर्म्म निवृत्तज्ञानकर्म्म हैं, एवं शरीररूप ज्ञानकर्म्म प्रवृत्तज्ञानकर्म्म हैं। विकास ज्ञान का स्वाभाविक धर्म्म है, आवरण कर्म्म का स्वाभाविक धर्म्म है। आत्मीय कर्म्म क्योंकि निवृत्तिभाव से विकासरूप बनता हुआ निरावरण है, अतएव आत्मीय कर्म्म को भी "**ज्ञान**" शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। इधर शारीरिक ज्ञान क्योंकि प्रवृत्तिभाव से सावरण बना रहता है, अतएव शारीरिक ज्ञान को भी कर्म्म शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। इसी दृष्टि से यद्यपि आत्मीय कर्म्म को कर्म्म शब्द से, शारीरिक ज्ञान को ज्ञान शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं आया है। परन्तु विवेक करते समय पाठकों को यह व्यवच्छेद कर लेना चाहिए कि, आत्मा भी ज्ञानकर्म्ममय है, एवं शरीर भी कर्म्मज्ञानमय है। कर्म्मज्ञानमय शरीर में ज्ञानकर्म्ममय आत्मा ओत (डूबा हुआ) है, एवं ज्ञानकर्म्ममय आत्मा में कर्म्मज्ञानमय शरीर भी प्रोत है। शरीर में आत्मा ओत, आत्मा में शरीर प्रोत, यही आत्मा, और शरीर का ओतप्रोतसम्बन्ध है–"**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**"।

१०७–ओतप्रोतसम्बन्धानुगता 'सामान्यसत्ता', भातिभेद, और सत्ताभेद के आधार भेदाभेदव्यवस्था, तन्निबन्धना-'अनेजदेजद्विभूति', एवं आश्चर्य्य-भावनिबन्धन 'अहम्' पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप-का समन्वय-प्रयास—

इस ओतप्रोतभाव की प्रतिष्ठा है–"**सामान्यसत्ता**"। दोनों कहने के लिए, समझने के लिए दो हैं। वस्तुतः सत्तादृष्ट्या दोनों एक हैं। भातिभेद प्रत्ययभेद का कारण बनता हुआ भी वस्तुभेद का कारण नहीं बनता। वस्तुभेद का कारण है "**अस्तिभेद**"। यदि आत्मा और शरीर, दोनों का भातिभेद के साथ साथ अस्तित्त्व भी भिन्न भिन्न होता, तो अवश्य ही अद्वयभाव में विरोध आसकता था। परन्तु ऐसी नहीं है। वही आत्मा शरीर है, वही आत्मा है। शरीर ही आत्मा है, आत्मा ही शरीर है। अनेजत् अवस्था में वही आत्मा है, एजत् अवस्था में वही शरीर है। सब से बड़ा आश्चर्य तो यह देखा कि, वस्तु एक, एक ही की अनेजत्–एजत् की अवस्थाएँ, दोनों अवस्थाओं में अश्वमहिषवत् महान् विरोध, फिर भी दोनों का एक साथ, एक ही बिन्दु में, एक ही प्रदेश में समन्वय। यदि– "**अनेजदेकं मनसोजवीयः**" लक्षण ऐसे इस अनिर्वचनीय के लिए स्वयं गीताचार्य्य के मुख से भी–"**आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्**" यह अक्षर-निकले, तो हमें कोई आश्चर्य्य नहीं हैं। क्योंकि आश्चर्य्यरूप तत्त्व का विश्लेषण आश्चर्य्य शब्द के अतिरिक्त और किस शब्द से होसकता है ? ।

१०८-ज्ञानकर्म्मविभूतिशाली आत्मभाव से अनुप्राणिता आश्चर्य्यपरम्पराओं का आश्चर्य्य-परानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं हमारी कुण्ठिता प्रज्ञा—

पूर्व में जिस आश्चर्य्यरूप आत्मा, एवं आश्चर्य्यरूप शरीर का दिग्दर्शन कराया गया है, सम्भवतः पाठक उस आत्मा और शरीर से यह समझे होंगे कि, पाञ्चभौतिक नश्वर स्थूल शरीर ही शरीर है, एवं पाञ्चभौतिक शरीर को यावदायुर्भोग पर्य्यन्त सुरक्षित रखने वाला मन बुद्ध्यादि के योग से ज्ञानकर्म्म का सञ्चालन करने वाला जीवात्मा ही आत्मा है। यदि हमारी यह सम्भावना ठीक है, तो हमें कहना पड़ेगा कि अभी हम पाठकों को आत्मा और शरीर का स्वरूप नहीं बतला सके। बतलाया भी कैसे जाय, जबकि वह बतलाने की वस्तु ही नहीं। बतलाने वाली इन्द्रियाँ, समझाने वाला मन, समझने वाली बुद्धि, सभी कुछ तो वहाँ जाकर परास्त होजाते हैं। यदि उसका स्वरूप बतला दिया जाता, बतलाया जासकता, सुनाया जा सकता, समझाया जासकता, देखा जासकता, तो उसे आश्चर्य्य शब्द से क्यों सम्बोधित किया जाता ?।

१०९-लोकप्रसिद्ध, शास्त्र के द्वारा विस्तार से उपवर्णित आत्मा, तथा शरीर के सम्बन्ध में आश्चर्य्य का अभाव, एवं आश्चर्य्यभावानुबन्धी शास्त्रातीत पारिभाषिक आत्मभाव, तथा शरीरभाव का आश्चर्य्यमय संस्मरण-प्रयास—

जिसे अस्मदादि सामान्य मनुष्य "शरीर" कहते हैं, उस में आश्चर्य्य का कोई विषय नहीं है। आयुर्वेद ने स्थूलशरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्वों का विश्लेषण कर दिया है। शरीर का कोई भी पर्व ऐसा नहीं है, जिस का आयुर्वेद की सहायता से, पर्वों के द्वारा प्रत्यक्ष न किया जासके। इसीप्रकार इस शरीरयष्टि की रक्षा करने वाले, वैदिक विज्ञानानुसार १०० वर्ष पर्य्यन्त स्थूलशरीर में रहने वाले, सुख दुःख, पापपुण्य, स्वर्ग-नरक, जन्ममृत्यु, बालादि षडवस्था, जाग्रतादि षडवस्था, जराव्याधि आदि षडूर्मि, आदि ३६ पाप्माओं से समन्वित जीवात्मा नामक आत्मा के सम्बन्ध में भी कोई आश्चर्य्य प्रतीत नहीं होता। जबकि आस्तिक दर्शनों ने जीवात्मा के पर्वों का स्पष्टीकरण कर आदर्शवत् उसका स्वरूप हमारे सामने रख दिया है। और साथ ही आश्चर्य्यरूप आत्मा-शरीर के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि, आत्मा ही शरीर है, शरीर ही आत्मा है। दोनों अविनाभूत हैं। इधर इस शरीर और आत्मा के पार्थक्य का हम उस समय प्रत्यक्षवत् अनुमान लगा लेते हैं, जबकि यह शरीर छोड़ कर लोकान्तर में चला जाता है। शरीर यहीं पड़ा रहता है, आत्मा निकल कर चला जाता है, लोकान्तर में। इन्हीं सब अनाश्चर्य्यों के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि, पूर्व में जिस आत्मा, एवं शरीर को आश्चर्य्य की वस्तु बतलाया है, वह इस जीवात्मा, तथा स्थूलशरीर से कोई भिन्न ही तत्त्व है।

११०-अनाश्चर्य्य से विभिन्न आश्चर्य्य, तत एव 'हम' पदार्थ का विलयन, एवं तदनुप्राणिता वैतालवृत्ति, एवं विजिज्ञास्य-'अहम्' रूप-आश्चर्य्यमय 'हम' पदार्थ से अनुप्राणिता एक महती विप्रतिपत्ति, और तत्समाधनान्वेषण-प्रयास—

अच्छा मान लिया, वह आश्चर्य्य इस अनाश्चर्य्य से भिन्न है। परन्तु इस के साथ वह 'हम' पदार्थ भी विलीन होजायगा, जिस के कि सम्बन्ध में हमने वहीं अभिनिवेश के साथ यह कहा था कि, 'हम क्या

हैं ?, इस का उत्तर है—आत्मा और शरीर'। यदि आत्मा जीवात्मा के, शरीर स्थूलशरीर के अभिप्राय से कहा जाता, तो जैसे तैसे फिर भी 'हम' का स्वरूप गतार्थ होजाता। परन्तु उक्त अभिनिविष्ट-वाक्य का विश्लेषण करते हुए आगे जाकर उपसंहार में यह कह दिया गया कि, 'हम' पदार्थ का आत्मा और शरीर दोनों आश्चर्य्य हैं। "पुनस्तत्रै वावलम्बितो वेतालः" । पुनः 'हम' पदार्थ गुहा में विलीन होगया। और उस आश्चर्य्य के साथ जो कुछ समझे थे, वह और भूल गए, यह सबसे बड़ा आश्चर्य्य होगया। और इस से भी अधिक आश्चर्य्य वह माना जायगा कि, जो इस समस्या को सुलझा कर आश्चर्य्य को सुरक्षित रखता हुआ हमारा आश्चर्य्य दूर कर देगा—"आश्चर्य्यः कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" (कठ० १।२।७।) ।

१११-'एकं वा वा इदं वि बभूव सर्वम्' के आधार पर विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास—

आश्चर्य्यरूप आत्मा, एवं शरीर की समष्टि ही "हम" पदार्थ है, इस कथन में तो अणुमात्र भी असत्य नहीं है। हम हीं का, विश्व, एवं विश्व में रहने वाले यच्चयावत् स्थावरजङ्गम प्रपञ्च वही है, वही है, यह एकबार नहीं अनन्तर बार, और अभिनिवेश-पूर्वक कहा जायगा। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस श्रौत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है ?।

११२-'हम' पदार्थानुबन्धी 'आश्चर्य्य' भाव की आश्चर्य्यता का निराकरण-प्रयास—

साथ ही—'हम क्या हैं ?, इस का उत्तर है, आत्मा और शरीर, और हम पदार्थ के भातिसिद्ध आत्मा, एवं शरीर, दोनों आश्चर्य्यरूप हैं' इस सिद्धान्त में भी क्षोदक्षेम का प्रवेश निषिद्ध है। अवश्य ही 'हम' से सम्बन्ध रखने वाले आत्मा-शरीर दोनों-साश्चर्य्य हैं, और ध्रुवसत्यरूप से साश्चर्य्य हैं। अब इस सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति केवल यही रह जाती है कि, जब दर्शन, एवं आयुर्वेद आत्मा-शरीर दोनों का सर्वात्मना विश्लेषण कर उन का स्वरूप प्रत्यक्षरूप से हमारे सामने रख देता है, तो फिर इन्हें आश्चर्य्यरूप कैसे मान लिया जाय ?।

११३-आश्चर्य्य, तथा अनाश्चर्य्य-भावानुबन्धी-'हम' पदार्थ से अनुप्राणित निरूपाधिक, तथा सोपाधिक-भावों का स्वरूप-संस्मरण, एवं तदाधारेणैव प्रश्ननिराकरण-प्रयास—

प्रश्न यथार्थ है, और इस यथार्थ प्रश्न के यथार्थ समाधान के लिए यथार्थरूप से अध्यात्मसंस्था का ही स्वरूप सामने रखना पड़ेगा, जिस का कि विशद निरूपण भूमिका-द्वितीयखण्ड के 'आत्मपरीक्षा' प्रकरण में होचुका है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, आत्मा-शरीर, इन दो भातियों को अपने गर्भ में रखने वाला "हम" पदार्थ (जिसे कि शास्त्रीय भाषा में 'अहम्' कहा जाता है) सोपाधिक, निरुपाधिक भेद से दो भागों में विभक्त है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, प्रत्यस्ताशेषभेदरूप, अगोचर, अनिर्वचनीय 'हम' पदार्थ उसी का निरुपाधिकरूप है, एवं सर्वपरिग्रहयुक्त, सर्वोपाधिविनियुक्त [विशेषेण नितरां युक्तः], विकसिताशेषभेदरूप, गोचर, निर्वचनीय 'हम' पदार्थ उसी का सोपाधिकरूप है। निरुपाधिक 'हम' पदार्थ

व्यापक स्वरूप की कृपा से जहाँ शब्दशास्त्रातीत बनता हुआ आश्चर्य्य ही नहीं, अपितु महान् आश्चर्य्य हैं, वहाँ सोपाधिक वही 'हम' पदार्थ मायादि परिग्रहों की कृपा से शब्दशास्त्र का विषय बनता हुआ आश्चर्य्य की मर्य्यादा से बहिर्भूत है। उसे आश्चर्य्य भी कहा जासकता है-[निरुपाधिकदृष्टि से], उसे ही आश्चर्य्य-शून्य भी कहा जाता है-[सोपाधिकदृष्टि से]। फिर चाहे आश्चर्य्य अनाश्चर्य्य इन प्रतिद्वन्द्वी भावों का असम्भावित एक स्थान पर समन्वय भले ही पाठकों को आश्चर्य्य में डालता रहै, जिस आश्चर्य्य का कि कोई समाधान नहीं होसकता।

११४-'नेति-नेतीत्युपनिषत्' मूलक अत्यन्त रहस्य-पूर्ण-अहंभावानुबन्धी आश्चर्य्यमय-निरुपाधिक-महिमा-विवर्त्त, एवं तदाधारेण अभिव्यक्त अनाश्चर्य्यात्मक सोपा-धिक-'हम' पदार्थ का स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

इसप्रकार निरुपाधिक-सोपाधिक, इस दूसरे द्वन्द्व के समाश्रय से '**हम**' पदार्थ-सम्बन्धी आश्चर्य्यानाश्चर्य्य-द्वन्द्वजनित मोह हट जाता है, और निरुपाधिक '**हम**' पदार्थ की दृष्टि से '**आत्मा-शरीर की समष्टि 'हम' पदार्थ है, और दोनों ही आश्चर्य्यरूप है**' यह सिद्धान्त अक्षुण्ण बचा रहता है। भ्रान्ति के कारण बने हैं-आत्मा-शरीर शब्द। सर्वसाधारणने आत्मा का अर्थ जीवात्मा समझ रक्खा है, एवं शरीर का अर्थ पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर। अतः अब यह उचित होगा कि, भविष्य में होने वाली ऐसी ऐसी भ्रान्तियों को निःशेष बनाने के लिए उस निरुपाधिक के-आत्मा-शरीर भावों का कोई दूसरा ही नामकरण कर लिया जाय। पाठकों से अनुरोध है कि, वे भविष्य में निरुपाधिक 'हम' पदार्थ के आत्मा को तो '**रस**' कहा करें, एवं शरीर को '**बल**' कहा करें। साथ ही सर्वबलविशिष्टरसरूप इस 'हम' को भी 'हम' न कहकर भविष्य में-'**नेतिनेति**' कहा करें। क्योंकि जब उस व्यापक पर हमारी पहुँच नहीं, उस से कोई हानि लाभ नहीं, उस का परिज्ञान असम्भव, तो ऐसी दशा में उसे 'अहम्--हम--त्वं--तू आदि के झगड़ों में डाला ही क्यों जाय। फलतः '**नेति-नेति**' के अतिरिक्त उस का और कोई नामकरण करना अपनी योग्यता का उपहास ही कराना है। कहिए उसे नेति नेति, मानिए उसे निरालम्बन। बस उसके सम्बन्ध में यदि पाठकोंनें इतना भी जान-लिया तो, उन्होंनें सबकुछ जान किया, सबकुछ मान लिया-'**नेतिनेतीत्युपनिषत्**'।

११५-मीमांस्य-'हम' पदार्थ की मीमांसा का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना उपाधि-परम्पराओं से अनुप्राणिता मीमांसा-परम्पराएँ —

हाँ, तो अब हमें हमारे उस 'हम' पदार्थ' की मीमांसा करनी चाहिए, जो कि सोपाधिक बनता हुआ यथार्थ में हमारे 'हम भाव' को सुरक्षित बनाए हुए है, एवं जो कि यथार्थरूप से अध्यात्मसंस्था की प्रतिष्ठा है। निरुपाधिक से तो नेति--नेति कह कर ही बड़ी सुगमता से पीछा छुडा लिया जाता है। परन्तु यह सोपाधिकरूप तो सर्वात्मना से हमारे प्राणशोषण कर लेता है। भला यह भी कमी कैसे रक्खे, जब कि, यह उसी महद्मय का दूसरा अवतार है। शिव ! शिव !! सोपाधिक तत्त्व पर आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। यदि आपको झगड़ना ही है, तो उन उपाधियों से झगड़िए, जिनने कि आपने अपना आपा (आत्मस्वरूप) खो रक्खा है।

११६–अहंतत्त्व से अनुप्राणित षड्विधपरिग्रह, तन्निबन्धन पञ्चविध अहंभावात्मक विभिन्न आत्मविवर्त्तों का स्वरूप संस्मरण—

जैसा कि भक्तिपरीक्षा–प्रकरण के आरम्भ में हीं बतलाया जाचुका है, निरुपाधिक एक तत्त्व को अनेक रूपों में परिणत करने वाली यह उपाधि माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन, आवरण, भेद से ६ भागों में विभक्त है। इन उपाधियों से उस एक के ही पाँच रूप बन जाते हैं, जिन्हें कि वहाँ षोडशीप्रजापति, सगुणप्रजापति, यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति, विश्वप्रजापति, इन नामों से व्यवहृत किया गया है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, माया–कला, इन दो उपाधियों से विराट् का, एवं आवरणोपाधि से विश्व का उदय हुआ है। छोडिए इस आधिदैविक सोपाधिक–प्रपञ्च को। विचार यही कीजिए कि, आपके आध्यात्मिक जगत् में वे पाँचों सोपाधिकरूप कौन कौन हैं ?।

११७–निरूपाधिक आत्मभाव का स्वरूप–संस्मरण, एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित पञ्चविध सोपाधिक- आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शनोपक्रम—

निरुपाधिक आत्मा [रस], एवं शरीर [बल], इन्हीं दोनों को उक्त उपाधिरूप परिग्रहों के सम्बन्ध से ५ सोपाधिक रूपों में विभक्त देखना है। साथ ही प्रत्येक विभाग में आत्मा–शरीर, इन दोनों का अन्वेषण करना है। इस दृष्टि, एवं अन्वेषण से ही काम बन जायगा। बन तो क्या जायगा, बना हुआ मानकर अपने मन में सन्तोष मान लिया जायगा। सन्तोष भी मान क्या लिया जायगा, कर लिया जायगा— 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'।

११८–उपाधि–परम्परानुगत–प्रत्यंशतम भी मानवीय–'अहम्' भाव का आश्चर्य्यमय– 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' लक्षण अभिमान—

एक बात और। अध्यात्मसंस्था में हम जिन सोपाधिक आत्मविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उन्हें निरुपाधिक के विवर्त्त न समझ कर सोपाधिक के ही विवर्त्त मानना चाहिए। कारण स्पष्ट है। हम क्या, और हमारे सोपाधिकरूप क्या, जबकि हम सोपाधिक विश्वेश्वर के एक अंशमात्र हैं। उस निरुपाधिक का सोपाधिकरूप तो वह विश्वेश्वर है। हम (जीवसृष्टि) तो उस सोपाधिक की उपाधियों की उपाधियों के भी एक प्रत्यंशमात्र हैं। विदित नहीं, उस महान् सोपाधिक से कितनीं उपाधियों के विकसित होने पर उन के द्वारा उस महासोपाधिक का अंश हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वरूप–समर्पक बनता है, फिर भी हमें अभिमान है— "पुरूषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" इत्याकारक।

११९–निरुपाधिक तत् के आधार पर महिमावितानसम्बन्धने वितत ततसुत, ततसुता, एवं ततसुता-परम्पराओं से अनुप्राणित त्रयोदशविध–सोपान–परम्पराओं का तात्त्विक–क्रमिक–स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

तत् से तत् सुता का विनिर्गम, तत्सुता से ततसुताओं का विनिर्गम, तत् सुता, और तत् सुताओं से तत् सुत का विनिर्गम, तत्सुत से एक सहस्र तत् सुतों का विनिर्गम, सहस्र तत्सुतों में से एक तत् सुत से

[5]तत् सुत का आविर्भाव, तत्सुत से [6]तत् सुत का जन्म, तत्सुत से [7]तत् सुत का व्यक्तीभाव, तत्सुत् के प्रवर्ग्य भाग से [8]ततसुता की स्वरूपनिष्पत्ति, तत्सुता के प्रवर्ग्यभाग से [9]तत सुत की कान्ति का विकास, तत्सुत् से [10]ततसुताओं का प्रपात, तत् सूताओं से [11]तत् सुताओं का उद्गम, तत् सुताओं की आहुति से सप्तधाराक्रम में [12]ततसुत् का आविर्भाव, तत्सुत् की आहुति से, इन अनेक परम्पराओं के पीछे [13]"मद्भाव" का विकास, अब अनुमान लगाए, हमारा सोपाधिकरूप उस निरुपाधिक के कितने सोपाधिक-रूपों को आलम्बन बनाकर अपने आप को "हम" कहने में समर्थ हुआ है। यदि उक्त तत्सुत-तत्सुता की परम्परा का अनुमान लगाने में आप को कष्ट प्रतीत होता है, तो लीजिए! हम स्वयं ही आपके लिए इसका स्पष्टीकरण कर देते हैं।

१२०-तत् की महा ततसुता महामाया का माङ्गलिक-स्वरूप-संस्मरण, एवं तद्देश-वितान—

आरम्भ का तत् सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति साश्चर्य्य वही परात्पर है, जिसे कि पूर्व में निरुपाधिक नेतिनेति कहागया है। इस के एक प्रदेश में सर्वप्रथम [1]महामाया नाम का तत्त्व प्राहुर्भूति होता है। क्योंकि माया का उद्गम तत्-रूप निरुपाधिक ब्रह्म के गर्भ में होता है, अतएव हम अवश्य ही इसे "[1]ततसुता" (निरुपाधिक की सुता) कह सकते हैं।

१२१-ततसुता महामाया की ततसुता, तथा ततसुतों की वंशपरम्परा के क्रमसिद्ध-तात्त्विक-स्वरूपों का आत्ममहिमाविवर्त्तों के अनुप्रबन्ध से समन्वय—

मायाबल के गर्भ में आगे जाकर १६ [2]कलाओं का विकास होता है। अतएव इन्हें तत्सुता (माया) की [2]ततसुताएँ कहा जासकता है। तत्सुतारूप माया, एवं तत्सुताओंरूप कला, इन दोनों के समन्वय से मायी-सकल अश्वत्थमूर्त्ति [3]षोडशीप्रजापति का विकास होता है। अतएव इसे हम तत्सुता (माया) और तत्सुताओं (कलाओं) का [3]ततसुत कह सकते हैं। वेदमूर्त्ति, अतएव सहस्रमूर्त्ति इस षोडशीप्रजापति के गर्भ में एकसहस्र [4]बल्शाप्रजापतियों का विकास होता है। अतएव इन्हें हम तत्सुत के (षोड़शी-प्रजापति के) [4]एकसहस्र ततसुत् कह सकते हैं। सहस्रों में से एक तत्सुत से सर्वप्रथम [5]अव्यक्तस्वयम्भू का आविर्भाव होता है (अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्)। अतएव इसे (अव्यक्तस्वयम्भू को) हम तत्सुत (बल्शेश्वर का) का अव्यक्तरूप ततसुत कह सकते हैं। इस अव्यक्तरूप तत्सुत से (स्वयम्भू से) महल्लक्षण [6]परमेष्ठी-प्रजापति का जन्म होता है, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिमाप्रजापति नाम से भी व्यवहृत हुआ है। अतएव (परमेष्ठी को) इसे हम तत्सुत (अव्यक्त स्वयम्भू) का ततसुत् कह सकते हैं। इस तत्सुत (आपोमय परमेष्ठी) के गर्भ में सहस्ररश्मिमूर्त्ति हिरण्यगर्भप्रजापति (सूर्य्य) का व्यक्ती-भाव होता है। अतएव इसे (सूर्य्य को) हम ततसुत (परमेष्ठी) का [7]ततसुत कह सकते हैं। इस तत्सुत (सूर्य्य) के प्रवर्ग्यभाग से इरामयी [8]पृथिवी की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। अतएव इसे (पृथवी को) हम तत्सुत (सूर्य्य) की [8]ततसुता कह सकते हैं। इस ततसुता (पृथिवी) के प्रवर्ग्यभाग से भास्वरसोम लक्षणा [9]चन्द्रकान्ति (चन्द्रमा) का विकास होता है। अतएव इसे (चन्द्रमा को) हम तत्सुता (पृथिवी) का [9]ततसुत् कह सकते हैं। इस ततसुत (चन्द्रसोम) से पर्जन्य के सहयोग से [10]वर्षाओं का प्रपात होता है।

अतएव इसे (वर्षाओं को) हम ततसुत (चन्द्रमा) की [१०]**ततसुताएँ** कह सकते हैं । । इन तत्सुताओं के (वर्षाजलों के भूगर्भ में प्रवेश करने से) [११]**ओषधिवनस्पतियों** का उद्गम होता है । अतएव इन्हें (ओषधि-वनस्पति को) हम ततसुताओं (वर्षाओं) की [११]**ततसुताए** कह सकते हैं । इन ततसुताओं (ओषधि-वनस्पतिरूप अन्नों) की (शारीराग्नि में आहुति होने से रसासृङ्मांसादि सप्तधातु-परम्परा से सातवें क्रम में [१२]**शुक्र** का आविर्भाव होता है । अतएव इसे (शुक्र को) हम ततसुताओं (ओषधि-वनस्पतियों) का [१२]**ततसुत** कह सकते हैं । इस तत् सुतकी (शुक्र की) आहुति से (स्त्रीगर्भाशयगत शोणिताग्नि के समन्वय से) [१३]**मद्भाव** (पुरुषसृष्टि) का विकास होता है । यही उक्त तदनुमान, एवं ततसुत–सुतानुमान–परम्परा का संक्षिप्त स्पष्टीकरण है ।

१२२- 'तत्'–रूप–निरुपाधिक–'अहम्' पदार्थ की त्रयोदशविधा–वंशपरम्परा का तालिकारूपेण–समन्वय—

तत्— | निरुपाधिकः

१–ततसुता—मया

२–तत्सुताः—१६ कलाः

३–ततसुतः—षोडशीप्रजापतिः

४–ततसुताः—सहस्रवल्शेश्वराः

५–ततसुतः—स्वयम्भूः

६–ततसुतः—परमेष्ठी

७–ततसुतः—सूर्य्यः

८–ततसुता—पृथिवी

९–ततसुतः—चन्द्रमाः

१०–ततसुताः—वर्षाः

११–ततसुताः—ओषधिवनस्पतयः

१२–ततसुतः—शुक्रम्

१३–मद्भावः—पुरुषः

सोपाधिकभावाः

१२३-आत्मविभूतिभावापन्ना सप्तविध-आत्मसंस्थाओं का स्वरूप-समन्वय—

आधिदैविक षोडशी--प्रजापति का अंश अध्यात्म में "प्रत्यागात्मा[1]" नाम से प्रसिद्ध है। यही आध्यात्मिक निर्गुण परमात्मा है---आधिदैविक स्वयम्भू का अंश **अव्य क्तात्मा**[2], परमेष्ठी का अंश **महानात्मा**[3], सूर्य का अंश **विज्ञानात्मा**[4], चन्द्रमा का अंश **प्रज्ञानात्मा**[5], पार्थिव इरारस **शारीरिक आत्मा**[6], एवं भूपिण्डांश **अग्न्यात्मा**[7] नाम से व्यवहृत होता है। इसप्रकार कुल सात संस्थाएँ होजातीं है।

१२४-सप्तविध-आध्यात्मिक-आत्मसंस्थाओं का अन्तन्तोगत्त्वा पञ्चविध आत्म-संस्थाओं में पर्य्यवसान—

सातों में **प्रत्यगात्मसंस्था** एक स्वतन्त्र संस्था है, यही पहिली संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक **षोडशी सकलप्रजापति**[1], कहेंगे। अव्यक्तात्मा, महानात्मा, इन दोनों की समष्टि एक स्वतन्त्र संस्था है, यही दूसरी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक **सगुण प्रजापति**[2]* कहेंगे। विज्ञानात्मा, महानात्मा दोनों की समष्टि एक स्वतन्त्र संस्था है, यही तीसरी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक **यज्ञप्रजापति**[3], कहेंगे। पार्थिव इरारस के वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ नामक तीन विवर्त्तों से कृतरूप वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टिरूप शारीरक आत्मा की एक स्वतन्त्र संस्था है, यही चौथी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक **विराट्प्रजापति** कहेंगे। भौम अग्नि का प्रत्यंशरूप अग्न्यात्मा एक स्वतन्त्र संस्था है, यही पाँचवीं संस्था है, एवं इसे ही आध्यात्मिक **विश्वप्रजापति** कहा जायगा। इसप्रकार सात संस्थाओं की (अव्यक्त महान् के एकीकरण से, एवं विज्ञान-प्रज्ञान के एकीकरण से) आगे तक पाँच हीं संस्थाएँ रह जातीं हैं।

१२५-ब्रह्मसत्य, तदा देवसत्यानुबन्धी आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अग्न्यात्मा[7] (ब्रह्मसत्यलक्षण) भूतात्मा[1] है, शारीरिक आत्मा[6] (देवसत्यलक्षण) जीवात्मा[2] है, प्रज्ञानात्मा[5] (ब्रह्मसत्यलक्षण) सर्वेन्द्रिय **मन**[3] है, विज्ञानात्मा[4] (ब्रह्मसत्यलक्षण) **बुद्धि**[4] है, **महानात्मा**[3] (ब्रह्मसत्यलक्षण) **सत्त्व**[5] है, अव्यक्तात्मा[2] (ब्रह्मसत्यलक्षण) **अन्तर्य्यामी**[6] है, एवं **प्रत्यगात्मा**[1] (अमृतसत्यलक्षण) **अहंभाव**[7] है।

१२६-षड्विध परिग्रह-निबन्धनानुबन्ध से आत्मस्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अहंभावरूप, अमृतसत्यलक्षण प्रत्यगात्मा माया कला इन परिग्रहों से युक्त है। अन्तर्यामीरूप ब्रह्मसत्यलक्षण अव्यक्तात्मा, एवं सत्त्वरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण महानात्मा इन दोनों की समष्टि 'गुण' नाम के तीसरे परिग्रह से युक्त है। बुद्धिरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण विज्ञानात्मा, एवं मनोरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण प्रज्ञानात्मा, दोनों की समष्टि विकार नाम के चौथे परिग्रह से युक्त है। जीवात्मारूप, देवसत्यलक्षण शारीरक आत्मा अञ्जन नाम के पाँचवें परिग्रह से युक्त है। एवं भूतात्मरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण अग्न्यात्मा आवरण नामक ६ ठे परिग्रह से युक्त है।

१२७-आत्मसंस्थानुबन्धी अव्यय-अक्षरादि-पञ्चमहिमाभावों का संस्मरणात्मक समन्वय—

मायामय कलात्मा अव्यय--प्रधान है, गुणात्मा अक्षर-प्रधान है, विकारात्मा आत्मक्षर-प्रधान है, अञ्जनात्मा विकारक्षर-प्रधान है, एवं आवरणात्मा वैकारिकक्षर-प्रधान है। इस दृष्टि से पाँचों आत्मसंस्थाओं में क्रमश: अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विकृतिक्षर-विकारक्षर-वैकारिकक्षर इन पाँच भावों का क्रमिक योग सिद्ध होरहा है, जैसाकि आगे के परिलेखों से स्पष्ट है।

*—त्रैगुण्य का विकास महान् में ही होता है।

१२८–सप्तविध–आत्मसंस्थानानुगत अधिदैवत–अध्यात्म–समन्वय–परिलेख—

अधिदैवतम्—		अध्यात्मम्		
१–षोडशीप्रजापतिः	(षोडशी)	(अहम्)	प्रत्यगात्मा	(१)
२–स्वयम्भूप्रजापतिः	(स्वयम्भूः)	(अन्तर्य्यामी)	अव्यक्तात्मा	(२)
३–परमेष्ठीप्रजापतिः	(परमेष्ठी)	(सत्त्वम्)	महानात्मा	(३)
४–हिरण्यगर्भप्रजापतिः	(सूर्य्यः)	(बुद्धिः)	विज्ञानात्मा	(४)
५–सुब्रह्मप्रजापतिः	(चन्द्रः)	(मनः)	प्रज्ञानात्मा	(५)
६–विराट्प्रजापतिः	(पृथिवी)	(जीवात्मा)	शारीरकात्मा	(६)
७–विश्वप्रजापतिः	(भूमिः)	(भूतात्मा)	अग्न्यात्मा	(७)

१२९–समन्वयभावानुबन्धी सप्तसंस्थाप्रदर्शनात्मक–अध्यात्मविवर्त्त–परिलेख—

अधिदैवतम् (यदमुत्र)			अध्यात्मम् (तदन्विह)	
(१) १–षोडशीप्रजापतिः	] षोडशीप्रजापतिः	(१)	(१) १–प्रत्यगात्मा	] षोडशीप्रजापतिः
(२) १–स्वयम्भूप्रजापतिः	} सगुणप्रजापतिः	(२)	(२) १–अव्यक्तात्मा	} सगुणप्रजापतिः
(३) २–परमेष्ठीप्रजापतिः			(३) २–महानात्मा	
(४) १–हिरण्यगर्भप्रजापतिः	} यज्ञप्रजापतिः	(३)	(४) १–विज्ञानात्मा	} यज्ञप्रजापतिः
(५) २–सुब्रह्मप्रजापतिः			(५) २–प्रज्ञानात्मा	
(६) १–विराट्प्रजापतिः	] विराट्प्रजापतिः	(४)	(६) २–शारीरकात्मा	] विराट्प्रजापतिः
(७) १–विश्वप्रजापतिः	] विश्वप्रजापतिः	(५)	(७) १–अग्न्यात्मा	] विश्वप्रजापतिः

१३०-षड्विध-परिग्रहभावनिबन्धन-आत्मविवर्त्त-भावानुबन्धी-परिलेख—

१-षोडशी प्र० प्रत्यक्षरूपः प्रत्यगात्मा] अत्र माया-कलापरिग्रहोपभोगः (सकलः)

१-स्व० प्रत्यंशोऽव्यक्तात्मा
२-पर० प्रत्यंशी महानात्मा } अत्र गुणपरिग्रहोपभोगः (सगुणः)

१-हिर० प्र० विज्ञानात्मा
२-सुब्र० प्र० प्रज्ञानात्मा } अत्र विकारपरिग्रहोपभोगः (सविकारः)

१-विराट्-प्रत्यं० शरीरकात्मा] अत्र अञ्जनपरिग्रहोपभोगः (साञ्जनः)

१-वि० प्र० अग्न्यात्मा] अत्र आवरणपरिग्रहोपभोगः (सावरणः)

१३१-पञ्चविध आत्मविवर्त्त-स्वरूप-समन्वयात्मक-परिलेख—

१-मायाकलोपेतः-प्रत्यगात्मा—अव्ययप्रधानः (साव्ययः)

२-गुणोपेतौ अ०म० आत्मानौ—अक्षरप्रधानः (साक्षरः)

३-विकारोपेतौ वि०प्र० आत्मानौ-आत्मक्षरप्रधानः (सात्मक्षरः)

४-अञ्जनोपेतः—शारीरकात्मा—विकारक्षरप्रधानः (सविकृति-क्षरः)

५-आवरणोपेतः-अग्न्यात्मा—वैकारिकक्षरप्रधानः (सविकारकक्षरः)

१३२ आत्मा, प्राण, एवं पशु-समन्वयात्मक 'प्रजापति' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन पशुपति-पाश-पशु-भावत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इसप्रकार पूर्व परिलेखों से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, अध्यात्मसंस्था में स्थूलदृष्टि से पाँच प्रजापतिसंस्था हैं, एवं सूक्ष्मदृष्टि से सात। उधर प्रजापति का यह सामान्यलक्षण करते हुए अभियुक्त कहते हैं कि, "जिस में आत्मा प्राण पशु"-ये तीन विभाग हों, वही प्रजापति है"। पशुभाग आत्मा की प्रजा है, स्वयं आत्मा पशुरूप इस प्रजा का पति बनता हुआ पशुपति है, एवं मध्यस्थ प्राण पशुरूप को पशुपति में भोग्यरूप से बद्ध रखने वाला पाश है। पशुपति (आत्मा) भोक्ता पाश-(प्राण) रूप भोगसाधन से पशुरूप भोग्य का भोग करता हुआ भोक्तात्मा बन रहा है। जबकि प्रत्येक प्रजापति में तीनों

हैं, एवं इधर सातों, किंवा पाँचों प्रजापति भी प्रजापति हैं, तो अवश्य ही प्रजापति के तीनों पर्वों का प्रत्येक प्रजापति में सम्बन्ध होना हीं चाहिए ।

१३३–अव्ययात्मप्रधाना प्रत्यगात्मसंस्था से अनुप्राणिता प्रथमा 'प्रजापतिसंस्था' का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय, एवं तन्निबन्धन आत्मा–सत्त्व–शरीर–रूप त्रिदण्डात्मक भाव का स्वरूपदिग्दर्शन—

(१) पहिले षोडशी-प्रजापति की अंशरूपा प्रत्यगात्मसंस्था[1] को ही लीजिए । निष्कल-परात्परगर्भित अव्ययपुरुष[3] [1]आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है । पञ्चकल अक्षरपुरुष[2] (पराप्रकृति) प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है । पञ्चकल क्षरपुरुष (अपराप्रकृति) पशु है, यही अशीति है । अशीतिरूप क्षर–प्रपञ्च मायापुर से युक्त होता हुआ शरीर है । अर्करूप अक्षरप्रपञ्च, एवं उक्थरूप आत्मप्रपञ्च, दोनों की समष्टि आत्मा है । अर्करूप प्राण मध्य में है, अतः इसका यद्यपि शरीर, और आत्मा, दोनों के साथ सम्बन्ध माना जासकता है, तथापि असङ्गभाव के कारण इस का आत्मा में हीं अन्तर्भाव मान लिया जाता है । आयुर्वेद की परिभाषानुसार प्रजापति के आत्मा-प्राण–पशु–तीनों पर्व क्रमशः आत्मा-सत्त्व–शरीर इन नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं वहाँ भी इन तीनों को नित्य सम्बद्ध माना है–"आत्मा सत्त्वं शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्" ।

१३४–स्वायम्भुवी अव्यक्तात्मसंस्था से अनुप्राणिता द्वितीया प्रजापतिसंस्था का स्वरूप-समन्वय–प्रयास—

(२) दूसरी स्वयम्भू-प्रजापति की प्रत्यंशरूपा अव्यक्तात्मसंस्था[2] है । हृदयस्थ अन्तर्य्यामीसत्य स्वयं आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है । सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त ऋषिमूर्त्ति सत्यऋत-भेदभिन्न प्राणतत्त्व प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है । शरीराकाश नाम से प्रसिद्ध, शिरोगुहा–उरोगुहा–उदरगुहा–बस्ति–गुहा, इन चार गुहाओं को अपने गर्भ में रखने वाली महाशरीरगुहा पशु है, यही अशीति है । तीनों की समष्टि ही अव्यक्तप्रजापति है ।

१३५–पारमेष्ठ्या महदात्मसंस्था से अनुगता तृतीया प्रजापतिसंस्था का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

(३)–तीसरी परमेष्ठी–प्रजापति की प्रत्यंशरूपा महदात्मसंस्था[3] है । हृदयस्थान में प्रतिष्ठित सत्त्व–रज–स्तमोमूर्ति, आकृति-प्रकृति–अहंकृति-भावत्रयी का अधिष्ठाता सत्त्वभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है । सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त पितृप्राणमूर्त्ति, ऊक्–भोग–भेदभिन्न सौम्यप्राण प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है । एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त पारमेष्ठ्य–अपोभाग (पानी) ही पशु है, यही अशीति है । अशीतिरूप अब्भाग शरीर है, सौम्यप्राणयुक्त हृदयस्थ सत्त्व आत्मा है ।

१३६–सौरी विज्ञानात्मसंस्था से अनुगता चतुर्थी प्रजापति संस्था का स्वरूप-संस्मरण—

(४)-चौथी हिरण्यगर्भ–प्रजापति (सूर्य्य) की प्रत्यंशरूपा विज्ञानात्मसंस्था[4] है । हृदयस्थान में प्रतिष्ठित स्वर्ज्योतिर्म्मय हिरण्यतेजोमूर्त्ति विज्ञानभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है ।

सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त, मर्म्म मर्म्म में ओतप्रोत बृहतीसहस्रकृतमूर्ति (३६०००) देवप्राणात्मक आयुःप्राण प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त ज्योतिर्गौ-भाग पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप ज्योतिर्गौभाग शरीर है, आयुःप्राणयुक्त हृदयस्थ विज्ञान आत्मा है।

१३७-चान्द्री प्रज्ञानात्मसंस्था से समन्विता पञ्चमी प्रजापतिसंस्था का स्वरूप-दिग्दर्शन—

[५]--पाँचवीं सुब्रह्मप्रजापति [चन्द्रमा] की प्रत्यंशरूपा **प्रज्ञानात्मसंस्था** [५] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित, परज्योतिर्म्मय, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त श्रद्धायुक्त गन्धर्वप्राणात्मक यशःप्राण ही प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रेत ही पशु है, यही अशीति है अशीतिरूप रेतोभाग शरीर है, श्रद्धायुक्त यशः-प्राण से संयुक्त प्रज्ञान आत्मा है।

१३८-पार्थिवी-विराड्भाव-निबन्धना षष्ठी प्रजापतिसंस्था स्वरूप-समन्वय—

(६)-छठी विराट्प्रजापति (पृथिवी चितोनिधेय) की प्रत्यंशरूपा **शारीरकात्मसंस्था** [६] है। कण्ठरन्ध्रस्थ उदान, हृदय, जाठराग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाला, ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों का प्रवर्त्तक, प्राज्ञ, तैजस-वैश्वानरमूर्त्ति जीवात्मभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त (प्राणोदान-अपान समान, इन चारों प्राणवायुओं को अपने गर्भ में रखने वाला) पशुप्राणात्मक व्यानरूप प्राणवायु प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं शारीरप्राणत्रिलोकी पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूपा शारीरत्रिलोकी शरीर है, व्यानप्राणयुक्त जीवात्मा आत्मा है।

१३९-भूपिण्डानुगता-अग्न्यात्मसंस्था से समन्विता सप्तमी प्रजापतिसंस्था का तात्त्विक स्वरूप निदर्शन-एवं तदनुप्राणित प्रभव, योनि, प्रतिष्ठा, आशय-भावचतुष्टयी का नामस्मरण—

[७]-सातवीं विश्वप्रजापति [भूपिण्ड-नित्यपिण्ड] की प्रत्यंशरूपा **अग्न्यात्मसंस्था** [७] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित, गर्भीभूत ब्रह्माग्नि आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। लोम-केश-नखाग्रों को छोड़कर सर्वाङ्गशरीर में ताप, एवं अनाहतनाद का प्रवर्त्तक बनता हुआ भूतरूप शारीरिक अग्नि प्राण है, यही अर्क है। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप शरीरपिण्ड शरीर है, शारीरिक-अग्नियुक्त ब्रह्माग्नि आत्मा है। आत्मा-प्राण-पशु इन त्रिभावों के अतिरिक्त प्रत्येक आत्मसंस्थाओं में प्रभव, योनि, प्रतिष्ठा, आशय इन चार चार भावों का समावेश और है, जिनका कि विशद-निरूपण **ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य** में किया जाचुका है—[देखिए ई० उ० वि० द्वितीय खण्ड पृष्ठ सं० [२४९ से २६० पर्य्यन्त]।

१४०–प्रत्यगात्मा—(अमृतसत्यमूर्त्तिः) । (अहम्) ।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः	अव्ययः	आत्मा	प्रत्यगात्मप्रजापतिः (१)
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः	अक्षरः		
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः	क्षरः	शरीरम्	



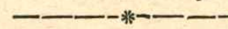
१४१–अव्यक्तात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः) । (अन्तर्यामी) ।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः	अन्तर्यामी	आत्मा	अव्यक्तात्मप्रजापतिः (१)
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः	ऋतसत्यसूत्रे		
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः	शरीरगुहा	शरीरम्	



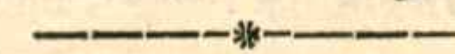
१४२–महानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः) । (सत्त्वम्) ।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः	सत्यभावः	आत्मा	महदात्मप्रजापतिः (२)
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः	सौम्यप्राणः		
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः	अब्भागः	शरीरम्	



१४३–विज्ञानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः) । (बुद्धिः) ।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः	विज्ञानम्	आत्मा	विज्ञानात्मप्रजापतिः (३)
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः	आयुः प्राणः		
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः	ज्योतिर्गौः	शरीरम्	



१४४–प्रज्ञानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः) । (मनः सर्वेन्द्रियम्) ।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः प्रज्ञानम्	आत्मा		प्रज्ञानात्मप्रजापतिः (४)
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः यशः प्राणः			
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः श्रद्धामयं शुक्रम्	शरीरम्		

———*———

१४५–शारीरकात्मा—(देवसत्यमूर्त्तिः) । (जीवात्मा) ।

१–एकविंशप्रवर्ग्यः—ज्ञानयुतः—प्राज्ञः	१–आत्मा–जीवात्मा	आत्मा	–शारीरकात्मप्रजापतिः (१)
२–पञ्चविंशप्रवर्ग्यः—क्रियायुतः—तैजसः			
३–त्रिवृत्प्रवर्ग्यः—अर्थयुतः—वैश्वानरः			
१–प्राणः, उदानः (दिव्यौ)	२–प्राणाः–व्यानः		
२–व्यानः, (आन्तरीक्ष्यः)			
३–अपानः, समानः (पार्थिवौः)			
१–हृत्कण्ठान्तरतः-द्यौः (शिरः)	३–पशवः–शारीरत्रिलोकी	शरीरम्	
२–मध्ये –अन्तरिक्षम् (उरः)			
३–गुदनाभ्यन्तरतः–पृथिवी (उदरम्)			

———★———

१४६–अग्न्यात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (भूतात्मा)।

१–आत्मा (उक्थम्)-पशुपतिः–ब्रह्माग्निः	आत्मा	अग्न्यात्माप्रजापतिः (५)
२–प्राणाः (अर्कः)—पाशः —-शरीराग्निः		
३–पशवः (अशीतिः)-पशुः—-शरीरपिण्डः	शरीरम्	

—— * ——

१४७–सप्तात्मसंस्थात्मक सप्त प्रजापति–विवर्त्तों का संकलनात्मक रहस्य–पूर्ण–समन्वय—

उक्त सात संस्थाओं में प्रथमसंस्था का अमृतसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् निरुपाधिक, किंवा नेति नेति) का [1]"**अमृतम्**" रूप है। १/२–२/३–३/४–४/५–५/६–इन पाँच संस्थाओं का ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् का [2]"**ब्रह्म**" है। एवं ६ ठी संस्था का देवसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् का [3]"**शुक्रम्**" है। इस प्रकार षट्परिग्रह--तारतम्य से वही तत् अमृतं बना हुआ है, वही तत् ब्रह्म बना हुआ, एवं वही तत् शुक्रं बना हुआ है—"**तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुतमुच्यते, तदु नात्येति किञ्चन**"–"**एतद्वै तत्**" (कठोपनिषत्)।

१–प्रत्यगात्मा (१)–(अहम्)	तदेवामृतमुच्यते (अमृतसत्यात्मा)–अन्यदेव	तद्विवर्त्तम्
२–अव्यक्तात्मा (१)–(अन्तर्य्यामी)	तद् ब्रह्म (ब्रह्मसत्यात्मा)–यदस्य त्वम्	
३–महानात्मा (२)–(सत्त्वम्)		
४–विज्ञानात्मा (३ –(बुद्धिः)		
५–प्रज्ञानात्मा (४)–(मनः)		
६–अग्न्यात्मा (५)–(भूतात्मा)		
७–शारीरकात्मा (१)–(जीवात्मा)	तदेव शुक्रम् (देवसत्यात्मा)–यदस्य च देवेषु	

—— * ——

१४८–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः' इत्यादि कठश्रुतिमूलक आत्मप्रजापति स्वरूप का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय, एवं तदनुबन्धी–'भोक्तात्मा' का संस्मरण—

जैसाकि प्रकरणारम्भ में बतलाया गया है, ज्ञान–कर्म्म–भक्तिप्रकरण के सम्बन्ध में उक्त सात आत्मसंस्थाओं के स्थान से प्रकृत में पाँच संस्थाएँ ही मुख्य मानीं जायँगी। यद्यपि प्रकृतिसिद्ध क्रमानुसार तो इन

पाँचों का संस्थानक्रम रहना चाहिए–**प्रत्यगात्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, जीवात्मा, भूतात्मा, यही**। परन्तु अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित जीवात्मा की कर्म्मप्रवृत्ति के तारतम्य से उक्त क्रम बदलकर **१-प्रत्यगात्मा, २-अव्यक्तगर्भित महानात्मा, ३-जीवात्मा, ४-विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, ५--भूतात्मा**–यह क्रम होजाता है। पात्पर्य्य इस का यह हुआ कि, जीवात्मा के उस ओर रहने वाले विज्ञान प्रज्ञान (बुद्धि–मान) जीवात्मा के इस ओर (आगे) आजाते हैं। कारण इस का यही है कि, मन बुद्धि को अग्रणी बनाकर ही जीवात्मा ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, इन तीनों में से किसी एक योग में प्रवृत्त होता है। इन्द्रिय-मन–बुद्धि ही कर्म्म-ज्ञान–भक्ति–फलभोक्ता, अतएव भोक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा के भोगसाधन बनते हैं–**"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"** (कठोपनिषदि)।

१४९–पञ्चविध आत्मप्रजापति–विवर्त्तों के पञ्चदशा (१५) महिमाभावों का तात्त्विक–स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना पञ्चदशधैव विभक्ता ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगत्रयी—

उक्त पाँचों संस्थाओं में प्रत्येक में आत्मा–प्राण–पशु, ये तीन तीन विभाग बतलाए हैं, एवं साथ ही आत्मा–प्राण की समष्टि को आत्मा, एवं पशु को सर्वत्र शरीर कहा गया है। आत्मा सर्वत्र ज्ञानमूर्त्ति हैं, शरीर सर्वत्र कर्म्ममूर्त्ति है, मध्यस्थ प्राण सर्वत्र उभयमूर्त्ति (ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति) है। प्रत्येक प्रजापति की ज्ञानमयी आत्म–संस्था, उभयमयी प्राणसंस्था, कर्म्ममयी पशुसंस्था ही क्रमशः अपनी संस्था के ज्ञान–भक्ति-कर्म्मयोगों की प्रतिष्ठा बनती है। तात्पर्य्यं–ज्ञानयोग का ज्ञानमय आत्मा से, भक्तियोग का उभयमय प्राण से, एवं कर्म्मयोग का कर्म्ममय पशु से सम्बन्ध है। इसप्रकार इसी त्रिसंस्था के आधार पर प्रत्येक आत्मसंस्था में योगत्रयी का उप–भोग सिद्ध हो जाता है। परिणामतः ५ आत्मसंस्था के १५ ही योग होजाते हैं, एवं १५ ही तद्योगाधिकारी बन जाते हैं, जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है।

१५०–प्रतिसंस्थानुगता प्रधानभावनिबन्धना एक-योगनिष्ठा का समन्वयात्मक-दिग्दर्शन—

प्रत्येक मनुष्य में, दूसरे शब्दों में प्रत्येक आध्यात्मिक–संस्था हैं, पाँचों आत्मविवर्त्त नित्य प्रतिष्ठित हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। जब पाँचों प्रतिष्ठित है, तो पाँचों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं की जासकती। यदि अन्तर है, तो प्रधानता अप्रधानता का। कर्म्म-संग-उपदेश-देश-काल–द्रव्य-अन्न आदि के तारतम्य से अध्यात्मसंस्थामें पाँचों में से जिस आत्मसंस्था की प्रधानता हो जाती है, शेष चारों को उसी का अनुगामी बन जाना पड़ता हैं। चारों अपना स्वातन्त्र्य खोकर एक के आधीन बन जातीं हैं। फलतः उस एक प्रधान की योगत्रयी ही शेष बच रहती है।

१५१–प्रधानयोग से अनुरञ्जिता योगद्वयी का प्रधान योग में हीं अन्तर्भावात्मक–समन्वय —

कर्म्म–ज्ञान–भक्ति, तीनों हीं का कर्त्ता-ज्ञाता–भक्त, प्रत्येक दशा में शारीरक आत्मा (जीवात्मा) ही बनता है। यही शुक्रात्मा है। बन्धनविमोक इसे ही अपेक्षित है। अब यह कर्म्मवश जिस संस्था का अनुगामी बन जाता है।' इसे उसी के रँग में रँग जाना पड़ता है, तद्रूप में हीं परिणत होजाना पड़ता है। एवं तद्रूपानुगता योगत्रयी का ही अनुगामी बन जाना पड़ता है, जैसाकि आगे के निदर्शनों से स्पष्ट हो–जायगा।

१५२-स्थूलारुन्धतिन्याय-माध्यम से योगत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

सबसे पहिले वैकारिकत्तररूपा भूतात्म संस्था पर ही हमारी दृष्टि पड़ती है। साथ ही पाँचों आत्म-संस्थाओं में स्थूलतम भी यही है। अतः स्थूलारुन्धतिन्याय की मर्य्यादा को लक्ष्य में रखते हुए यहीं से योगत्रयी के विचार का उपक्रम करना विशेष सुविधाजनक होगा। उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित-किया जारहा है।

१५३-अधिदैवत-अधिभूताधिदैवत-एवं अधिभूत-भेदनिबन्धना योगत्रयी के तात्त्विक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

भूतात्मसंस्था की ओर ध्यान आकर्षित करें, इस से पहिले हम पाठकों का इस ओर विशेष लक्ष्य कराना चाहते है कि, प्रत्येक संस्था में विद्यमान ज्ञान-कर्म्म रूप आत्मा-शरीर, ये दो प्रधान विभाग हैं। इन में ज्ञान अधिदैवत है, कर्म्म अधिभूत है। मध्यस्था प्राणसंस्था में क्योंकि अधिदैवतलक्षण ज्ञान, अधिभूतलक्षण कर्म्म, दोनों का समन्वय है। इसी आधार पर प्रत्येक संस्था की योगत्रयी के १-अधिदैवत साध्य, अधिदैवतसाधनरूप योग ज्ञानयोग, २-अधिभूतसाध्य, अधिभूत साधनरूप योग कर्म्मयोग, ३-अधिदैवतसाध्य, अधिभूतसाधनरूप योग भक्तियोग, ये सामान्य लक्षण होंगे। इन लक्षणों को पूर्ण रूप से लक्ष्य में रखते ही हुए मीमांसा अपेक्षिता है।

१५४-आधिभौतिक भावप्रधानवर्ग से अनुप्राणित भौतिक-स्थूल-कर्म्मयोग का स्वरूप-प्रदर्शन, एवं तदनुबन्धी पशुजगत्—

शरीर के केन्द्र में (हृदय में) प्रतिष्ठितः ब्रह्माग्नि उक्थरूप आत्मा है, एवं पूर्व परिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जायगा। सर्वाङ्गशरीर में अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त वह शारीराग्नि, जिस का कि स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, एवं कर्ण-नासिकावरोध से जिस का धक्-धक् करता हुआ शब्द सुनाई पड़ता है, जोकि वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है, अर्करूप प्राण है। मध्यस्थ होने से यह ज्ञानमय आत्मा, कर्म्ममय शरीर दोनों के धर्म्मों से युक्त है। अतएव इसे उभययुक्त कहा जागया। यही इस संस्था का आधिदैविक-आधिभौतिक पदार्थ माना जायगा। पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरपिण्ड अशीतिरूप पशु है। इसे हम कर्म्ममय कहेंगे। एवं यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जायगा।

१५५-शारीरिक-तुष्टि-पुष्टि-मात्रनिबन्धन-पशुसमतुलित-कर्म्मयोग के अधिकारीवर्गका स्वरूप-समन्वय—

अपने जन्मसमय से अन्तसमय पर्य्यन्त जिन मनुष्योंनें दुर्भाग्यवश लौकिक शास्त्रीय आदि किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण नहीं की है, शिक्षण के आत्यन्तिक अभाव के साथ साथ जिनके जन्मान्तरीय संस्कार भी अत्यन्त मलिन हैं, ऐसे मनुष्यों की अध्यात्मसंस्था अविद्यारूप आवरण नाम के ६ ठे परिग्रह से सर्वथा आवृत होती हुई तमोमयी बनी रहती है। आवरणपरिग्रह से नित्ययुक्त पशु की जैसी स्थिति है, ठीक वही स्थिति इस की है। पशु खाते हैं, सोते है, भय करते हैं, प्रजोत्पत्ति करते है। इन चार कर्म्मों से पशु जीवित रहते हैं, साथ ही स्व-

तन्त्र भी। पशुसमकक्ष यह अज्ञ मनुष्य भी इन चार कर्म्मों के अतिरिक्त अपने जीवन में और कुछ नहीं करता। भूतात्मलक्षणा शरीरसंस्था का अनुगामी मनुष्य शरीर की पुष्टि, तुष्टि को ही अपने जीवन का मुख्य पुरुषार्थ समझता है।

१५६–आवरणपरिग्रह से समन्वित भूतात्मा के भूतावरणात्मक भौतिक कर्म्मयोग की स्वरूपविश्रान्ति का दिग्दर्शन—

आवरणपरिग्रहयुक्त इस भूतात्मा की प्रधानता से इस की शेष चारों आत्मसंस्थाएँ भी तद्रूपा बनती हुईं तदनुगता ही बनी रहती हैं। मन–बुद्धि–इन्द्रियाँ सबकुछ इसी भूतात्मा के उपकार–साधन में लगे रहते हैं। इस की मानसेच्छा, बौद्धिक विचार, इन्द्रियव्यापार सब का पर्य्यवसान भूतात्मा पर ही विश्रान्त है।

१५७–अञ्जन, और आवरण नामक परिग्रह–मूलक शुद्धतम, तथा मलिनतम का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, उदाहरणविधि का अनुगमन, एवं तन्निबन्धन योगों का स्वरूप-तारतम्य—

अञ्जन नाम के पाँचवें परिग्रह से युक्त, अतएव साञ्जन विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा ही उक्त अधिकार की मूल प्रतिष्ठा बनेगा। आवरणपरिग्रहयुक्त भूतात्मसंस्था जहाँ मलिन तम से युक्त मानी जाती है, वहाँ अञ्जनपरिग्रहयुक्त यह प्रज्ञानात्मसंस्था शुद्ध तम से युक्त मानी जायगी। ऐसा काला दर्पण, जो स्याही से काला बनाया गया हो, जिसमें से उस ओर की कोई वस्तु न दिखलाई देती हो, मलिनतमोयुक्त माना जायगा। ऐसा काला दर्पण (धूपका चश्मा) जो काला होता हुआ भी दृष्टि का अवरोधक नहीं बनेगा, शुद्ध तमोयुक्त कहा–जायगा। सावरण भूतात्मा जहाँ मलिन कृष्णदर्पण है, वहाँ साञ्जन प्रज्ञानात्मा शुद्ध कृष्ण दर्पण है। तमोरूप से दोनों सजातीय हैं, जाति से दोनों विजातीय हैं।

१५८–अञ्जन और आवरण के तारतम्य का समन्वय, स्वार्थ, परमार्थ की स्वरूप–परिभाषा, तन्निबन्धन योगों का तारतम्य, एवं तदनुगत लौकिक अधिकारियों का इतिवृत्त–दिग्दर्शन—

अञ्जन आवरण की प्रथम भूमिका है, तो आवरण उसी की दूसरी भूमिका। छायारूप तम अञ्जन है, तो रात्रिका अन्धकार आवरण है। परमार्थतः दोनों ही हैं आवरण तमोरूप। उसके अनुयायी जहाँ पशुसमकक्ष हैं, वहाँ इसके अनुयायी एक प्रकार के उत्तम पशु माने जासकते हैं। आहार-निद्रा-भय-मैथुन नामक जो चार उद्देश्य उनके थे, वे ही इनके भी हैं। दोनों उद्देश्यों के स्वार्थों में ही थोड़ा-सा अन्तर है। उनका स्वार्थ वैय्यक्तिकभाव से सीमित होता हुआ विशुद्ध स्वार्थ है। इन का स्वार्थ वैय्यक्तिकभाव के साथ साथ सामाजिक, राष्ट्रीय स्वार्थ का अनुगामी बनता हुआ परमार्थयुक्त स्वार्थ है। वे लोकवृत्ति से अपरिचित रहते हुए जहाँ असभ्य ग्रामीण माने जायँगे, वहाँ ये लोकचातुर्य्य के अनुग्रह से सभ्य नागरिक कहे जायँगे। वे लोकवैभव-शून्य रहेंगे, ये लोकवैभव से युक्त रहेंगे। वे मूर्ख कहलाएँगे, ये चतुर कहलाएँगे। वे शासित रहेंगे, ये शासक रहेंगे। उनकी मूर्खता ही इन बुद्धिमानों की स्वार्थलिप्सा पूर्ण करेगी। काम वे करेंगे, परिश्रम वे

उठावेंगे, लाभ मिलेगा इनको। ये ही कुछ एक ऐसे भेद हैं, जिनके आधार पर दोनों वर्गों की तुलना में सुगमता से विचार किया जासकता है। अब हमें देखना यही है कि, प्रज्ञानात्मानुयायी ये लौकिक अधिकारी किसप्रकार योगानुष्ठानों में प्रवृत्त रहते हैं।

१५६–वर्त्तमान-योगत्रयी का वर्त्तमाना शिक्षानुबन्धिनी वृत्ति के आधार पर रहस्य-पूर्ण-समन्वय—

लौकिक योगत्रयी से पहिले यह विशेषरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए कि, जिस लौकिकी शिक्षा के बल पर इन की योगत्रयी प्रतिष्ठित है, उस शिक्षा का एकमात्र विकारस्वरूप भौतिकजगत् से ही सम्बन्ध है। विविध प्रकार के नाशक, भयावह भौतिक आविष्कारों की शिक्षा देने वाले विज्ञान, शिल्प, कला, वाणिज्य, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, आदि आदि ही शिक्षा के स्रोत हैं, उन सबका एकमात्र लोकोन्नति से ही सम्बन्ध है। भारतीय-शास्त्रातिरिक्त इतर जितने भी शिक्षाशास्त्र हैं (कुछ एक आत्मग्रन्थों को छोड़कर), वे सब आधिभौतिक (लौकिक) उन्नति के ही उत्तेजक हैं। इन ग्रन्थों की शिक्षा से शिक्षित मानव समाज ही लौकिक-योगत्रयी में सफल होसकेगा, एवं ऐसा ही समाज इस योगत्रयी का अधिकारी भी माना जायगा।

१६०–लौकिक-भौतिक-कर्म्मयोग, एवं तत्-कर्म्मयोगी का स्वरूप-समन्वय—

कुछ एक महानुभाव तो ऐसे हैं, जो नियत अवधिपर्य्यन्त शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर शिक्षानुगत विषयों के आधार पर अन्वेषण करते हैं। अन्वेषणों से आविष्कार करते हैं। आविष्कारों से समाज की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। तात्पर्य्य, शिक्षा के पीछे का सम्पूर्ण जीवन तत्सम्बन्धी अन्वेषणादि कर्म्मों में हीं व्यतीत होता है। भौतिक अन्वेषणकर्म्म साधन बनता है, भौतिक आविष्कार साध्य बनते हैं। आविष्कारों का फल भी प्रचुर धनरूप आधिभौतिक ही है। अतएव पूर्वलक्षणानुसार इस योग को अवश्यही **'कर्म्मयोग'** कहा जासकता है। कर्म्मयोगी मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है—**'कर्म्म'**। साध्य-साधन-सबकुछ कर्म्म पर ही विश्रान्त है।

१६१–लौकिक-प्राकृत मानव के लौकिक-भक्तियोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कुछ एक महानुभाव ऐसे हैं, जो कर्म्म को उद्देश्य बनाते हुए, कर्म्म से समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा विश्व की सेवा करते हुए अपने बौद्धिक जगत् को अधिकाधिक विकसित करते रहते हैं। ऐसे सेवकों का **'आशय'** उत्तरोत्तर महान् बनता जाता है, समाज, किंवा राष्ट्र विशेषरूप से ऋणी बन जाता है। साधन इन का कर्म्म बनता है, साध्य रहता है समाज-राष्ट्र-विकासपूर्वक अपना विकास। विकास ज्ञान का ही अन्यतम धर्म्म है। अतएव इस साध्य को हम **'ज्ञान'** कह सकते हैं। इसप्रकार आधिदैविक साध्य, आधिभौतिक साधनरूप इस योग को पूर्व परिभाषानुसार अवश्य ही **'भक्तियोग'** कहा जासकता है।

१६२–लोकानुबन्धी पारिभाषिक-प्रचलित-कर्म्मयोग, और कर्म्मयोगी—

कुछ एक मनुष्य ऐसे हैं, जो शिक्षाप्राप्त्यनन्तर न तो तदनुसार आधिभौतिक कर्म्म करते, एवं न कर्म्म के द्वारा समाजसेवा का ही अनुगमन करते। किन्तु किसी उच्चपद पर प्रतिष्ठित होकर केवल उपदेशक बन जाते हैं। विशुद्ध आदर्शवादी बन कर ये लोग समाज, किंवा राष्ट्र के मुखिया बनजाते हैं। इतर दोनों वर्गों

को अपने पशुबान्धव इन यथाजात मनुष्यों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछएक मनुष्य तो ऐसे हैं, जो अपनी और अपने परिवार की जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए दिन में आठ-दस घन्टे श्रम (मजदूरी) करते हैं। जो पैसे मिलते हैं, उन से अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। यही इनके जीवनकृत्य का शाश्वत प्रवाह है। यहाँ साध्य-साधन दोनों आधिभौतिक हैं। आधिभौतिक (स्थूल) शरीर को मजदूरी का साधन बनाते हैं, फलस्थान में जो कुछ पैसे मिलते हैं, वे भी आधिभौतिक ही हैं, एवं इन का उपयोग भी आधिभौतिक शरीर के रक्षण में ही होता है। मजदूरी करके पेट पालने वाले जितने भी यथाजात मनुष्य हैं, उन सब के साध्य-साधन दोनों आधिभौतिक ही रहेंगे। अतएव इनके इस योग को पूर्व परिभाषानुसार हम '**कर्म्मयोग**' ही कहेंगे।

१६३–सेवाधर्म्मात्मक लौकिक-भक्तियोग की लोकानुबन्धिनी उभयधर्म्मात्मकता का तात्त्विक–स्वरूप-समन्वय —

कुछ एक यथाजात मनुष्य ऐसे हैं, जो शारीरिकबल की कमी से अथवा अन्य किसी कारण से बहुपरिश्रमसाध्य कायिकश्रम-वृत्ति करने में असमर्थ बनते हुए सेवावृत्ति का अनुगमन करते हैं और समाज के धनिक–सम्पन्न मनुष्यों का आश्रय ग्रहण करते हैं। इनका आसन कायिकश्रमवृत्तिधर लोगों से कुछ ऊँचा है। कारण यही है कि भद्रपुरुषों के सहवास से इन में थोड़ी बहुत सभ्यता का विकास रहता है। गोप–नापितादि सच्छूद्र इसीके निदर्शन हैं। यहाँ साधन तो शरीरलक्षण आधिभौतिक ही रहता है, परन्तु साध्य होता है ज्ञानलक्षण आधिदैविकभाव। सेवा के प्रतिफल में वेतन तो मिलता ही है, परन्तु वेतन के साथ साथ भद्रपुरुषों के सहवास से आंशिकरूप से सभ्यतालक्षणा ज्ञानमात्रा का भी पुरस्कार मिलता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि मजदूरीपेशा कर्म्मयोगियों की अपेक्षा ये सेवावृत्ति के अनुयायी कुछ विशेषरूप से सुखी रहते हैं। इनकी दैनिक आवश्यकताएँ कुछ सुविधा से पूरी होजाती हैं। क्योंकि यहाँ साधन आधिभौतिक है, साध्य (आधिभौतिक के साथ साथ) आधिदैविक भी है। अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इनके इस योग को हम अवश्य ही '**भक्तियोग**' कहेंगे। इन उपासकों के उपास्य इनके स्वामी हैं। ये अपने कर्म्म-(आधिभौतिक)-साधन से उनके ज्ञान (आधिदैविक) को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

१६४–कायिक-श्रमानुगत-यथाजात प्राकृत-मानववर्ग से अनुप्राणित प्राकृतयोग का स्वरूप दिग्दर्शन, तदनुगत आयुःक्षत्र-संरक्षण, एवं तत्स्वरूप-संरक्षक जघन्यतम सदुपायों का दिग्दर्शन—

अब एक ऐसा समुदाय भी हमारे सामने आता है जो न कायिक श्रम कर सकता है, न सेवावृत्ति का ही अनुगमन कर सकता है, जब कि मजदूरी एवं सेवावृत्ति करने की योग्यता इसमें है। ऐसे मनुष्यों को ही अकर्म्मण्य, मन्दभागी, करमफूटे [भाग्यहीन], आलसी इत्यादि उच्च (?) उपाधियों से विभूषित किया जाता है। प्रश्न होता है कि, जब ये अवतारपुरुष (?) न मजदूरी करते, और न सेवावृत्ति को ही अपने पोजीशन के योग्य समझते हैं, एवं साथ ही दरिद्रताने भी जिनका पूर्णरूप से आतिथ्य स्वीकार कर रक्खा है तो इनका एवं इनके परिवार का भरण पोषण कैसे होता होगा ? उत्तर की कोई आवश्यकता नहीं है। सनातनधर्म्म

ने निर्ज्जला एकादशी का व्रत किसके लिए नियत किया है ? और फिर "आयुर्मर्म्माणि रक्षति, आयुरन्नं प्रयच्छति" इस सिद्धान्त का विरोध भी कौन कर सकता है ? यदि आयुःसूत्र को इन्हें सुरक्षित रखना होगा, तो वह अपने आप भरण पोषण की भी कोई न कोई व्यवस्था ढूँढ ही निकालेगा। और फिर उधार, चोरी, डाका, वञ्चना, धूर्तता आदि सदुपाय (?) भी जो विद्यमान हैं।

१६५–'अज्ञानं तस्य शरणम्' सूत्र के अनुवर्त्मा प्राकृत मानव की मनोनिबन्धना काल्पनिक-स्थिति-परिस्थितियों का स्वरूप-चित्रण, एवं प्राकृतमानव की विमूढता-लक्षणा शान्ति (?) का स्वरूप-चित्रण—

परिवार भले ही अन्न-वस्त्र के लिए त्राहि त्राहि करता रहे। स्वयं को भी भले ही एकादशी के पवित्रव्रत का अनुष्ठान करना पड़े। परन्तु वाह रे शेर ! क्या मजाल जो अपनी भीष्मप्रतिज्ञा तोड़ कर किसी उद्योग पर दृष्टि पात करे। घर बैठे बैठे बड़े बड़े संशय विकल्प करते रहना, कल्पना के सुन्दर साम्राज्य में विचरते रहना, परिश्रम शब्द के श्रवणमात्र से पुलकित होकर अश्रुपात करने लग पड़ना, व्यक्त विश्व के व्यक्त कर्म्मों से मुख मोड़कर अव्यक्तचिन्ता में अहोरात्र निमग्न रहना, क्या ये सब कम पुरुषार्थ हैं ? कल्पनारूप ज्ञान ही साधन, कल्पनारूप प्रज्ञान ही साध्य, ऐसा यह ज्ञानयोग किस अकर्मण्य ज्ञानी को प्रिय न होगा ? आधिभौतिक स्थूलशरीर भी जर्ज्जरित सही, उभयरूप शारीराग्नि भी मन्द–मन्दतर–मन्दतम सही, आधिदैविक ब्रह्माग्नि [हृदय] शान्त चाहिए और यह काम उक्तलक्षण ज्ञानयोग से पूरा होजाता है—"अज्ञानं तस्य शरणम्"।

१६६–'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धिनष्टानचेतसः' सूत्रपथानुगामी प्राकृत मानव की विभिन्न स्वरूप–स्थितियाँ, तदनुबन्धिनी लोक-वित्त-पुत्रैषणात्रयी तथा प्राकृत–मानव का काल्पनिक–अद्वैत–वाद—

लोग कहते हैं, मनुष्य अपने दोष से पशुसम बन जाता है। हम कहते हैं, अभी उन्होंने मानव–जीवन के उस अन्तिम धरातल का अध्ययन ही नहीं किया, जहाँ पशुसीमा का भी अतिक्रमण कर ये नरपुंगव धन्य (?) बन गए हैं। पशु तो मजदूरी करता है, दुग्धादि से मानवसमाज की सेवा करता है, परन्तु हमारे चरितनायक ये ज्ञानयोगी (?) तो संसार को स्वप्नवत् मिथ्या समझते हुए सर्वथा ही वीतराग बने हुए हैं। हाँ, इन वीतरागियों के यह रहस्य अवश्य ही समझ में नहीं आरहा कि, जब हम अपने परिवार को [सांसारिक मोह से हटाने के लिए] पर्य्याप्त दुःख दे रहे हैं, उनके नेत्रपटलों को [ताड़न–गर्ज्जन–भर्त्सन आदि विविध दण्ड प्रयोगों से] अहोरात्र अश्रुपूर्ण रखते हैं, संसारी मनुष्यों के संसर्ग से बचने के लिए भंग धतूरा सुलफा गाँझा–आदि उन्मत्तकरणों में सतत निमग्न रहते हैं, तो फिर भी यह परिवार, यह बन्धु–बान्धव, यह समाज क्यों हमें बुरा बतलाता है ?, क्यों हम से घृणा करता है और इन सब आक्रमणों को सहते हुए भी क्यों हम पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा के पीछे अनुधावन कर रहे हैं ? सचमुच ऐसा होना तो नहीं चाहिए था, परन्तु होरहा है। क्यों होरहा है, इसका उत्तर भला जब आप जैसे ज्ञानयोगियों को नहीं विदित, तो हमारी क्या गति है ? और फिर आपके इस अद्वैतवाद में–"हम और हमारी समझ" यह

द्वैत रह ही कहाँ जाता है। न आज हम हम हैं, न हमारी समझ समझ है। दोनों के रहते हुए भी विदेह-मुक्ति-लाभ कर चुके हैं। सुनते हैं, भगवान्ने उत्तर देने का प्रयास किया है। सुनकर क्या कीजिएगा, जबकि आपने उस उत्तर को पहिले से ही व्यावहारिक रूप दे डाला है—**"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"** ।

१६७-मनसा-वाचा-कर्म्मणा दैवाश्रित प्राकृत मानवों का काल्पनिक-ज्ञानयोग—

क्योंकि उक्त निष्ठा में कल्पनारूप आधिदैविक ज्ञान ही साधन है, आधिदैविक ज्ञान ही कल्पना-रूप से साध्य बनता है, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इस योग को हम अवश्य ही "ज्ञानयोग" कह सकते हैं। इस योग के अनुयायी मनसा-वाचा-कर्म्मणा सर्वथा दैव के ही आश्रित रहते हैं।

१६८-व्यक्तितुष्टि, परिवार--समाज-राष्ट्र-तुष्टि से असंस्पृष्टा प्राकृता--काल्पनिका--योगत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त तीनों योगों में ज्ञानयोग सर्वथा निकृष्ट, कर्म्मयोग इस से अच्छा और भक्तियोग इससे उत्तम है। तीनों ही योगों की मूलप्रतिष्ठा आत्म-प्राण-पशु--लक्षण ब्रह्माग्नि-शरीराग्नि-शरीररूप भूतात्मा है। अतएव इस योगत्रयी को हम भूतात्मानुगत कह सकते हैं। कर्म्मयोगी विशेषरूप से भूतात्मा के शरीरभाग के अनुयायी, भक्तियोगी शारीराग्नि के अनुयायी, एवं ज्ञानयोगी ब्रह्माग्नि के अनुगामी है। अशिक्षित, मूर्ख, यथाजात, अकर्म्मण्य, अनुचर, पिटभर, मजदूर आदि सब श्रेणियों का इन्हीं तीनों योगों में से किसी एक योग में अन्तर्भाव किया जासकता है। यह योग न व्यक्तितुष्टि का कारण है, न समाजतुष्टि का। फिर राष्ट्र और विश्व के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।

१६९-आवरणपरिग्रहमूलक वैकारिक-क्षर से अनुप्राणिता प्राकृतयोगत्रयी की मूलप्रतिष्ठा का स्वरूप--समन्वय, एवं योगत्रयी का प्रथम-सोपान—

आवरण-परिग्रह का भूतात्मा से सम्बन्ध है, एवं यही वैकारिक क्षर है। प्रकृति के विकार का वैकारिकरूप ही वैकारिक क्षर हैं और यही इस योगत्रयी की मूलप्रतिष्ठा है। प्रकृति, शक्ति, योग्यता, समय, देश, काल, द्रव्य, पात्रादि के विरुद्ध गमन करना ही इस योगत्रयी की मूलभित्ति है। एवं यही योगत्रयी का प्रथम सोपान है, जो प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है।

१७०--(१)-उभयदेशानुगता सामान्यायोगत्रयी—

(५) १-	१—श्रमजीविनः-कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः-शारीरानुगतः)		(सामान्याः)-शूद्राः
	२—सेवापरायणा-भक्ताः (भक्तियोगः-शरीराग्न्यनुगतः)		(अशिक्षिताः) सेवावृत्तिपरायणाः
	३—अकर्म्मण्याः-ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः-ब्रह्माग्न्यनुगतः)		—भूतात्मानुगता-योगत्रयी

—१-(५)—

——*——

१७१–(२)-विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मानुगता योगत्रयी-(विकारक्षर-प्रधाना योगत्रयी)—

शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित विज्ञानगर्भित प्रज्ञान उक्थरूप आत्मा है। पूर्वपरिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त वह विज्ञानप्राणगर्भित प्रज्ञानप्राण ही, जो कि ज्ञानकर्म्मेन्द्रियों के संचालन से अनुभवगम्य है, अर्करूप प्राण है। मध्यस्थ होने से यह उभयमय है। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक–आधिभौतिक पदार्थ है। हिरण्यतेजोगर्भित सोमतत्त्व ही अशीतिरूप पशु है। यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा।

१७२ लोकशिक्षादीक्षित–चतुर–मानववर्ग से अनुप्राणिता लोकशिक्षा, एवं तदनुप्राणिता अध्यात्मसंस्था—

अपने जन्म-समय से आरम्भ कर जन्मावसानपर्य्यन्त जिन लौकिक मनुष्यों को प्राकृतिक--शिक्षारूप शास्त्रीय--शिक्षा के अनुगमन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, अपितु ठीक इसके विपरीत जिन महानुभावों को (समाज--राष्ट्र किंवा विश्व के सामयिक नेताओं ने, विद्वानों ने, वैज्ञानिकों ने जिन लौकिक शिक्षाओं का आविर्भाव, प्रसार, प्रचार किया है, उन की इस) लौकिक शिक्षा के अनुगमन का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ है, लोकशिक्षादीक्षित वे चतुर मनुष्य ही इस दूसरी अध्यात्मसंस्था के अधिकारी माने जाएँगे।

१७३–प्रतीच्यदृष्टिकोणानुबन्धी कर्त्तव्य--योगों से अनुप्राणिता ज्ञान भक्ति--कर्म्म--योग-त्रयी का स्वरूप--समन्वय--प्रयास—

यदि पश्चिमी दृष्टिकोण से उक्त तीनों वर्गों का विचार किया जाएगा, तो हम कह सकेंगे कि, पश्चिमी देशों का सिविलविभाग ज्ञानयोग का अनुयायी है। मिलिट्रीविभाग कर्म्मयोग का अनुयायी है, एवं मर्चेन्ट विभाग भक्तियोग का अनुगामी है। शेष बचा हुआ लिबररविभाग भूतात्मसंस्था से सम्बन्ध रखनेवाला पूर्व का मानवसमाज है। इसप्रकार प्रथम- द्वितीय-संस्थाओं को मिला कर भारतेतर देशों के साथ वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली भारतीय प्रजा का भी समन्वय होजाता है।

१७४–शासकधर्म्मानुगत शासित मानववर्ग के अनुकरणात्मक धर्म्म, एवं प्रतीच्या योग-त्रयी का प्राच्य--मानव के द्वारा अन्धानुकरण—

क्योंकि विगत शताब्दियों से भारतवर्ष का संसर्ग पश्चिमी देशों के साथ (शासित–शासक रूप से) रहा है और शासितजाति शासकजाति की संस्कृति, सभ्यता को अपनाने के लिए विवश कर दी जाती है, अतएव कुछ समय से भारतीय प्रजा में भी उक्त लौकिक योगत्रयी का प्रवेश होगया है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, अनुकरण करने में दक्ष भारतीय प्रजा ने अपनी शास्त्रीय योगत्रयी को भुला कर उसके

स्थान में शासकों के संसर्ग से लौकिक योगत्रयी को ही अपना लिया है । फलस्वरूप वर्त्तमानयुग की भारतीय प्रजा में भी प्रत्यक्षरूप से तीनों लौकिक योग ही प्रचलित होगए हैं ।

१७५-शिक्षित भारतीय मानवों के प्रतीच्यानुकरणनिबन्धन विविध वर्ग, तदनुगत व्यवस्थातारतम्य, एवं अन्धानुकरणात्मक लौकिक-कर्म्मयोग का स्वरूप-समन्वय-

कुछ भारतीय मनुष्य तो ऐसे हैं, जो पश्चिमी शिक्षायन्त्रों से नियन्त्रित शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर, सर्वथा नवीन साँचे में ढल कर उस कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ते हैं, जिस का कि एकमात्र उद्देश्य भौतिक समुन्नति, समाजोन्नति, किंवा राष्ट्रोन्नति ही है । जिन कर्म्मों से समाज, एवं राष्ट्र की आर्थिक चिन्ता दूर हो, रोटी, कपड़े का प्रश्न हल हो, वही कर्म्म इन कर्म्मवादियों का मुख्य उद्देश्य बन जाता है । इस भौतिक कर्म्मवाद के अनुयायी भारतीय ही अधिकारसिद्ध शास्त्रीय कर्म्मवाद का उपहास करते रहते हैं । अनीश्वरमूलक प्रजातन्त्र को मूल बना कर, वर्णाश्रमधर्म्मों की एकान्ततः उपेक्षा कर कल्पित साम्यवाद के आधार पर ही यह कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है । "सोचने समझने का कोई काम नहीं, बस आँख मींच कर किए जाओ" यही इनका मूलसूत्र है । ज्ञानवञ्चित यह कर्म्म, क्योंकि साध्य-साधन रूप से उभयथा आधिभौतिक है, अतएव पूर्व-परिभाषानुसार इस लौकिक योग को अवश्य ही "कर्म्मयोग" कहा जासकता है ।

१७६-प्रतीच्य--भक्तियोग के अन्धानुकरण से अनुप्राणित प्राच्य--भारतीय--मानवों का अनुकरणात्मक--भक्तियोग--स्वरूप-समन्वय—

कुछ भारतीय मनुष्य ऐसे भी हैं, जो पक्षपाती तो उसी आदर्श के हैं। परन्तु शीघ्रता से काम न लेकर धैर्य्यपूर्वक आगे बढ़ते हैं । कर्म्म को ज्ञान पर प्रतिष्ठित कर, सामयिक परिस्थिति को लक्ष्य में रख, कहने मात्र के लिए हाँ में हाँ करते हुए कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होते हैं । और यही कारण है कि, ये उन विशुद्ध कर्म्मवादियों की अपेक्षा अपनी नीति में विशेषरूप से सफल होते हैं । कर्म्मसाधन से ये समाज के बौद्धिक जगत् पर विजय प्राप्त करते हुए ज्ञान को ही साध्य बनाते हैं । अतएव आधिभौतिक साधन, आधिदैविक-साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार "भक्तियोग" कहा जा सकता है ।

१७७-प्रतीच्य--ज्ञानयोग के पथानुवर्त्मा भारतीयों के काल्पनिक--ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक तीसरा भारतीय समाज ऐसा भी है, जो न कर्म्म करता है, न ज्ञान को मूल बना कर कर्म्म का स्वांग ही भरता है । अपितु करता है वह केवल उपदेश मन्त्रणा ,देना ही इसका मुख्य पुरुषार्थ है । शेष दोनों वर्गों का नेता बना हुआ यह समाज समाज के सर्वोच्च आसन पर विराजमान रहता है । ज्ञान ही इसका साधन है, ज्ञान ही साध्य है । अतएव आधिदैविक साधन एवं आधिदैविक साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार 'ज्ञान-योग' कहा जासकता है ।

१७८–शास्त्रीया योगत्रयी को कल्पितस्वरूप-प्रदान, तन्निबन्धना विविध भ्रान्तियों, 'यथाकथञ्चित्' का स्वारस्य, एवं शास्त्रभक्त भारतीयों की काल्पनिक शास्त्र-भक्ति का व्यामोहनात्मक स्वरूप–दिग्दर्शन —

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबलवेग से आक्रमण करने वाले इस पश्चिमी संसर्ग ने अधिकांश में यद्यपि भारतीय समाज की शास्त्रीय-योगत्रयी को उक्त कल्पितरूप दे डाला है। फिर भी यह मान लेने में भी कोई अड़चन न होगी कि, कुछ समूह ऐसा भी बच गया, जिस पर साक्षाद्रूप से वह योगत्रयी आक्रमण न कर सकी। यही कारण है कि, इस हीनयुग में भी भारतवर्ष का कुछ समुदाय अपनी शास्त्रीय-योगत्रयी पर यथा-कथंचित् प्रतिष्ठित है। यथाकथंचित् इसलिए कहना पड़ता है कि, साक्षात् न सही, परम्परा से ही सही, ये भी उस छाप से अपनी मौलिकता स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रख सके। उनके संसर्ग से जिन भारतीयोंने मूल-निष्ठाओं की अवहेलना, एवं परनिष्ठाओं का अनुगमन किया, उन उच्छिष्टभोगी भारतीयों के संसर्ग से कुछ ही समय में ये भी उच्छिष्टभोगी ही बन गए। आज तो इन शास्त्रभक्तों के सम्बन्ध में भी यह निःसंकोच कहा जासकता है कि, नाममात्र के लिए शास्त्रीया बनी हुई इनकी योगत्रयी भी सर्वथा अशास्त्रीया ही बनी हुई है। शास्त्र ने विशुद्ध व्यवहार का ही रूप धारण कर लिया है।

१७९–भारतीयों के अवैध-यज्ञात्मक-काल्पनिक-कर्म्मयोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

शास्त्रीय-पद्धति से युक्त यज्ञकर्म्म को कल्पित पद्धतियों का रूप देकर अवैधविधि से यज्ञकर्म्म के अनुष्ठान करनेवालों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। इन के इस यज्ञकर्म्म के साधन भी कर्पूर–केशर–चन्दनादि आधिभौतिक पदार्थ ही हैं। एवं "वायुशुद्धि आदि फल भी आधिभौतिक ही हैं। अतएव साधन-साध्यरूपेण उभयथा आधिभौतिक बने हुए इस कल्पितयोग को पूर्वपरिभाषानुसार **"कर्म्मयोग"** कहा जा-सकता है।

१८०–भारतीयों के शास्त्राभासरूप काल्पनिक भक्तियोग का नग्नस्वरूप—

शास्त्रीय पद्धतियुक्त भक्तिमार्ग को कल्पित रूप देकर लोकसंग्रहविरोधी, ज्ञान वैराग्य शून्य, नामस्मरण नामसंकीर्त्तन आदि रूप भक्तिमार्ग के अनुष्ठान करने वाले भक्तशिरोमणियों की संख्या उन कर्म्मठों की अपेक्षा भी समृद्ध होती जारही है। साधन आधिभौतिक हैं, साध्य कल्पित आधिदैविक हैं। अतएव साधन-रूप से आधिभौतिक, साध्यरूप से आधिभौतिक इस कल्पित योग को पूर्वपरिभाषानुसार **"भक्तियोग"** कहा जासकता है।

१८१–भारतीयों के काल्पनिक ज्ञानयोग का स्वरूपोपबृंहण—

शास्त्रीय अव्यक्तप्रधान ज्ञानयोग को वस्त्र रँगने का स्थान प्रदान कर कल्पित संन्यास धारण करने वाले ढोंगी साधु–संन्यासियों की भी आज देश में कमी नहीं है। यदि इनके कल्पित संन्यास का कौतुक देखना हो, तो कुम्भपर्व में पहुँच जाइए। कोई औंधा लटक रहा है, कोई काँटों पर सोरहा है। कैसी अद्भुत

ज्ञानचर्य्या है ? साधन सब कल्पित आधिदैविक (वस्तुतः आधिभौतिक), साध्य भी सब आधिदैविक (वस्तुतः आधिभौतिक)। इसलिए अवरुद्धकण्ठ से इसयोग को भी पूर्व परिभाषानुसार "ज्ञानयोग" कहा जासकता है।

१८२-योगत्रयी के प्रति उपेक्षा रखने वाले एक चतुर्थ-'व्यावहारिक-समाज' का स्वरूप संस्मरण—

अब भारतवर्ष का एक समूह बच गया। उसे हम "सामाजिक-समूह" कह सकते हैं। राष्ट्रीय और धार्मिक, दोनों समूहों के अनन्तर सामाजिक समूह का भी विचार कर लीजिए। एक समाज ऐसा भी है, जिसे न राजनीतिमूलक राष्ट्र से प्रेम है, एवं न जिसकी धर्म्मनीतिमूलक शास्त्रों पर ही निष्ठा है। न वह इनकी निन्दा करता है, न स्तुति। अपितु अपना एक स्वतन्त्र पथ बना कर वह अपनी जीवननौका का सञ्चालन कर रहा है। इसे हम **"व्यावहारिक-समाज" भी कह सकते हैं।**

१८३-व्यवहारकुशल मानव-वर्ग का स्वरूपेतिवृत्त—

माता पिताने अपनी आर्थिकपरिस्थिति के अनुसार इसे जैसी जितनी शिक्षा का पात्र बना दिया, उसी से सन्तोष कर यह जीवनसंग्राम में जुट पड़ा। कोई वकालत करने लगा, कोई इञ्जिनीयर बन गया, कोई डाक्टर वैद्य बन गया, कोई खेती करने लगा, कोई चित्रकारी तो कोई सिलाई का काम। इस व्यवहारकुशल मानव समाज में भी तीनों योगों का समावेश माना जासकता है।

१८४-व्यावहारिक-मानव-वर्ग के व्यावहारिक-कर्म्मयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

शिक्षाप्राप्त्यनन्तर शिक्षानुसार किसी एक कर्म्म में यावज्जीवन प्रवृत्त रहने वाला, कर्म्म के द्वारा प्राप्त (कर्म्मानुरूप) सम्पत्ति से अपना और अपने परिवार का भरण पोषण करने वाला वर्ग कर्म्मानुयायी कहलाएगा। साध्यरूप से उभयथा आधिभौतिक बना हुआ यह योग पूर्वपरिभाषानुसार **"कर्म्मयोग"** कहलाएगा।

१८५-व्यवहारकुशल-व्यावहारिक मानव के व्यावहारिक भक्तियोग का स्वरूप-चित्रण—

कर्म्मयोगी समाज का प्रधान लक्ष्य जहाँ अपना परिवार रहेगा, वहाँ इस दूसरे वर्ग की दृष्टि परिवार के साथ साथ आंशिक रूप में समाजसेवा भी रहेगी। अवश्य ही कुछ एक शिक्षित (चाहे वह प्रतीच्य शिक्षा हो, अथवा साधारण प्राच्य शिक्षा) अपने धन्धों के साथ साथ सुविधानुसार समय निकाल कर सामाजिक कार्य्यों में भी सहयोग दिया करते हैं। अपने कर्म्मों से ये समाजविकास के कारण बनते हैं। उधर पूर्व कथनानुसार विकास ज्ञानकर्म्म है। अतएव आधिभौतिक साधनरूप, आधिदैविक साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार **'भक्तियोग'** कहा जासकता है।

१८६-व्यवहारनिष्ठ-व्यावहारिक-मानव के ज्ञानयोग का नीरक्षीर-विवेक—

कुछ एक ऐसे भी सामाजिक मनुष्य मिलेंगे, जो न तो अपना ही कोई विशेष कर्म्म करेंगे, एवं न सामाजिक कर्म्मों में ही कोई क्रियात्मक सहयोग देंगे। अपितु शिक्षा के कुछ अधिक विकास से समाज के मुखिया

(पंच-नेता) बनकर समाज के (वाचिक प्रयोगों के द्वारा) उपदेशक बन जाएँगे। खरे खोटे की समालोचना करना, पञ्चायती संघटन के द्वारा उत्पथ जाने वाले के लिए दण्ड विधान करना, समयानुसार सामाजिक, किंवा जातीय रीतिविधानों में हानि लाभ प्रदर्शन-पूर्वक सुधारों की घोषणा करते रहना, इत्यादि वाचिक ज्ञानोपदेशमय ज्ञानीय कर्म्म ही इन के मुख्य कर्म्म रहेंगे। क्योंकि इन के साधन साध्य दोनों ज्ञानप्रधान रहेंगे, अतएव आधिदैविक साधन साध्यरूप इस योग को पूर्व परिभाषानुसार अवश्य ही **'ज्ञानयोग'** कहा जासकेगा।

१८७-राष्ट्रीय, धार्म्मिक, सामाजिक, तथा साधारण-भेदनिबन्धन मानव के चतुर्विध विभिन्नवर्ग, एवं उनका स्वरूप-दिग्दर्शन—

पूर्व सन्दर्भ का निष्कर्ष यही निकला कि समस्त भूमण्डल से देशों को **प्राच्यदेश**, **प्रतीच्यदेश** इन दो भागों में विभक्त माना जासकता है। देश-काल-पात्र की योग्यता के भेद से दोनों ही प्रदेशों के मानवसमाज यद्यपि आदर्श, संस्कृति, आचार, व्यवहार में भिन्न भिन्न माने जाएँगे, परन्तु योगत्रयी के सम्बन्ध में दोनों का उद्देश्य समतुलित ही माना जाएगा। प्राच्यदेश का मानवसमाज जिसप्रकार स्थूलदृष्टि से **राष्ट्रीय**, **धार्म्मिक**, **सामाजिक**, **साधारण** इन चार भागों में विभक्त माना गया है, एवमेव प्रतीच्य-मानव समाज को भी इन्हीं चार भागों में विभक्त किया जासकता है। पूर्व में यद्यपि हमने पश्चिमी मानव समाज के सम्बन्ध में केवल राष्ट्रीय वर्ग का ही दिग्दर्शन कराया है, परन्तु प्रदर्शित पूर्वीय धार्म्मिकादि इतर तीनों समाजों का भी वहाँ वैसे ही श्रेणि विभाग समझना चाहिए, जो कि श्रेणि-विभाग पूर्वी देशों के सम्बन्ध में बतलाया गया है।

१८८-श्रेणिविभागानुबन्धी वर्गविभागों का स्वरूपसमन्वय, समाजनीति-राष्ट्रनीति-राजनीति-धर्म्मनीति आदि का संस्मरण, तथा नीति और धर्म्म का सम्बन्ध-असम्बन्धानुगत-विपर्य्यय—

दोनों समाजों का श्रेणि-विभाग करते हुए विज्ञ पाठक इस बात का तो पूरा ध्यान रक्खेंगे ही कि, वर्त्तमान काल को लक्ष्य में रखकर पूर्वीयदेशों के, विशेषतः भारतवर्ष के मानवसमाज को जिन **राष्ट्रीय-धार्म्मिक-सामाजिक-सामान्य**, इन चार भागों में विभक्त बतलाया है, ये चारों ही विभाग अपनी मौलिकता से वञ्चित हैं। पश्चिमी देशों के ये चार विभाग सदा से ही पृथक् पृथक् चले आरहे हैं। परन्तु भारतवर्ष में चार के स्थान में केवल एक ही विभाग था और वह था, धार्म्मिक विभाग। यहाँ की राष्ट्र सम्बन्धिनी राजनीति, समाजनीति, सामान्यनीति तीनों धर्म्मनीति के गर्भ में ही प्रविष्ट थीं। धर्म्मनीति से विरोध रखनेवाली राजनीति हो, सामान्यनीति हो, समाजनीति हो, अथवा राष्ट्रनीति हो, कभी भारतवर्ष में सिर नहीं उठा सकती थी। यहाँ इस एक धर्म्मनीति के आधार पर ही इतर तीनों की मान्यता प्रतिष्ठित थी, जब कि पश्चिमी देशों में राजनीति और धर्म्मनीति का कभी समन्वय नहीं होसका। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि—भारतवर्ष में राजनीति, समाजनीति आदि को, जहाँ धर्म्मनीति के अनुसार चलना पड़ता था, इस के सर्वथा विपरीत पश्चिमी देशों में धर्म्मनीति, समाजनीति सदा राजनीति के अनुसार प्रवाहित हुई हैं। वहाँ जो धर्म्मव्यवहार, जो सामाजिक नियन्त्रण राजनैतिक (राष्ट्रीय) स्वार्थों के विरोधी सिद्ध

हुए हैं, उन का सर्वथा निष्कासन होता रहा है। वहाँ राजनीति धर्म्म के लिए नहीं है, अपितु धर्म्मनीति राजनीति की साधिका है। धर्म्मरक्षा के लिए राजनीति का उपयोग नहीं होता, अपितु राजनीति के ऐकान्तिक स्वार्थपूर्ण दुर्ग को दृढ बनाने के लिए धर्म्मप्रचार को उत्तेजना दी जाती है। परिणाम इस वृत्ति का यह हुआ कि, वहाँ चारों वर्ग स्वतन्त्र बन गए हैं। धर्म्म ही एक ऐसा दिव्य आलम्बन है, जो सारे भेदवादों का अपने एक अभिन्न धरातल पर समीकरण कर सकता है। कारण, धर्म्म प्रकृति का शासनसूत्र है। राजनीति, समाज-नीति आदि अस्थिर मानवीय मन की अस्थिर एवं सामयिक कल्पना है। इस सामयिक कल्पना को यदि धर्म्म का आधार बना दिया जाता है, तो वह धर्म्म, वह समाजनीति आदि आदि सबकुछ कल्पनामय ही बन जाते हैं।

१८९-धर्म्म का मूलप्रतिष्ठात्व, तद्व्यवस्थापक आचार्य्य और वर्त्तमानयुग में तदुपेक्षा, एवं उसके भीषण दुष्परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भारतीय आचार्य्यों ने धर्म्म के आधार पर राजनीति, समाजनीति आदि को प्रतिष्ठित कर इन का अभूतपूर्व विलक्षण समन्वय किया है। अभिन्न धर्म्म के धरातल पर प्रतिष्ठित ये सम्पूर्ण भेदवाद अपने अपने भेदवादों को सुरक्षित रखते हुए किसी अभिन्न उद्देश्य को लक्ष्य बना कर ही आगे बढते थे। परन्तु जैसाकि पूर्व में कहा गया है, पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयनीति के संसर्ग में पड़कर भारतीय प्रजा ने मौलिक धर्म्म-धरा-तल के स्थान में राजनीति को मुख्य धरातल बनाने की एक भयङ्कर भूल कर डाली। परिणाम जो कुछ हुआ, देश उसका कटु अनुभव कर रहा है। पश्चिमी देशों की भांति यहाँ के राष्ट्रीय-नेता भी धर्म्मनीति, समाज-नीति को राजनीति से सर्वथा पृथक् समझने लगे हैं। धर्म्मनीति को राष्ट्रीय एकीकरण में अन्यतमप्रतिबन्धक समझा जाने लगा है। उधर इनकी इस मनोवृत्ति से भारतीय धार्म्मिक समाज राष्ट्रीय-नीति को धर्म्म का शत्रु समझने लगा है। प्रत्ययविरोध की इसी अहमहमिका में पड़कर देश की संगठन शक्ति शीर्ण होती जारही है। संगठन के नाम पर दोनों ओर से ही संगठन को निर्म्मूल बनाया जारहा है। और इसी दृष्टि से लौकिक योगत्रयी एक के स्थान में चार भागों में विभक्त होरही है। सामान्य (अशिक्षित) जनानुगता योगत्रयी का जहाँ भूतात्मसंस्था से सम्बन्ध है, वहाँ राष्ट्रीय-धार्म्मिक-सामाजिक योगत्रयी का विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध है, यह पूर्व में कहा ही जाचुका है।

१९०-त्रिविधा योगत्रयी के फलाफल का संस्मरण, एवं नीति और धर्म्म के समन्वय-असमन्वय के सम्बन्ध में आपातरमणीया विभिन्न-धारणाएँ —

एक बात और। राष्ट्रीय, धार्म्मिक, सामाजिक तीनों की योगत्रयी के फलाफल का विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि तीनों में धार्म्मिक समाज का तीसरा स्थान है, सामाजिक दल का दूसरा एवं राष्ट्रीय दल का तीसरा। धार्म्मिक समाज अत्यन्त हीनदशा में है। कारण स्पष्ट है। धर्म्म को न मानने से उतना अनिष्ट नहीं होता, जितना कि धर्म्म को धोका देने से। नाममात्र के लिए धार्म्मिक समाज आज व्याज से धर्म्माचरण कर रहा है। दूसरे शब्दों में अज्ञानता से, अथवा जान बूझ कर धर्म्म के नाम पर अधर्म्म कर रहा है। इसी पाप से राष्ट्रीय सामाजिक वर्गों की अपेक्षा इसी की आर्थिक, सामाजिक आदि सब दशाएँ निकृष्ट होती जारही हैं। उधर एक समाज सामाजिक एवं राष्ट्रीय मनुष्य धर्म्म को न मानकर विशुद्ध भूतवाद

के आधार पर आगे बढ़ रहा है। धर्म्म को धोका नहीं देरहा। प्रत्यक्षरूप से धर्म की अवहेलना कर अपने भूतवाद का अनुयायी बना हुआ है। परिणामतः धार्म्मिकजगत् की अपेक्षा ये दोनों समाज आर्थिक, सामाजिक दशाओं में निष्कण्टक से बने हुए हैं और यही इनका सब से बड़ा तर्क है, जिसके आधार पर ये धर्म्मनीति के उपहास करने की धृष्टता किया करते हैं।

१६१–विज्ञानात्मगर्भिता आत्मसंस्था का संस्मरण, एवं आत्मपरमात्मभावनाशून्या लौकिकी योगत्रयी—

अस्तु, वक्तव्य यही है कि बुद्धि को मन का सेवक बनाकर ऐन्द्रियक विषय-वासना की तुष्टि के लिए, भूतोन्नति के लिए प्रवृत्त, लोकशिक्षादीक्षित लौकिक मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली, आत्म-परमात्म-भावशून्या दूसरी योगत्रयी अध्यात्मसंस्था की (विकारक्षरप्रधाना) विज्ञानगर्भिता संस्था पर ही प्रतिष्ठित है।

१६२–(१) (क)-प्रतीच्यदेशानुगता लौकिक-यौगिकत्रयी-प्रथमा दृष्टि

(४) २	१–आविष्कारकाः———कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः-सोमतत्त्वानुगतः)	[विशेषः]
	२–राष्ट्रसमाजसेवापरायणाः-भक्ताः (भक्तियोगः-वि० प्रा० गर्भित—प्रज्ञानप्राणानुगतः)	[शिक्षिताः] प्रज्ञानात्मानुगता
	३–उपदेशकाः-सन्तः-ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः-वि० ग० प्रज्ञानुगतः)	योगत्रयी

१६३–(ख)–पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी-(द्वितीया दृष्टिः)।

(४)–२	१–मिलिट्रीवर्गः (क्षत्रियस्थानीयः)-कर्म्मठः (कर्म्मयोगः-सोमानुगतः)	(विशेषाः-शिक्षिताः)
	२–मर्चेन्टवर्गः (वैश्यस्थानीयः)-भक्तः (भक्तियोगः-प्रज्ञानप्राणानुगतः)	प्रज्ञानात्मानुगता–
	३–सिविलवर्गः (ब्राह्मणस्थानीयः)-ज्ञानी (ज्ञानयोगः-प्रज्ञानानुगतः)	योगत्रयी

—*—

१६४–पश्चिमदेशानुगता–लौकिकयोगत्रयी–राष्ट्रीया—

(रूसप्रदेशानुगताविशेष रूपेण)

१–प्रजातन्त्रानुयायिनः—कर्म्मण्येवासक्ताः—अविवेकिनः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)

२–प्रजातन्त्रानुयायिनः—कर्म्मण्येवासक्ताः—किन्तुविवेकिनः-भक्ताः (भक्तियोगः)

३–प्रजातन्त्रानुयायिनः—मार्गप्रदर्शकास्तन्त्राध्यक्षाः———ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

—*—

१६५–पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी–धर्म्मानुगता—

१–धर्म्ममार्गेऽध्यस्ताः—राजतन्त्रानुगताः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)

२–धर्म्ममार्गेऽध्यस्ताः—समाजसेवकाः—भक्ताः (भक्तियोगः)

३–धर्म्ममार्गोपदेशकाः—सन्तपालादयः—ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

——*——

१६६–पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी–समाजनिबन्धना—

१–वैयक्तिक-पारिवारिक-पालनकर्म्मणि निरताः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)

२–पारिवारिक-चिन्तानिवृत्तिपूर्वकं समाज से०नि०–भक्ताः (भक्तियोगः)

३–अवैतनिकाः, सामाजिकाः, निर्णायकाः———ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

——*——

१६७–भारतवर्षानुगता लौकिक-योगत्रयी, आधुनिकी–राष्ट्रीया—

१–अन्धरूपेण भौतिककर्म्मणि निरता धर्म्मविरोधिनो भारतीयाः-प्रजातन्त्रानुगामिनः।

२–विवेकमाश्रित्य भौ० क० नि० ध० वि० भा० प्रजातन्त्रानुगताः।

३–विवेकमाश्रित्य राष्ट्रनीतिसञ्चालकाः, उपदेशनिरता नेतारः, ध० वि० प्र०।

——*——

१६८–भारतवर्षानुगता लौकिकयोगत्रयी, आधुनिकी–धर्म्मानुगता–

१–अशास्त्रीयपद्धत्या यज्ञकर्म्मणि प्रवृत्ता धार्म्मिका भारतीयाः, राजतन्त्रानुगामिनः।

२–अशास्त्रीयपद्धत्या नामसंकीर्तनादिलक्षणे भक्तिमार्गे प्र० भा० राज०।

३–शास्त्रमर्म्मानभिज्ञाः, मिथ्याधर्म्मप्रचारकाः।

——*——

१६६--भारतवर्षानुगता लौकिकयोगत्रयी आधुनिकी-समाजनिबन्धना-

१-प्राप्तशिक्षाबलेन परिवारपालनार्थमेव कर्म्मणि प्रवृत्ताः, तटस्थाः ।

२-प्रा० शि० परिवारेण सह समाजमप्युपकृतवन्तः-तटस्थाः ।

३-समाजव्यवस्थापकाः, उपदेशकाः ।

—२—

२००-(३)-शारीरकात्मानुगता योगत्रयी (आत्मक्षरप्रधाना योगत्रयी) (केवल-भारतवर्षीया)—

शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति जीवभाव उक्थरूप आत्मा है, एवं पूर्व-परिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं। यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा। पार्थिव अपान, समान, प्राणोदान-गर्भित आन्तरिक्ष्य व्यानप्राण ही अर्करूप प्राण है। मध्यस्थ होने से आधिदैविक आधिभौतिक दोनों पदार्थों का समष्टिरूप बनता हुआ उभय माना जाएगा। शारीरत्रिलोकी ही अशीतिरूप पशु है। यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा।

२०१-भारतीय तत्त्वज्ञों के द्वारा सोपानभावनिबन्धन-पारम्परिक-आत्मसंस्थाओं का स्वरूप-साक्षात्कार, तन्निबन्धना तत्त्वस्वरूप-व्यवस्थिति, एवं तदनुप्राणिता-'शास्त्रीया-योगत्रयी' का माङ्गलिक-स्वरूप-संस्मरण—

जिन विचारशील भारतीय विद्वानों ने भौतिक जगत् के साथ अपने मन को विज्ञान का अनुगामी बनाते हुए (आवृत्यचक्षुः) अमृतत्त्व की इच्छा से शरीरातिरिक्त नित्य आत्मतत्त्व का अन्वेषण किया, उन्हों ने कालान्तर में उक्त त्रिपर्वा आत्मक्षररूप महत् के दर्शन कर लिए। आगे जाकर इन्हें अव्यक्तगर्भित अक्षरमूर्त्ति महत् के दर्शन हुए। इस परम्परा से एक दिन इन आप्तपुरुषों ने अपनी सुसूक्ष्मा आर्षदृष्टि से उस सर्वान्तरतम **'अहंब्रह्म'** रूप अव्ययमूर्त्ति प्रत्यगात्मा के साथ समन्वयभाव प्राप्त कर लिया। तदित्थं भारतीय ऋषियों का आत्मवाद व्यक्त आत्मक्षर शारीरक आत्मा से चलकर अक्षरमूर्त्ति अव्यक्तगर्भित महानात्मा का संग्रह करता हुआ व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययमूर्त्ति प्रत्यगात्मा (आध्यात्मिक ईश्वर) पर ही विश्रान्त है। पुरुषात्मक एक ही आत्मा के व्यक्ताव्यक्तगर्भित (क्षराक्षरगर्भित) व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययप्रधान **प्रत्यगात्मा**, व्यक्त सनातन (क्षराव्यय) गर्भित अव्यक्तप्रधान (अक्षरप्रधान) **महानात्मा**, सनातन अव्यक्त (अव्ययाक्षर) गर्भित व्यक्तप्रधान (आत्मक्षरप्रधान) **शारीरक आत्मा**, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। प्रत्यगात्मा **परमात्मा** है, महानात्मा **क्षेत्रज्ञात्मा** है, एवं शारीरकात्मा जीव संज्ञक अन्तरात्मा है। इन्हीं तीनों आत्मविवर्त्तों के स्वरूप-निरूपण के लिए, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-कर्म-

भक्तियोगों के विश्लेषण के लिए वेदादिशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। अतएव इन तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगत्रयी के विवर्त्तों को "**शास्त्रीय योगत्रयी**" नाम से ही व्यवहृत करेंगे। और साथ ही यह भी कहेंगे कि, इन तीनों के परिज्ञान का, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगों का, योगों के प्रसार प्रचार का प्राप्त एवं अनुगमन का अधिकार एकमात्र भारतीय वर्णाश्रम धर्म्मानुयायिनी द्विजाति प्रजा को ही है। यह भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है, जिस की भारतेतर देशों में अद्यावधि सर्वथा अनुपलब्धि है। तीनों में से सर्वप्रथम तीसरे शारीरक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले योगत्रयीविवर्त्त का ही विचार प्रस्तुत है।

२०२-शारीरकात्मा में अभिनिविष्ट प्राकृत-मानवों के द्वारा प्रत्यगात्मा की उपेक्षा, तद्दुष्परिणाम, एवं तन्निबन्धना आसक्ति के विभिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण-

शारीरकात्मा को ही मुख्य लक्ष्य समझने वाले विद्वानों ने तदनुगता योगत्रयी पर ही विश्राम कर लिया, जोकि प्रत्यगात्मा की दृष्टि से सर्वथा अनुचित था। यदि शारीरकात्मानुगता योगत्रयी का आधार प्रत्यगात्मा को बना लिया जाता, तो कभी इस शास्त्रीय-योगत्रयी का गीता को, संशोधन न करना पड़ता। परन्तु जैसा कि इन तीनों के विशद लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट किया जाचुका है, शारीरकात्मा के उक्थरूप जीवभाव से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञानयोग, शारीरकात्मा के अर्करूप व्यानप्राण से सम्बन्ध रखने वला भक्तियोग एवं शारीरकात्मा के अशितिरूप शरीरत्रैलोक्य से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मयोग, तीनों ही क्रमशः ज्ञानासक्ति, भगवदनुग्रहप्राप्तिकामासक्ति, स्वर्गादिफलप्राप्तिकामासक्ति दोषों से दूषित बना दिए गए, जैसाकि वहाँ के लक्षणों से उक्तप्राय है।

२०३-'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' मूलक-ज्ञानयोग, एवं भगवान् के द्वारा तन्निन्दा—

सांख्य मतानुयायियों ने कर्म्मपरित्यागलक्षण शारीरकात्मयोगात्मक ज्ञानयोग को प्रधानता दी— "**ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्**"। इनके साधन-साध्य दोनों ज्ञानरूप आधिदैविक ही बने और इसी दृष्टि से पूर्व परिभाषानुसार इस योग को "**ज्ञानयोग**" कहा गया। भगवान् ने न केवल इसकी निन्दा ही की, अपितु इसका अनुष्ठान भी असम्भव बतलाया गया।

२०४-कर्म्मासक्त-अभिनिविष्टों के 'कर्म्मयोग' का स्वरूप-संस्मरण—

हिरण्यगर्भमतानुयायियों ने कर्म्म का परिग्रह तो किया, परन्तु फलाशा पूर्वक। साधन भी आधिभौतिक बने। स्वर्गादिमूलरूप साध्य भी आधिभौतिक। फलतः फलकामासक्तिमय, अतएव त्रिगुणभावमय यह यज्ञ-कर्म्मात्मक योग पूर्वपरिभाषानुसार "**कर्म्मयोग**" कहलाया। इसे भी भगवान् ने दोषयुक्त बतलाया। भक्तिमार्गानुयायी भक्तों ने स्वार्थ का तो अनुगमन किया, परन्तु ईश्वरानुग्रह की कामना कर डाली। फलतः इनका आधिभौतिक साधन, आधिदैविक साध्यरूप यह भक्तियोग भी दोष से न बच सका। और इन सब दोषों का मूलकारण बना केवल शारीरकात्मा का अनुगमन।

२०५-'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' सूत्रानुगत-'लोके' शब्द का रहस्यपूर्ण समन्वय, एवं काल्पनिकी निष्ठाओं की लोकभावुकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

शारीरकात्मा देहाभिमानी बनता हुआ स्वभावतः त्रिगुणभाव की ओर आकर्षित रहता है। जहाँ त्रिगुणभाव है, वहाँ अवश्य ही आसक्ति विद्यमान है। फिर चाहे वह आसक्ति ईश्वरासक्ति हो, अथवा ज्ञानासक्ति। आसक्ति आसक्ति है, बन्धन है। जबतक तक बन्धन है, तबतक आत्मा क्षुब्ध है। क्षोभ में अशान्ति है-**"अशान्तस्य कुतः सुखम्"**। ऐसी दशा में शास्त्रीय योगत्रयी को अपने बुद्धिदोष से उक्त दोषों से युक्त बनाकर क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों में प्रवृत्त रहने वाले अभिनिविष्ट विद्वान् एक प्रकार से मूलोद्देश्य सिद्ध करने में असफल ही रहे। अतएव यह योगत्रयी शास्त्र को अपना मूल बनाती हुई भी शास्त्रीय उद्देश्य से वञ्चित होने के कारण भगवान् की दृष्टि में शास्त्रीय-निष्ठा न कहलाकर लोकनिष्ठा ही कहलाई, जैसाकि—**"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽऽनघ"** इत्यादि से स्पष्ट है।

(३)
- १-सर्वकर्म्मत्यागपूर्वकं ज्ञाने एव निरताः सांख्याः-(ज्ञानयोगो जीवानुगतः)
- २-ईश्वरानुग्रहकामुका भक्ताः (भक्तियोगः-व्यानानुगतः)
- ३-कर्म्मफलानुगामिनः-योगिनः (कर्म्मयोगः शा० त्रैलोक्यानुगतः)

शारीरकात्मानुगता — योगत्रयी (१-ख्रिता)

—३—

२०६(४)-अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगता योगत्रयी (अक्षरप्रधाना योगत्रयी)

शरीरकेन्द्र में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्म-(शान्तात्म)-गर्भित सत्त्वमूर्त्ति अक्षरप्रधान महत्तत्त्व उकथ-रूप आत्मा है। पूर्वपरिभाषानुसार इसे ज्ञानमय कहा जाएगा, एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त ऋत-सत्य-रूप अव्यक्त प्राणगर्भित सौम्यप्राण अर्करूप प्राण माना जाएगा, एवं इसे ही इस संस्था का अभयरूप आधिदैविकाधिभौतिक पदार्थ कहा जाएगा। अव्यक्त पशुमूर्त्ति शिरोगुहा गर्भित अभ्रभाग अशीतिरूप पशु कहा जाएगा, एवं इसे ही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा।

२०७-गीताद्वारा संशोधित योगत्रयी का लोकसंग्राहीरूप—

ज्ञान--भक्ति--कर्म्म नाम की जिन शास्त्रीय निष्ठाओं को सांख्य--योगी--भक्तों ने (स्वतन्त्ररूप देते हुए) शारीरकात्मा पर विश्रान्त माना था, अतएव जो योग दोषयुक्त, अतएव च त्याज्य बने हुए थे, लोकसंग्राही भगवान् ने महानात्मा के समावेश से इन्हीं तीनों का संशोधन कर गीता में स्थान दिया। गीता के द्वारा संशोधित, महदात्मयुक्त बने हुए वे ही योग क्रमशः **ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग** नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन तीनों संशोधित योगों के क्या लक्षण हैं, तीनों में कौन

अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, यह भी देख लीजिए, जिससे कि पूर्व में बतलाए गए कल्पित शास्त्रीय योगों की तुलना में विशेष सुविधा रहे—

२०८ (१)-ज्ञानयोगः संशोधितः, निर्दोषः, अतएव ग्राह्यः—

(गीतासम्मतो ज्ञानबुद्धियोगः)

"सांसारिक दुःखों से बचने के लिए प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह यथाशास्त्र, ब्रह्मचर्य्य–गृहस्थधर्म्मों का पालन करता हुआ तीसरे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर लोक, वित्त, पुत्रैषणा का परित्याग करदे। इस आश्रम में आत्मोपयिक निवृत्तकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ, यथासाध्य लोकोपकार करता हुआ, अव्यक्त-अक्षरमूर्त्ति महानात्मा को लक्ष्य बनाता हुआ, आहारविहारादि को सीमित करता हुआ, आत्मकर्म्मों का अनुगामी बना रहे। इन निवृत्तकर्म्मों के प्रभाव से क्रमशः इसका आत्मा वासनाकषाय से मुक्त होता जाएगा। एक दिन यह क्षीणोदर्क की चरम सीमा पर पहुंचता हुआ कैवल्यभाव को प्राप्त होजाएगा"।

१

२०९ २–भक्तियोगः, संशोधितः, निर्दोषः, अतएव ग्राह्यः (गीता-सम्मत-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः)—

"संसारकष्ट से त्राण पाने के लिए मनुष्य का कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह यावज्जीवन शास्त्रविहित यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ, अपने एवं अपने कर्म्मों को विना किसी फलाकांक्षा के ईश्वरार्पण करता रहे। सतत ईश्वरानुध्यानपूर्वक क्रियमाण इस साधक का यह कर्म्म भक्तिरूप में परिणत होजाएगा। इसी भक्तिनिष्ठा के प्रभाव से कालान्तर में इसे प्रत्यगात्मलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजाएगी।

— २ —

२१० ३–कर्म्मयोगः, संशोधितः, निर्दोषः अतएव ग्राह्यः (गीता-सम्मत-धर्म्मबुद्धियोगः)—

"सांसारिक कर्म्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हुए भी इन में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो, इस के लिए द्विजाति को चाहिए कि वह अपने यज्ञादि वैदिक लौकिक कर्म्मों को उस विश्वयज्ञ में अर्पण करता हुआ निष्कामभाव से यावज्जीवन इन में प्रवृत्त रहे। इस निष्कामकर्म्म से कालान्तर में पहिले इसे भक्तिनिष्ठा मिलेगी, अनन्तर बुद्धि-योग का उदय होजाएगा।

— ३ —

२११–ज्ञानयोगापेक्षया कर्म्मयोग–पथ का सारल्य एवं लोकसंग्रह में उस का पूर्ण समावेश—

उक्त तीनों में ज्ञानयोग में क्लेश भी अधिक है, साथ ही लोकसंग्रह का भी प्रायः अभाव ही है। उधर कर्म्मयोग एक सरल पथ है, साथ ही लोकसंग्रह का भी पूर्ण समावेश है। इस दृष्टि से लौकिक–संन्यासमूलक इस ज्ञानयोग की अपेक्षा वैदिक–लौकिक–सामाजिक–व्यावहारिक–राष्ट्रीय आदि आदि सर्व–कर्म्मपरिग्रहलक्षण, अतएव पूर्णरूप से लोकसंग्राहक कर्म्मयोग कहीं अधिक श्रेष्ठ माना जाएगा–"**तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते।**"

२१२–"यो मे भक्तः स मे प्रियः" सूत्रानुगता ईश्वरानुग्रहलक्षणा भक्ति का श्रेष्ठत्त्व —

ज्ञानमार्ग में प्रसादगुण का अभाव है। ज्ञानी का धरातल सर्वथा उदासीन है। उधर कर्म्मठ का जीवन भी प्रसादभाव से वञ्चित सा ही है। जबतक ज्ञान–कर्म्ममार्ग में ईश्वरीय भाव का समावेश कर उसे मधुर नहीं बना दिया जाता, तबतक लक्ष्यसिद्धि होजाने पर भी आत्मप्रसाद नहीं होता। साथ ही में ज्ञान–योगी को भी ईश्वरानुग्रहलक्षणा भक्ति के द्वारा ही बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होती है, एवं पूर्वकथनानुसार कर्म्म–योगी भी उसी के द्वारा बुद्धियोगानुगमन में समर्थ होता है। इधर भक्तियोग का बुद्धियोग केसाथ साक्षात् सम्बन्ध है। इसदृष्टि से भक्तियोग कर्म्मयोग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना जाएगा–"**यो मे भक्तः, स मे प्रियः**"।

— ४ —

२१३–५–प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी–(अव्यय प्रधाना योगत्रयी)।

हृदयस्थ अव्ययतत्त्व उक्थरूप आत्मा, यह ज्ञानमय, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार आधिदैविक पदार्थ। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त विवर्त्तात्मक अक्षरतत्त्व अर्करूप प्राण, यह मध्यस्थ होने से आधिदैविका–धिभौतिक पदार्थ सर्वाङ्गशरीर में भूत प्रतिष्ठारूप से व्याप्त वर्त्तात्मक क्षरतत्त्व अशीतिरूप पशु, यह कर्म्ममय, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ।

२१४–गीता का विशुद्ध बुद्धियोगशास्त्रत्त्व एवं "अल्प में भूमा" का चारितार्थ्य—

अनेक युक्तियों, प्रमाणों, तर्कों, एवं अनुभवों से सर्वात्मना अब यह सिद्ध होचुका है कि, लोक–संग्रहदृष्टि से महदात्मसम्बन्धी ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगों का निरूपण करता हुआ भी गीताशास्त्र अपने रूप से प्रत्यगात्मसम्बन्धी बुद्धियोग का, किंवा बुद्धियोगत्रयी का ही निरूपण करता है। पाँचों आत्मसंस्थाओं का निरूपक गीताशास्त्र जहाँ प्रातिस्विकरूप से अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा का विश्लेषण करता है, वहाँ पाँचों से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से बुद्धियोगत्रयी का ही निरूपण करता है। इस दृष्टि से गीता ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, भक्तियोग तीनों में से एक भी शास्त्र न होकर विशुद्ध बुद्धियोग शास्त्र है। "**गागर में सागर**" किंवदन्ती को चरितार्थ करने वाले गीताशास्त्र का चमत्कार तो देखिए, उसने

पाँचों आत्मसंस्थाओं का, एवं पाँचों से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का भी दिग्दर्शन करा दिया है । विस्तार अधिक हुआ जाता है और फिर ये सब विषय स्वयं मूलभाष्य में विस्तार से प्रतिपादित होने ही वाले हैं । अतः इस प्रमाणनिर्देशन को छोड़ते हुए प्रकरणसङ्गति के लिए प्रत्यगात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले तीनों योगों के संक्षिप्त लक्षण बतला कर इस प्रकरण को उपरत किया जारहा है ।

२१५ १–उक्थलक्षणः प्रत्यगात्मानुगतः-बुद्धियोगरूपः, ज्ञानयोगः (गीताराद्धान्तः) ।

"सम्पूर्ण संसार, संसार में रहने वाला चतुर्दशविध सर्ग, जड़, चेतन, हम, तुम, तू, मैं आदि भेदों की विशुद्ध अव्ययदृष्टि से (अभिन्न रूप से) भावना करता हुआ मनुष्य, सब को मद्रूप समझता हुआ, यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में **उदासीनवृत्ति** से (लोकसंग्रह दृष्टि को मूल बना कर) यावज्जीवन प्रवृत्त रहता हुआ भूमोदर्क का अनुगामी मनुष्य ही उक्थरूप, प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप ज्ञानयोग का अधिकारी कहलाएगा । "**उदासीनवदासीनमसक्तं तषु कर्म्मसु**" यह वाक्य ही ज्ञानयोगलक्षण बुद्धियोग की प्रतिष्ठा माना जाएगा ।

— १ —

२१६ २–अर्कलक्षणः-प्रत्यगात्मानुगतः बुद्धियोगरूपः भक्तियोगः (उपासना)–(गीताराद्धान्तः)

"संसार के तत्कर्म्मों में प्रवृत रहने वाले तत्तत् मनुष्यों के कर्म्मों में पूर्णरूप से सहयोग प्रदान करने वाला, बड़े उत्साह से सब को यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत करानेवाला, स्वयमपि इस लोकसंग्रह दृष्टि से यथाधिकारिकसिद्ध कर्म्मों में एक संसारी की भाँति प्रवृत्त रहने वाला, संसारी की दृष्टि में अपने आपको पूर्ण संसारी प्रकट करने वाला, अपने कर्त्तव्यकर्म्म में पूर्ण प्रसादभाव का अनुगमन करने वाला भक्तवर ही अर्करूप प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप भक्तियोग का अधिकारी माना जाएगा ।

— २ —

२१७ ३–अशीतिलक्षणः, प्रत्यगात्मानुगतः, बुद्धियोगरूपः, कर्म्मयोगः (गीताराद्धान्तः)

"समाज नियन्त्रण की दृष्टि से कहीं उदासीन, कहीं तल्लीन वृत्ति का अनुगमन करने वाला, कर्त्तव्यकर्म्म में आत्मभावनापूर्वक सतत प्रवृत्त रहनेवाला आवश्यकतानुसार

समाज का निग्रह–अनुग्रह करने वाला, धर्म्मशास्त्रसिद्ध कर्म्मों में श्रद्धा प्रकट करने वाला, अधर्म्म कर्म्मों में विरक्ति दिखाने वाला योगी ही अशीतिरूप प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप कर्म्मयोग का अधिकारी माना जाएगा।

— ३ —

२१८–पश्चविध–तात्त्विक–आत्मस्वरूपसंस्थाओं का स्वरूप–समन्वय, पश्चविध आत्म–विवर्त्तों का समन्वयप्रयास एवं तन्निबन्धना त्रिकात्मिका पश्चदशविधा–योग–संस्थाओं का संस्मरण—

इसप्रकार अध्यात्मसंस्था की **मायाकलापरिग्रहयुक्त**, अव्ययप्रधान [1] **प्रत्यगात्मसंस्था, गुण–परिग्रहयुक्त**, अक्षरप्रधान अव्यक्तगर्भित [2] **महानात्मसंस्था, विकारपरिग्रहयुक्त**, आत्मक्षरप्रधान [3] **शारीरकात्मसंस्था, अञ्जनपरिग्रहयुक्त** विकारक्षरप्रधान विज्ञानगर्भित [4] **प्रज्ञानात्मसंस्था**, एवं **आवरणपरिग्रहयुक्त**, वैकारिकक्षरप्रधान [5] **भूतात्मसंस्था**, इन पाँच संस्थाओं के कारण प्रत्येक संस्था के **आत्मप्राणपशु** इन तीन पर्वों पर प्रतिष्ठित ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोगों के पाँच त्रिक होजाते हैं, सम्भूय १५ योग होजाते हैं। पश्चदशधा विभक्त इन पाँच योगत्रयी में आरम्भ और अन्त की दो योगत्रयी स्वतन्त्र हैं। आरम्भ की सर्वोच्च है, अन्त की सबसे नीचे के धरातल पर प्रतिष्ठित है। आरम्भ में विशुद्ध ईश्वरीय–भाव का साम्राज्य है, अन्त में विशुद्ध विश्वभाव का साम्राज्य है। आरम्भ की योगत्रयी भी बुद्धि से परे की वस्तु है, अन्त की योगत्रयी भी बुद्धि से परे की वस्तु है। आरम्भ की निष्ठा का अनुयायी बुद्धियोगी बुद्धि से परे पहुँचता हुआ नित्यानन्दमूर्त्ति है। अन्त की निष्ठा का अनुयायी विश्वयोगी बुद्धि से परे पहुँचता हुआ मूढ़तम बनता हुआ सुखी है। मध्य के तीनों वर्ग उभयभाव से युक्त हैं, जैसाकि निम्न लिखित सूक्ति से स्पष्ट है—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

२१९–योगत्रयी के रहस्य–पूर्ण–पश्च–त्रिकों का नाम–संस्मरण—

जिस मनुष्य की अध्यात्मसंस्था में, पाँचों में से जिस अध्यात्मसंस्था का विकास रहता है, उसकी इतर आत्मसंस्थाएँ उस विकसित अध्यात्मसंस्था में आत्मसमर्पण करती हुई तद्रूप ही बन जाती हैं। फलतः ज्ञान, भक्ति, कर्म्म तीनों में से किसी भी एक योग का अनुगमन करने वाला मनुष्य उस प्रधान आत्मा के धर्म्मों से युक्त होकर ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। इन पाँचों योगत्रयी–विवर्त्तों को हम **गीतायोगत्रयी, गीतासम्मतायोगत्रयी, शास्त्रीययोगत्रयी लौकिकयोगत्रयी, और सामान्ययोगत्रयी** इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं।

२२०-सर्वसंगृहानुगत-पञ्चदशविध-योगों का तालिकारूपेण-समन्वय प्रयास—

* अव्ययः (उक्थम्)-ज्ञानम्-अधिदैवतम (ज्ञानम्)
२-अक्षरः (अर्कः)-ज्ञानकर्म्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-आत्मक्षरः (अशीतिः)-कर्म-अधिभूतम् (कर्म्म)

१ -प्रत्यागात्मप्रजापतिः * (परमात्मा)

—*—

* अक्षरः (उक्थम्) ज्ञानम्-अधिदैवतम्-ज्ञानम्)
२-अव्ययः (अर्कः) ज्ञानकर्म्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-आत्मक्षरः (अशीतिः) कर्म्म-(अधिभूतम्) (कर्म्म)

-अव्यक्तगर्भितमहानात्मप्रजापतिः१ (क्षेत्र ज्ञात्मा)

—*—

* आत्मक्षरः (उक्थम्) ज्ञानम्-अधिदैवतम् (ज्ञानम्)
२-अक्षरः (अर्कः) ज्ञानकर्म्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-अव्ययः (अशीतिः) कर्म्म-अधिभूतम् (कर्म्म)

३ -शारीरकात्मप्रजापति २ (अन्तरात्मा)

—*—

* आत्मक्षरगर्भितविकारक्षरः (ज्ञानम्)-ज्ञानम्
२-अक्षरः (ज्ञा०क०)—भक्तिः
३-अव्ययः (क०)—कर्म्म

४ -विज्ञानगर्भितप्रज्ञानात्मप्रजापतिः ३ (योगसाधनम्)

—*—

* विकारक्षरगर्भितवैकारिकक्षरः (ज्ञानम्)-ज्ञानम्
२-आत्मक्षरगर्भितअक्षरः (ज्ञा०क०)-भक्तिः
३-योगमायानुगतः अव्ययः (क०)-कर्म्म

५ -भूतात्मप्रजापतिः * (आत्मायतनम्)

—*—

२२१–प्रकान्तरेण पञ्चदशविध-योगविवर्त्तों का–तालिका–माध्यम से स्वरूप–समन्वय—

* { *–अव्ययः (ज्ञानम्–मनः–अव्ययमहिमा) — अधिदैवतम्–आत्मा
२–अक्षरः (क्रिया–प्राणः–अक्षरमहिमा) — अधिदै० भू०–प्राणाः
३–आत्मक्षरः (अर्थः–वाक्–क्षरमहिमा) — अधिभूतम्–शरीरम् } १ प्रत्यगात्मप्रजापतिः * (प्रबुद्धात्मा)

१ { *–अन्तर्य्यामी (ज्ञानं–मनः–अव्ययविभूतिः
२–ऋतसत्यसूत्रे (क्रिया–प्राणः–अक्षरविभूतिः
—अधिदैवतम्–आत्मा
३–शरीरगुहा (अर्थः–वाक्–क्षरविभूतिः–
—अधिदै०भू०–प्राणाः
*–सत्त्वभावः (ज्ञानम्–मनः–अव्ययविभूतिः
२–सौम्यप्राणः (क्रिया–प्राणः–अक्षरविभूतिः–अधिभूतम्–शरीरम्
३–आपः (अर्थः–वाक्–क्षरविभूतिः— } २ अव्य० महानात्म प्राजापतिः १ (भक्त्यात्मा)

२ { *–जीवात्मा (ज्ञानम–मनः–अव्ययवि०) — अधिदैवतम्–आत्मा
२–व्यानप्राणः (क्रिया–प्राणः–अक्षरवि०) — अधिदै०भू०–प्राणाः
३–शरीरत्रिलोकी (अर्थः–वाक्–क्षरवि०) — अधिभूतम्–शरीरम् } ३ शारीरकात्मप्रजापतिः २ (भोक्तात्मा)

३ { *–विज्ञानम् (ज्ञानम्–मनः–अव्ययवि०)
२–आयुः प्राणः (क्रिया–प्राणः–अक्षरवि०) —अधिदैवतम्–आत्मा
३–ज्योतिर्गौः (अर्थः–वाक्–क्षरवि०)
—अधिदै०भू०–प्राणः
*–प्रज्ञानम् (ज्ञानम्–मनः–अक्षरवि०)
२–यशःप्राणः (क्रिया–प्राणः–अव्ययवि०) —अधिभूतम्–शरीरम्
३–शुक्रम् (अर्थः–वाक्–क्षरवि०) } ४ विज्ञा० प्रज्ञानात्म–प्रजापतिः ३ (भोगसाधनम्)

* { *–ब्रह्माग्निः (ज्ञानम्–मनः–अव्ययविभूतिः) — अधिदैवतम्–आत्मा
२–शारीराग्निः (क्रिया–प्राणः–अक्षरविभूतिः) — अधिदै०भू०–प्राणाः
३–शरीरपिण्डः (अर्थः–वाक्–क्षरविभूतिः) — अधिभूतम्–शरीरम् } ५ भूतात्मप्रजापतिः * (भोगायतनम्)

२२२–आत्मयोगविभूतिमाध्यम से पञ्चदशविध–योगविवर्त्तों का तालिकारूपेण–समन्वय–प्रयास—

	(१) १–उदासीनभावयुक्तोऽव्यययोगः कर्म्मज्ञानमयः—बुद्धियोगो ज्ञानयोगः	प्रत्यगात्म--योगत्रयी
१	(२) २–श्रद्धाभावयुक्तोऽव्यययोगः——कर्म्मज्ञानमयः—बुद्धियोगो भक्तियोगः	
	(३) ३–निग्रहानुग्रहभावयुक्तोऽव्यययोगः-ज्ञानकर्म्ममयः–बुद्धियोगः कर्म्मयोगः	

———— :*: ————

	(४) १–निवृत्तकर्म्ममयोऽक्षरयोगः-——ज्ञानमयः – ज्ञानबुद्धियोगो ज्ञानयोगः	अव्यक्तगर्भित–महानात्मयोगत्रयी
२	(५) २–निष्काममक्तिमयोऽक्षरयोगः–ज्ञानकर्म्ममयः-ऐश्वर्य्य बुद्धियोगोभक्तियोगः	
	(६) ३–निष्कामकर्म्ममयोऽक्षरयोगः-कर्म्ममयः——धर्म्मबुद्धियोगः कर्म्मयोगः	

——— :०: ———

	(७) १–कर्म्मन्यासलक्षणः,	आत्मक्षरयोगः--ज्ञानमयः——ज्ञानयोगः	शारीरकात्मयोगत्रयी
३	(८) २–भगवदनुग्रहप्राप्तिकामनालक्षणः–	आत्मक्षरयोगः–ज्ञानकर्म्ममय–भक्तियोगः	
	(९) ३–स्वर्गादिकामलक्षणः —	आत्मक्षरयोगः–कर्म्ममयः——-कर्म्मयोगः	

——— * ———

	(१०) १–लौकिकज्ञानलक्षणः,	विकारक्षरयोगो ज्ञानमयः——-ज्ञानयोगः	विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा योगत्रयी
४	(११) २–लौकिकज्ञानकर्म्मलक्षणः,	विकारक्षरयोगो ज्ञानकर्म्ममयः—भक्तियोगः	
	(१२) ३–लौकिक कर्म्मलक्षणः,	विकारक्षरयोगो कर्म्ममयः——-कर्म्मयोगः	

——— * ———

	(१३) १–अज्ञानरूपज्ञानलक्षणः–	वैकारिकक्षरयोगोः–ज्ञानयोगः	भूतात्मानुगता योगत्रयी
५	(१४) २–सेवाकर्म्मलक्षणः,	वैकारिकक्षरयोगः–भक्तियोगः	
	(१५) ३–परिश्रमकर्म्मलक्षणः,	वैकारिकक्षरयोगः–कर्म्मयोगः	

——— * ———

२२३–[१]–प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी–(अव्ययप्रधाना–आराध्या)।

(१) १–उदासीनयोगः	(वैराग्यबुद्धियोगः–ज्ञानयोगः)	—उक्थरूपेऽव्ययात्मनि योगः	गीतायोगत्रयी १
(२) २–श्रद्धामययोगः	(वैराग्यबुद्धियोगः–भक्तियोगः)	—अर्करूपेऽक्षरात्मनि योगः	
(३) ३–उभययोगः	(वैराग्यबुद्धियोगः- कर्म्मयोगः)	—अशितिरूपे क्षरात्मनि योगः	

२२४–[२]--अव्यक्तात्म- [शान्तात्म]-- गर्भिता महानात्मानुगता योगत्रयी [अक्षरप्रधाना--उपादेया]

(४) १–व्यक्तगर्भित–अव्यक्तयोगः (ज्ञानबुद्धियोगः-ज्ञानयोगः)–उक्थरूपेऽन्तर्यामिगर्भिते सत्त्वात्मनि योगः
१ (५) २–सनातनगर्भित–व्यक्तयोगः (ऐश्वर्यबुद्धियोगः-भक्तियोगः)–अर्करूपे ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणे योगः ॰ गीतासम्मतयोगत्रयी २
(६) ३–अव्यक्तगर्भित–व्यक्तयोगः (धर्म्मबुद्धियोगः-कर्म्मयोगः)–अशीतिरूपासु शरीरगुहागर्भितास्वप्सु योगः

—★—

२२५–[३]--शारीरकात्मानुगता योगत्रयी [आत्मक्षरप्रधाना-हेया]।

(७) १–व्यक्तवञ्चित–अव्यक्तयोगः–(ज्ञानयोगः–सांख्यानाम्)–उक्थरूपे जीवात्मनि योगः
२ (८) २–सनातनवञ्चित–व्यक्तयोगः–(भक्तियोगः–भागवतानाम्)–अर्करूपे व्यानप्राणे योगः ॰ शास्त्रीययोगत्रयी ३
(९) ३–अव्यक्तवञ्चित–व्यक्तयोगः–-(कर्म्मयोगः–योगिनाम्)–अशितिरूपे शा० त्रै० योगः

—*—

२२६–[४]--विज्ञानात्म (बुद्धि) गर्भित प्रज्ञानात्मानुगता (मनोऽनुगता) योगत्रयी (विकारक्षरप्रधाना त्याज्या)।

(१०) १–लौकिकज्ञानैकसारः–अव्यक्तयोगः (ज्ञानयोगः–साम्यवादिनाम्)-उक्थ० विज्ञानग० प्रज्ञा० योगः
३ (११) २–लौ०ज्ञानकर्मैकसारः–व्यक्तयोगः (भक्तियोगः–राष्ट्रसेवकानाम्)–अर्क०आयुः प्रा०ग०यशः योगः ॰ लौकिकयोगत्रयी ४
(१२) ३–लौकिककर्म्मैकसारः–व्यक्तयोगः (कर्म्मयोगः–राष्ट्रकर्म्मिणाम्)–अशी० ज्यतिर्गौ—शुक्रे योगः

—*—

२२७–[५]--भूतात्मानुगता योगत्रयी (इन्द्रियानुगता)-वैकारिकक्षरप्रधाना उपेक्षणीया।

(१३) १–अज्ञानावृतज्ञानैकसारः–अकर्म्मयोगः (ज्ञानयोगः–अकर्म्मण्यानाम्) उक्थरूपे ब्रह्माग्नौ योगः
(१४) २–अज्ञानयुक्तकर्म्मैकसारः -दास्ययोगः (भक्तियोगः–अनुचराणाम्) अर्करूपे शारीराग्नौ योगः ॰ सामान्ययोगत्रयी ५
(१५) ३–विमूढकर्म्मैकसारः-—निर्वाहयोगः (कर्म्मयोगः–श्रमजीविनाम्) अशितिरूपे शरीर योगः

—*—

२२८–योगविभूति के अधिकारियों का तालिका माध्यम से नाम–स्वरूप–समन्वय—

१–उदासीनयोगानुगामिनः–युक्ताः––योगविदो वा	युक्तयोगी
❀ २–श्रद्धामययोगानुगामिनः–युक्ततमाः–योगवित्तमा वा	युक्ततमयोगी
३–उभययोगानुगामिनः—युञ्जानाः—योगिनो वा	युञ्जानयोगी

——*——

१–व्यक्तगर्भित–अव्यक्तयोगानुयायिनः–ज्ञानयोगिनः–सिद्धाः————	–[ज्ञानी]
१ २–सनातनगर्भित–व्यक्तयोगानुयायिनः— भक्तियोगिनः-राजानः——	–[तपस्वी]
३–अव्यक्तगर्भित–व्यक्तयोगानुयायिनः—कर्म्मयोगिनः–ब्राह्मणाः——	–[कर्म्मी]

——*——

१–व्यक्तवञ्चित–अव्यक्तयोगानुयायिनः–सांख्ययोगिनः–सांख्याः——	–ज्ञानाभिनिविष्टः
२ २-सनातनवञ्चित-व्यक्तयोगानुयायिनः—भक्तियोगिनः—राजानः——	–भक्त्यभिनिविष्टः
३–अव्यक्तवञ्चित–व्यक्तयोगानुयायिनः–कर्म्मयोगिनः—कर्म्मठाः——	–कर्म्माभिनिविष्टः

★

१–लौकिकज्ञानैकसारा अव्यक्तयोगानुयायिनो-बुद्धिमन्तः पथप्रदर्शकाः ।

३ २–लौकिकज्ञानकर्म्मैकसारा व्यक्तयोगानुययिनो विवेकिन उभयनिष्ठाः ।

३–लौकिककर्म्मैकसारा व्यक्तयोगानुयायिनः कर्म्मदक्षा भौतिककर्म्मरताः ।

——*——

१–अकर्म्मयोगानुयायिनः––अज्ञानिनः अलसाः	सर्वज्ञानविमूढाः
❀ २–दास्ययोगानुयायिनः–––अज्ञानिनो दासाः	
३–निर्वाहयोगानुयायिनः ––अज्ञानिनः श्रमजीविनः	

——*——

२२९–अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणिता आत्म-प्राण-पशु-त्रयी, तन्निबन्धना योगत्रयी, तदनुबन्धी दैवत-भौतिक-भाव, एवं तत्सम्बद्ध पञ्चदशविध योगों का सस्मरण

"हमारी अध्यात्मसंस्था में पाँच आत्मसंस्थाएं, प्रत्येक आत्मसंस्था में आत्मा, प्राण, पशु ये तीन तीन पर्व, तीनों क्रमशः ज्ञानमय, ज्ञानकर्म्ममय, कर्म्ममय बनते हुए परिभाषानुसार अधिदैवत, अधिदैवत-अधिभूत, अधिभूत, तीनों क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा, इसप्रकार अध्यात्मसंस्था की पाँच संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी पाँच भागों में विभक्त, सम्भय १५ योग, इनके १५ अधिकारी" पूर्वनिरूपण इसी तथ्य का स्पष्टीकरण होरहा है।

२३०–आदिभूता आराध्य योगत्रयी, तथा अन्तभूता त्याज्या योगत्रयी, एवं सापेक्ष-भावनिबन्धना मध्यस्था योगत्रयी के तीन विवर्त्त, तथा विधि-निषेधभावों से अतीता आद्यन्त की योगत्रयी—

विषय स्पष्टीकरण के साथ साथ ही यह भी स्पष्ट होजाता है कि, भूतात्मानुगता पाँचवीं संस्था से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी विधि-निषेध से परे है। न इसका शास्त्र निषेध करता है, न आज्ञादेता है। कारण इसका यही है कि, विधिनिषेधात्मक शास्त्रोपदेश वहीं सफल होता है, जहाँ ज्ञान का थोड़ा बहुत विकास रहता है। जैसाकि-अधिकारी वर्ग की नामतालिका की अन्तिम तालिका से स्पष्ट है। पाँचवीं योगत्रयी के अनुयायी सर्वज्ञानविमूढ़ हैं। यही कारण है कि, गीता में विस्पष्टरूप से न इन तीनों योगों का विश्लेषण हुआ है, न कि इस योगत्रयी की प्रतिष्ठारूप भूतात्मा का। अपितु विधिनिषेधातीत इस संस्था के अनुयायियों के लिए भगवान्ने केवल यही कहना पर्याप्त समझा हैकि—"**सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः**"

२३१–प्रज्ञानात्मसंस्था का संस्मरण, लोक-भूत-विश्व-निबन्धना उन्नति, आत्मदृष्टि का अत्यन्ताभाव, एवं प्रज्ञानात्मानुगता योगत्रयी की गीता के द्वारा उपेक्षा—

भूतात्मसंस्था के अनन्तर प्रज्ञानात्मसंस्था का स्थान आता है। जिनकी बुद्धि मन के वश होजाती है, वे अतीन्द्रिय रहस्यों को समझने में असमर्थ रहते हैं। उनका विवेक, उनकी विचारशक्ति केवल उसी ओर काम करती है, जिस ओर इन्द्रिय-सहगामी प्रज्ञानमन अनुधावन करता रहता है। शारीरकात्मा का हानि लाभ यहाँ सर्वथा तिरोहित ही रहता है। आत्मदृष्टि का अत्यन्ताभाव है। लोकोन्नति, भूतोन्नति, विश्वोन्नति, राष्ट्रोन्नति, समाजोन्नति आदि उन्नति ही प्रधान लक्ष्य बनी रहती हैं। शास्त्रादेश का यहाँ अणुमात्र भी आदर नहीं है। शास्त्रने जिन कर्म्मों का विधान किया है, उनकी उपेक्षा करना, शास्त्रने जिन कर्म्मों का निषेध किया है, उनका अनुगमन करना ही इस पथ का जीवनव्रत है। अतएव इस पथ के पथिकों को हम शास्त्रविरोधी कह सकते हैं। शास्त्रविरुद्ध, प्रज्ञानात्मानुगत इस दूसरी योगत्रयी के स्पष्टीकरण की भी गीताने कोई आवश्यकता नहीं समझी।

२३२-अज्ञानात्मानुगता योगत्रयी के सम्बन्ध में गीताशास्त्र के उद्गार, तदनुप्राणिता चेतावनी, शास्त्रनिर्णयानुगति के प्रति प्रचण्डादेश, प्रत्यक्षानुभव-मानसज्ञान-ऐन्द्रियकज्ञान-त्रयी से अतीत अतीन्द्रियज्ञान का संस्मरण, महर्षियों के द्वारा तद्दर्शन, तदनुप्राणित शास्त्र और "न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्" का संस्मरण—

इनके सम्बन्ध में गीताने केवल यही कहना पर्याप्त समझा कि, जो मनुष्य (अपने बुद्धिवाद के गर्व में आकर) शास्त्रविधि का निरादर कर कामभोगों में रत रहता है, न उसे सिद्धि मिल सकती है, न वह सुखी होसकता है, न मृत्यु के अनन्तर उसके शारीरक आत्मा की सद्गति ही होती है। इसलिए (उन शास्त्रविरोधियों को, शास्त्रविरुद्ध ज्ञान–कर्म्म–भक्ति के अनुयायियों को हम चेतावनी देते हैं कि, यदि वे इस लोक में अपना कोई लौकिक उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हैं, उस सिद्ध पदार्थ से सुख प्राप्त करना चाहते हैं, इस लोक में उद्देश्यसिद्धिपूर्वक सुख प्राप्त करते हुए शरीरत्यागानन्तर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे) अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्रनिर्णय को ही प्रमाण मानें। शास्त्रविधान के अनुसार ही इस लोक में ज्ञान कर्म्मादि का अनुगमन करें" (तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते)। आदेश का अभिप्राय यही है कि जिस ज्ञान में, जिस भक्ति में किंवा जिस कर्म्म में केवल मानसज्ञानानुगत ऐन्द्रियक ज्ञान की प्रधानता रहती है, जिस योगत्रयी में बुद्धि का निर्म्मल ज्ञान मन का अनुचर बनकर अपना व्यवसायधर्म्म खो बैठता है, ऐसे ज्ञान को आधार बनाकर कर्म्मादि योगों में प्रवृत्त होने वाला योगी कभी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होसकता। कारण, योग का मूल इस प्रत्यक्षानुभव–मानसज्ञान–ऐन्द्रियकज्ञान से परे रहने वाला अतीन्द्रिय प्राकृतिक ज्ञान है। वह बुद्धि, मन, इन्द्रियादि से अतीत बनता हुआ हम साधारणों के लिए अगम्य है। जबतक उसको मूल नहीं बना लिया जाता, तबतक कभी कर्म्मादि शाश्वतसिद्धि के कारण नहीं बन सकते। उस इन्द्रियातीतमूल ज्ञान का जिन महर्षियों ने अपनी योगजदृष्टि से साक्षात्कार किया है, उनका तदनुरूप वचन ही हमारे लिए अनन्य प्रमाण है। यदि उसकी उपेक्षा करदी जाएगी, तो पहिले तो उद्देश्य ही सिद्ध न होगा। विशेष शक्ति–व्यय से यदि हमने उद्देश्यसिद्धि में सफलता प्राप्त करली तो, वह निर्मूल सिद्ध पदार्थ हमारे स्थायी सुख का कारण नहीं बनेगा। यदि पशुवृत्ति को समाप्त करते हुए यथाकथंचित् इसे सुख का कारण मान भी लिया जाएगा तो आत्मनिःश्रेयस तो इस विश्वसुख, विश्वसमृद्धि, भूतोन्नति से कभी न होगा इसप्रकार उद्देश्यसिद्धि, तत्–फलस्वरूप सुख, आत्मनिःश्रेयस तीनों दृष्टियों से शास्त्रविधिविरुद्धा योगत्रयी निष्फल रहेगी। इसी रहस्य को व्यक्त करते हुए भगवान् ने कहा है—"न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्"।

२३३-क्रमप्राप्ता तृतीया शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना 'कामसिद्धि' के दो विभिन्न दृष्टिकोण—

अब क्रमप्राप्त तीसरी शास्त्रनिष्ठा हमारे सामने आती है। शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करना प्रत्येक दशा में अभ्युदयकर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। शास्त्रानुसार चलने से हमारी सभी कामनाएँ सिद्ध होसकती हैं। और कामसिद्धि के लिए शास्त्रादेश हमारे सामने उपस्थित भी हुआ है। परन्तु, इस कामसिद्धि के दो विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

२३४—व्यक्तितुष्टि, एवं समष्टितुष्टि-मूल स्वार्थ-परमार्थ-भाव, तन्निबन्धन यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग, एवं गीता के द्वारा मान्या शास्त्रीया योगनिष्ठा—

व्यक्तितुष्टि प्रथम दृष्टिकोण है, समष्टितुष्टि दूसरा दृष्टिकोण है। यह तो निर्विवाद है कि शास्त्र ने जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का आदेश दिया है, उनका मूल लक्ष्य व्यक्तितुष्टिपूर्वक समष्टितुष्टि है। वे उसी ज्ञानमार्ग को, भक्तिमार्ग को, एवं कर्म्ममार्ग को श्रेष्ठ समझते हैं, जिसमें स्वार्थसिद्धि के साथ साथ परमार्थभावना का सम्मिश्रण रहे। ब्राह्मणों का यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग विश्वाभ्युदय के लिए है, राजाओं का भक्तियोग विश्व-बन्धुत्व-स्थापन के लिए है एवं सिद्धों का ज्ञानयोग मानवसमाज को भूतासक्ति से निवृत्त करने के लिए है। एवं व्यक्तितुष्टिगर्भित समष्टितुष्टिरूपा यह शास्त्रीया योगत्रयी सर्वथा मान्य है।

२३५—शास्त्रनिष्ठोद्देश्य की सफलता का दृष्टिबिन्दु, शारीरकात्मानुगत-बहुब्रह्मैकमक्षरात्मक-महानात्मा का मूलप्रतिष्ठात्व, तन्निबन्धना समष्टितुष्टि, एवं व्यक्तितुष्टिमूलक आत्मक्षरप्रधान-'जीव' संज्ञक शारीरकात्मा का संस्मरण—

परन्तु, शास्त्रनिष्ठा का यह उद्देश्य तभी सफल होसकता है, जबकि इसके मूल में शारीरकात्मा के साथ साथ अव्यक्तात्मगर्भित, "बहुब्रह्मैकमक्षरम्" महानात्मा को मूल बना लिया जाय। शास्त्रनिष्ठा स्व-स्वरूप से सर्वथा दोष विमुक्त रहती हुई भी, त्रिगुणातीत रहती हुई भी, समष्टितुष्टि का कारण बनती हुई भी क्यों दोषयुक्त बन गई, क्यों उस त्रिगुणातीत वेदशास्त्र के लिए भगवान् ने "त्रैगुण्यविषया वेदाः" यह कह डाला, क्यों उसका उद्देश्य व्यक्तितुष्टि का कारण बन गया, इन सब दोषों का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह है शास्त्रवेत्ताओं के मस्तिष्क का परिणाम और इस परिणाम का मूल है जीवात्मसंज्ञक आत्मक्षर प्रधान शारीरक आत्मा।

२३६—प्रतिशरीर में विभिन्न शरीरकात्मा, तन्निबन्धना त्रिगुणरूपा द्वन्द्वरूपता, महानात्मस्वरूप से पराङ्मुख विद्वानों की शारीरकात्मभक्ति, तन्निबन्धन भेदभाव, तदनुप्राणिता भूतासक्ति, एवं काम-निष्काम-भावों का प्रासङ्गिक स्वरूप-समतुलन—

शारीरक आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। अतएव त्रिगुण—द्वन्द्वयुक्त है। शास्त्रनिष्ठ विद्वान महानात्मपरिचय से वञ्चित रहते हुए केवल शारीरक आत्मा के भक्त बने रहे। शारीरक आत्मा वास्तव में प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। साथ ही अपने स्वाभाविक क्षरभाव के कारण विकारक्षररूप (भौतिक विषयानुगत) मानसवृत्तियों का अनुगमन करना भी एक स्वाभाविक धर्म्म बना रहता है। शरीराभिमानी, काममय मन से नित्ययुक्त, सेन्द्रिय मन के द्वारा आने वाले ज्ञानीय, कर्म्ममय भावना—वासना-संस्काररूपों से आवृत शारीरकआत्मा व्यापक भावना करता हुआ व्यक्तितुष्टि को छोड़दे, स्वार्थकामना का परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है, तो यह भी निश्चित है कि यह कामभावको, व्यक्तितुष्टि को, आत्मपचन को, वैय्यक्तिक स्वार्थ को मूल बनाकर चाहे शास्त्रीय ज्ञान—कर्म्म भक्ति-योग किसी में भी प्रवृत्त रहे, कभी इसका शाश्वतअभ्युदय नहीं होसकता। नहीं होसकता।

२३७-देहाभिमानी शारीरकात्मा से अनुप्राणिता कल्पिता योगत्रयी, वैदिक-लौकिक-कर्म्मजाल में आसक्त शास्त्राभिनिविष्ट मानव, कर्म्म की बन्धरूपता का व्यामोहन, तन्निबन्धन सांख्यनिष्ठात्मक काल्पनिक ज्ञानयोग, एवं ज्ञान की साध्य-साधन-रूपता का दिग्दर्शन—

जिन विद्वानों की दृष्टि प्रधानरूप से परिच्छिन्न, देहाभिमानी, प्रतिशरीरभिन्न इस शारीरक आत्मा की ओर गई, उन्होंने ही शास्त्र को आधार बना कर शास्त्रीय योगनिष्ठाओं में अपनी मानसिक कल्पना का समावेश कर कल्पित योगत्रयी की कल्पना कर डाली। एक वर्ग ने तो इस विषयासक्ति का मूलकारण समझा कर्म्म को। उसने देखा कि मनुष्य जबतक वैदिक–लौकिक कर्म्मजाल में आबद्ध रहेगा, तबतक संस्कारलेप से परित्राण नहीं होगा। जबतक लेप नहीं हटेगा, तबतक आत्मा (शारीरक आत्मा) सुखदुःखादि द्वन्द्वमूलक सदसद्द्वन्द्व से विमुक्त न होगा, एवं तबतक इसे शाश्वत आत्मानन्द–सम्पत्ति प्राप्त न होगी। इसप्रकार केवल कर्म्म को बन्धन मानते हुए इस समुदाय ने शास्त्रीय ज्ञानयोग को कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का रूप दे डाला, जोकि ज्ञानयोग गीताकाल में 'सांख्य' नाम से, एवं अर्वाचीन काल में **अद्वैतनिष्ठा (शङ्करनिष्ठा)** नाम से प्रसिद्ध हुआ। सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण इस योग में साधन साध्य दोनों ज्ञान ही बने।

२३८–शारीरकात्माभिनिविष्ट कर्म्मासक्त मानववर्ग के द्वारा वाक्छलमाध्यम से 'योग' व्याजेन 'कर्म्मनिष्ठा' की प्रसूति, एवं तन्निबन्धना साध्य-साधनोभयविधा आधि-भौतिकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक दूसरे वर्ग ने उसी शारीरकात्मा पर विश्राम करते हुए कर्म्ममार्ग को अपनाया। उसने यह निर्णय किया कि, जगदीश्वर ने जब कर्म्म करने से ही यह विश्ववैभव प्राप्त किया है तो, हम भी कर्म्म के द्वारा क्यों नहीं विश्ववैभव प्राप्त करते हुए सुखी बन जाएँ। यह ठीक है कि लौकिक कर्म्मों में इस जन्म में हमें कभी सुख नहीं मिल सकता। परन्तु, उन वैदिक यज्ञादि कर्म्मों से हम परलोक में अवश्य ही सुखी रह सकते हैं। बस, इस पारलौकिक सुखभावना से आकर्षित होकर ही इस दूसरे वर्ग ने शास्त्रीय कर्म्मयोग को कामनामय कर्म्मयोग का रूप दे डाला। इस योग के साधन–साध्य दोनों कर्म्म ही बने।

२३९–शारीरकात्मभिनिविष्ट उभयासक्त मानववर्ग के द्वारा तृतीय-काल्पनिक भक्तिपथ का आविर्भाव, तदनुप्राणित दैविक-भौतिक–निबन्धन साध्य-साधन-दिग्दर्शन, एवं भक्तियोगानुबन्धी राज-मन्त्र-हठ-लय-योगचतुष्टयी का संस्मरण—

एक तीसरे वर्ग ने यह निर्णय किया कि, जब ईश्वर कर्म्म करता हुआ सदा सुखी है, तब हम अपने कर्म्म को ईश्वर के निमित्त ही क्यों न करें। यदि उसे मध्यस्थ बनाकर हम कर्म्म करेंगे तो, उसके अनुग्रह से यह कर्म्म इस लोक में भी हमारी शान्ति का कारण बनेगा, एवं परलोक में भी सद्गति प्राप्त होगी। इसी भावना के आधार पर इस तीसरे वर्ग की ओर से शास्त्रीय भक्तियोग के स्थान में 'ईश्वरानुग्रह प्राप्ति कामनालक्षण इस तीसरे भक्तियोग का जन्म हुआ। जोकि भक्तियोग आगे जाकर पातञ्जलयोग की प्रति–च्छाया से युक्त होता हुआ **राज–मन्त्र–हठ–लय** इन चार भागों में विभक्त होगया।

२४०–शारीरकात्मानुबन्धेन कल्पिता कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगत्रयी की व्यवस्थानुगति, किन्तु कामभावनिबन्धनत्त्वेन सर्वथैव यातयामा योगत्रयी—

कहना न होगा कि, शारीरकात्मा की दृष्टि से ये तीनों ही कल्पितयोग सुव्यवस्थित, एवं प्रामाणिक हैं। इसी प्रमाण–प्रतिच्छाया के कारण इन तीनों निष्ठाओं का भारतवर्ष में आवश्यकता से अधिक प्रचार भी हुआ। परन्तु कामभाव के कारण ये तीनों ही योग केवल व्यक्तितुष्टि के (सो भी अल्प समय के लिए ही) कारण बनते हुए एकप्रकार से शास्त्रीय ही बन गए।

२४१–शारीरकात्मानुबन्धिनी कल्पिता शास्त्रीया योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा संशोधन, संशोधन का मूलबीज महानात्मानुबन्धी प्रत्यगात्मा, तथा अव्यक्त-गर्भित-महानात्मा का संस्मरण—

इन तीनों शास्त्रीय–निष्ठाओं का संशोधन करना भगवान्ने आवश्यक समझा। और इस आव–श्यकता की पूर्त्ति के लिए भगवान्ने मूलाधार बनाया अव्यक्तगर्भित महानात्मा को। भगवान्ने स्पष्ट किया कि, जिस शारीरक आत्मा को तुमने सर्वेसर्वा मान रक्खा है, वह उस महानात्मा का एक प्रत्यंश है। उस एक ही महानात्मा के ये अनन्त भिन्न भिन्न रूप हैं। **'महद्ब्रह्मै कमक्षरम्'** उस महानात्मा की दृष्टि से सब शारीरक आत्मा अभिन्न हैं। यदि तुम उसे उपास्य बना लोगे तो, तुम्हारी भेददृष्टि हट जाएगी। उस समय तुम्हारा ज्ञान–भक्ति–कर्म्म सब कुछ व्यक्तिभाव से हट कर समष्टिभाव में परिणत होजाएगा। अल्प शारीरक-आत्मा उसके योग से महान् बन जाएगा। इस महाशय भाव से तुम्हारी संकुचित दृष्टि विलीन हो जाएगी, स्वार्थ वृत्ति का उच्छेद होजाएगा और उस समय तुम्हारे तीनों योग निष्काम भाव में परिणत होते हुए अबन्धन बन कर शाश्वत अभ्युदय के कारण बन जाएँगे। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लोकप्रचलित, शारी–रकात्ममूलक उक्त तीनों निष्ठाओं के स्थान में भगवान्ने अव्यक्तगर्भित महानात्मा को मूल बनाते हुए संशोधित–योगत्रयी का आविर्भाव किया।

२४२–गीताशास्त्र के संशोधन से अनुप्राणित, अध्याय-क्रम-विभागानुबन्धी एक 'रहस्य' का स्वरूप-समन्वय, एवं प्रचलिता दार्शनिकाभिमता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का लोकसंग्राहक-भगवान् के द्वारा अंशतःसंग्रह, तथा तन्निबन्धन नीर-क्षीर-विवेक—

एक रहस्य की बात––जैसाकि भूमिकाप्रथमखण्ड के **"विषयविभागप्रदर्शन"** नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, विज्ञानदृष्टि से गीता के १८ अध्यायों का ६-२ ४--६--यह क्रम है। इस क्रम के अनुसार इन चारों में क्रमशः **बुद्धियोग, ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्म्मयोग,** इन चार योगों का निरूपण हुआ है। इन चारों में बुद्धियोग प्रत्यगात्मनिष्ठा है। शेष तीनों योग लोकनिष्ठाओं के संशोधित रूप हैं। बुद्धियोग मार्ग यद्यपि स्वतन्त्र है, परन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ज्ञान--कर्म्म–भक्ति से अति--रिक्त इसमें भी और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से अन्ततोगत्त्वा गीताशास्त्र का पर्य्यवसान काण्डत्रयी पर ही होजाता है। और इस दार्शनिकदृष्टि से गीता के १८ अध्यायों को ६--६–६–इस क्रम से तीन काण्डों में विभक्त मानना भी यथाकथंचित् न्यायसङ्गत ही बन जाता है। अन्त के ६ अध्याय तो विज्ञान–दर्शनदृष्टि

से उभयथा कर्म्ममार्ग के ही निरूपक माने गए हैं। अत: इनके सम्बन्ध में तो कोई विवाद ही नहीं है। विवाद है, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में। दर्शनभक्त विद्वान् आरम्भ के ६ अध्यायों को ज्ञानयोग निरूपक एवं मध्य के ६ अध्यायों को भक्तियोगनिरूपक मानते हैं। यदि बुद्धियोग को ज्ञानयोग मान लिया जाता है, (जो कि मान्यता सर्वथा निम्मूंल नहीं कही जासकती) तब तो आरम्भ के ६ अध्यायों को ज्ञानयोग निरूपक मानने में भी कोई हानि नहीं है। उधर सिद्धों की योगनिष्ठा (सांख्यनिष्ठा) ने ही आगे जाकर ईश्वरप्रणिधानलक्षण योगात्मक भक्तिमार्ग का आसन ग्रहण किया है। इस दृष्टिसे विज्ञानदृष्टि से संशोधित ज्ञानयोग के प्रतिपादक ७–८ वें दो अध्यायों को भी भक्तियोगपरक कहा जासकता है। फलत: मध्य के अध्यायषट्क को भक्तियोगनिरूपक मानना भी दार्शनिकदृष्टि से यथाकथंचित् समन्वित होजाता है।

२४३-शास्त्रनिष्ठा के अनन्यपक्षपाती गीताचार्य्य भगवान् वासुदेवकृष्ण, विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानात्मानुगत लोकचतुर मानवों की काल्पनिकी योगनिष्ठा, तदनुगत त्याज्यभाव, एवं संशोधिता शास्त्रीया योगनिष्ठा का स्वरूप-संस्मरण—

अस्तु, प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, शास्त्रनिष्ठा के अनन्य पक्षपाती भगवान् ने भूतात्मानुगत सामान्य मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली सर्वज्ञानविमूढलक्षणा विधिनिषेधातीता सामान्या योगत्रयी को उपेक्षणीय बतलाया। विज्ञानगर्भित–प्रज्ञानात्मानुगता लौकिक चतुर मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली लौकिज्ञानकर्मैकसारा शास्त्रदेशविरुद्धा लौकिकयोगत्रयी को त्याज्या बतलाया। एवं शारीर--कात्मानुगता, व्यक्तितुष्टिमूला, शास्त्रविधिसिद्धा, शास्त्राभिनिविष्ट मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली सकाम ज्ञानभक्तिकर्म्मलक्षणा शास्त्रीया योगत्रयी को हेया बतलाते हुए, इसे अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगामी बनाते हुए, समष्टि तुष्टिमूला बनाकर इस संशोधित चतुर्थ शास्त्रीय योगत्रयी को उपादेया बतलाया।

२४४–प्रत्यगात्मदृष्टि और गीताचार्य्य, एवं विधि-निषेध से अतीत गीताचार्य्य, तथा उनकी प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगनिष्ठा—

अब वह प्रत्यगात्मसंस्था भगवान् के सामने आई, जिस का कि भगवान् में पूर्ण विकास था, जोकि संस्था अव्ययप्रधाना बनती हुई द्वन्द्वभाव से सर्वथा अतीत रहती हुई शास्त्रीय विधि–निषेध से परे है। अन्त की संस्था जहाँ सर्वज्ञानविमूढभाव के कारण विधि--निषेध से परे है वहाँ यह आरम्भ की संस्था सर्वज्ञान--विकासभाव के कारण विधि--निषेध से परे है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है।

२४५–अज्ञानान्धकारावस्था की विधि-निषेधातीता, एवं सर्वोच्च ज्ञानभूमिका की विधि-निषेधातीता का स्वरूप-दिग्दर्शन, महापुरुषों के अचिन्त्य चरित्र, तन्निबन्धना प्रतीपविधि, तदनुकरण का निषेध, एवं यथाशास्त्रमेव कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान का प्रचण्ड समर्थन—

जहाँ घोर अन्धकार है, अज्ञान चरम सीमा पर पहुँच गया है, वहाँ जैसे शास्त्र के विधि--निषेध व्यर्थ हैं, तथैव जहाँ आत्यन्तिक प्रकाश है, ज्ञान विकास चरम सीमा पर पहुँच गया है, वहाँ भी विधि--निषेध का कोई प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञानमार्ग की उस सर्वोच्चभूमिका पर पहुँचा हुआ महापुरुष साक्षात्

ईश्वर है, ईश्वर का पूर्णावतार है । उसके आदेशों के आधार पर ही शास्त्र निर्म्माण होता है । उसका प्रत्येक कर्म्म ही विधि-निषेध की शिक्षा देने वाला है । यदि हमारी सामान्यदृष्टि से ऐसे महापुरुष का कोई कर्म्म शास्त्रीय आदेश के विरुद्ध प्रतीत होता है, तो यह हमारा ही दृष्टिदोष माना जाएगा । क्योंकि शास्त्रसीमा महानात्मा पर समाप्त है । प्रत्यगात्मा के रहस्यों का, उसके ज्ञान कर्म्मों का शास्त्र विश्लेषण नहीं कर सकता । शास्त्रीय परिच्छिन्न दृष्टि से विरुद्ध प्रतीत होने वाला भी उसका वह कर्म्म अवश्य ही किसी गुप्त नीति से सम्बन्ध रखता है और अवश्य ही इस प्रतीपाचरण में उस अवतारपुरुष का कोई विशेष लक्ष्य रहता है । हमारा अभ्युदय केवल इसी में है कि, हम उसके अपूर्व लीलाचरित्रों को देखते जाएँ, भूल कर भी उनका अनुकरण न करें और उसके आदेशानुसार कर्त्तव्यकर्म्म पर यथाशास्त्र प्रतिष्ठित रहें ।

२४६-विधि-निषेध से अतीत अवतार पुरुषों की शास्त्रनिष्ठैकशरणयता, तन्निबन्धन लोकसंग्रह, शास्त्रविरुद्ध प्रतीयमान प्रतीपाचरणों के प्रति लोकमानवों की तटस्थता का सोदाहरण स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं सर्वज्ञानविमूढ-शास्त्रविरोधी-अज्ञ-जनों के द्वारा अवतार पुरुषों के प्रतीपात्मक-आचरणोदाहरणों के माध्यम से काल्पनिक-शास्त्रविरुद्ध-पथों का प्रचार-प्रयास और तन्निराकरण—

यद्यपि अवतारपुरुष विधि-निषेध से परे हैं, फिर भी लोकशिक्षण के लिए वे यावज्जीवन विधि-निषेध के अनुसार ही योग का अनुगमन करते रहते हैं । कहीं-कहीं और कभी कभी किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए यदि वे कोई लोकोत्तर (विधि-निषेधातीत) आचरण कर बैठते हैं, तो वह आचरण केवल उन्हीं तक सीमित माना जाएगा (देखिए श्रीमद्भागवत १० स्कं० रास० पं०) । सर्वसमर्थ अवतार पुरुष प्रथम तो शास्त्रविरूद्ध कोई आचरण करते ही नहीं । यदि हमें उनका कोई आचरण ऐसा प्रतीत होता है तो, उसका उन लोक-वेदातीत पुरुषों पर कोई प्रभाव नहीं । ऐसी दशा में अवतारपुरुषों के समस्त शास्त्रीय कर्म्माचरणों को एक ओर रखकर, विशेष लक्ष्य के लिए होने वाले उनके अशास्त्रीयवत् प्रतीयमान प्रतीपाचरणों को यदि कोई भूतात्मानुगामी, प्रज्ञानात्मानुगामी, शारीराकात्मानुगामी, किंवा महदात्मानुगामी मनुष्य आदर्श मान बैठता है तो सचमुच वह बड़ा अनर्थ करता है । जबतक हम 'वह' न बन जाएँ, जबतक हम उसके लोकोत्तर असम्भव इतर चरित्रों का आचरण करने की शक्ति प्राप्त न करलें, तबतक उस के क्वाचित्क आचरणों को आदर्श बना कर स्वयं भी उन पर चलना, समाज को भी धोके में डालना सचमुच हमारी महतीधृष्टता है । और बड़े ही दुःख का विषय है कि, आज भारतवर्ष में ऐसे कतिपय महानुभावों ने भगवान् राम-कृष्णादि अवतारपुरुषों के क्वाचित्क चरित्रों को आदर्श मानकर उन्हें व्यावहारिक रूप दे डालने का अनर्थ कर डाला है । खाद्याखाद्यविवेक, स्पृश्यास्पृश्यविवेक, विवाह-नियन्त्रण आदि शास्त्रीय आदेश ही हम भूतात्मवादियों, प्रज्ञानात्मवादियों, शारीरकात्मवादियों, किंवा महानात्मवादियों का अभ्युदय कर सकते हैं और प्रत्यगात्मसाक्षात्कार होजाने पर भी लोकसंग्रहदृष्टि से वे ही आदेश समाज के लिए हितकर बन सकते हैं । इन सब आत्मरहस्यों से एकान्ततः वञ्चित, पश्चिमी भौतिक शिक्षा में रंगे हुए, कुछ एक अहम्मन्य भारतीय योग्यता की दृष्टि से भूतात्मानुगामी, अधिक से अधिक प्रज्ञानात्मानुगामी बनते हुए यदि रामकृष्ण भिल्लनी, निषाद, कुब्जा, आदि क्वाचित्क प्रतीपाचरणों के अनुकरणों की धृष्टता करते हुए शास्त्रीय विधि—

निषेधों की उपेक्षा, तिरस्कार करते हैं तो, इनके सम्बन्ध में भी भगवान् का–"**सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः**" यही प्रसाद् पुरस्कार में उपस्थित होता है ।

२४७–आत्मकामभाव, निष्कामभाव, सकामभाव, कुत्सितकामभाव, शरीरकामभाव-भेद-निबन्धन विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण—

हाँ तो, अब यह स्पष्ट होचुका है कि, अध्यात्मसंस्था में पाँच आत्मविवर्त्त हैं । पाँचों में (प्रत्येक) में तीन तीन योग हैं । और इन पाँच योगत्रयी-विवर्त्तों में से ५ वीं को गीता ने उपेक्षणीय, चौथी को त्याज्य, तीसरी को हेय, दूसरी को उपादेय, एवं पहिली को आराध्य माना है । आराध्या योगत्रयी का मूल न निष्काम भाव है, न सकामभाव । अपितु अकामभावरूप **आत्मकाम** ही इस का मूल है । उपादेया योगत्रयी का मूल **निष्कामभाव** है । हेया योगत्रयी का मूल **सकामभाव** है । त्याज्या योगत्रयी का मूल **कुत्सितकामभाव** है, एवं उपेक्षणीया योगत्रयी का मूल अकामभावरूप **शरीरकाम** है । कामकामी चारों वर्ग अशान्त हैं, निष्काम-योगी शान्तिलाभ करते हैं और आत्मकामयोगी शान्तिस्वरूप बने रहते हैं ।

२४८–लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का निष्कामभाव-माध्यम से भगवान् के द्वारा संशोधन, संशोधिता किन्तु परमतानुबन्धिनी योगत्रयी, तथा संशोधन कर्त्ता भगवान् का अपना मत और गीताशास्त्र का उद्घोषित 'बुद्धियोगशास्त्रत्त्व'—

जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है, पाँचों में ४-५ वें इन दो वर्गों की न तो भगवान्ने विशेष समालोचना की है, न इन योगों, एवं योगानुयायिओं के स्वरूप का विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया है । गीता ने प्रधानरूप से तीन आत्मसंस्थाओं को लक्ष्य बनाते हुए सकाम–निष्काम–आत्मकाम भावों की पूर्ण मीमांसा की है । साथ ही प्रत्यगात्मा–महानात्मा–शारीरकआत्मा (परमात्मा–क्षेत्रज्ञात्मा–अन्तरात्मा) तीनों का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण करते हुए तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगों का, योगानुयायियों का, योग–फलों का भी विस्तार से निरूपण किया है । एवं इन तीनों विवर्त्तों का निरूपण करते हुए अन्ततोगत्त्वा प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोग को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि, मेरा प्रातिस्विक '**मत**' न ज्ञानयोग है, न भक्तियोग है, न कर्म्मयोग, अपितु बुद्धियोग ही मेरा अपना [अव्यय का] '**मत**' है । लोकप्रचलित निष्ठाओं का [लोकसंग्रहदृष्टि से] मैंने गीता में निरूपण अवश्य किया है । परन्तु, यह गीता का प्रासङ्गिक विषय है, गौण विषय है । मेरी गीता उपनिषत् है । उपनिषत् एकमात्र प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध रखता है । प्रत्यगात्मयोग ही बुद्धियोग है । और यही एकमात्र गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अतएव गीता विशुद्ध बुद्धियोगशास्त्र है ।

२४९–गीता के द्वारा मान्या योगत्रयी के विविध भावों का स्वरूप-दर्शन-प्रयास, एवं तत्समर्थक-प्रतिपादक-गीतावचनों का स्वरूप-संस्मरण—

देखना यही है, कि गीता ने कहाँ कहाँ किस किस रूप से उक्त योगों का निरूपण किया है । सबसे पहिले सकाम योगत्रयी पर ही दृष्टि डालिए । सकाम कर्म्मयोग, सकाम भक्तियोग, सकाम ज्ञानयोग, तीनों के निन्दावचन ही इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्य्याप्त होंगे । हाँ, वचनों से पहिले यह और लक्ष्य

में रख लीजिए कि, तीनों में ज्ञानयोग प्रथमश्रेणि में, कर्म्मयोग मध्यमश्रेणि में, एवं भक्तियोग उत्तमश्रेणि में माना जाएगा। कारण स्पष्ट है। कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग लोकसंग्रह से सर्वथा वञ्चित है। साथ ही में लोक-परलोक-वैभवों से भी वञ्चित। कर्म्मशून्य ज्ञानी के लिए यहाँ भी कुछ नहीं, वहाँ भी कुछ नहीं। काम्य कर्म्मयोग में आंशिकरूप से लोकसंग्रह भी है, एवं पारलौकिक स्वर्गादि सुख भी है। अतः यह ज्ञानयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाएगा। भक्तियोग में लोकसंग्रह है, इस जीवन में भी ईश्वरस्मरणजन्या शान्ति है, परलोक में भी सद्गति है। इस दृष्टि से भक्तियोग कर्म्मयोग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना जाएगा।

२५०–१–प्रज्ञानात्मगर्भित-शारीरकात्मानुगता योगत्रयी हेया—

१–सकामभक्तियोगः–उत्तमः (प्रज्ञानात्मानुगतलोकनिष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु गीतादृष्ट्या सर्वथा हेयः)

भागवतानां भक्तियोगनिष्ठा—

(क) १–अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ॥
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ (१३।२५।)।
२–यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ॥
भूतानि यान्ति भूतेज्या(६।२५)देवान् देवयजो यान्ति॥(७।२३)।
३–स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ (७।२२।)।
४–अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ॥ (७।२३।)
(ख) ५–अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ॥
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ (१७।५।) ॥
६–कर्षयन्तः[1] शरीरस्थं भूतग्राम[2]मचेतसः ॥
मां[3] चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥(१७।६।)।

—१—(१)।

——*——

१–शारीरकात्मानुगता भक्ताः, काम्यभक्तिमार्गेण कर्षयन्तः।
२–भूतग्रामाधिष्ठातारं शारीरकमात्मानम्।
३–प्रत्यगात्मलक्षणं माञ्च।

२५१-२-सकामकर्म्मयोगः-मध्यमः (प्रज्ञानात्मानुगत-लोकनिष्ठापेक्षया--
उपादेयः, किन्तु गीतादृष्ट्या सर्वथा हेयः)

कर्म्मयोगिनां-कर्म्मयोगनिष्ठा—

१-त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ॥
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ (९।२०)॥

२-ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं—
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना—
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (९।२१) ॥

३-यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२।) ॥

४-कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३) ॥

५-भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४।)॥

६-यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२।४६।) ॥

—२—(२)

*

२५१-३-कर्म्मत्यागलक्षणो ज्ञानयोगः-प्रथमः (प्रज्ञानात्मानुगत-लोक-
निष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु गीता-दृष्ट्यासर्वथैव हेयः)

ज्ञानयोगिनां-सांख्यनिष्ठा—

१-त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ॥ (१८।३।) ॥

२-न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

३–काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२) ।
४–नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
५–मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ (१८।७) ।
कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ (१८।९)
६–नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ॥
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

—३—(३)

२५३–कामनामय भक्तिमार्ग, फलानुगत कर्म्ममार्ग, एवं कामत्यागलक्षण ज्ञानमार्ग का स्वरूप-संस्मरण, तदनुप्राणिता शारीरकात्मानुबन्धिनी शास्त्रीयापि योगत्रयी की अपेक्षिता संशोधनकामना, एवं निष्कामभाव माध्यमेनैव योगत्रयी की समादरणीयता—

उक्त गीतावचनों से यह सिद्ध होरहा है कि कामनामय भक्तिमार्ग, फलानुगत कर्म्ममार्ग, एवं कामत्यागलक्षण ज्ञानमार्ग तीनों यद्यपि कामनापूरक अवश्य हैं, अवश्य ही इनके अनुगमन से 'यं यं कामयते-तं त माप्नोति' सिद्धान्त सफल होता है और इसी कामसाफल्यदृष्टि से शारीरकात्मानुगता यह सकामयोगत्रयी नष्टकाम, किंवा दूषितकाममूला प्रज्ञानात्मानुगता लौकिक योगत्रयी की अपेक्षा श्रेष्ठ भी है। अतएव उपादेय भी। परन्तु, गीता की दृष्टि से तीनों योग 'अन्तवतु फलं' के अनुसार अशाश्वत फल के कारण बनते हुए सर्वथा हेय ही माने जाएँगे। गीता तीनों का तभी समादर करेगी, जबकि भक्तियोग निष्काम हो, कर्म्मयोग फलानधिकृत हो, एवं ज्ञानयोग कर्म्मयुक्त हो। उस दृष्टि से जहाँ वेदमूला यज्ञादि कर्म्म निष्ठाएँ भगवान् की दृष्टि में हेय हैं, वहाँ इस निष्कामदृष्टि से तीनों परमादरणीय बन रही हैं।

२५४–संशोधिता योगत्रयी की ही उपयोगिता का समन्वय, प्रचलिता ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगत्रयी के विभिन्न दोषों का स्वरूपोद्घाटन, एवं संशोधितापि योगत्रयी के तीनों योगों के अवान्तर उत्तम-माध्यम-प्रथम-श्रेणि-विभागों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यद्यपि संशोधित तीनों ही योग अपने अपने स्थान पर रहते हुए शाश्वत-शान्ति प्राप्ति के कारण बने हुए हैं, परन्तु तीनों की तुलना में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग की एवं कर्म्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग की

ही श्रेष्ठता स्वीकार की जाएगी। कारण स्पष्ट है। ज्ञानयोग में कर्म्मसंग्रह अवश्य है, परन्तु निवृत्ति भाव के कारण अव्यक्तानुगत बनता हुआ ज्ञानमार्ग क्लेशसाध्य बन रहा है। दूसरे लोकसंग्रह भी इस मार्ग में पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं है। तीसरे ऐहलौकिक सम्पत्ति की भी प्राय: अनभिव्यक्ति ही रहती है। उधर कर्म्मयोग के अनुष्ठान में भी सरलता है, लोकसंग्रह का भी पूर्णरूप से समावेश है और आंशिक रूपसे लौकिक पारलौकिक अभ्युदय भी है। अतएव निवृत्तिकर्म्ममय अतएव **कर्म्मसंन्यास** नाम से व्यवहृत ज्ञानयोग की अपेक्षा प्रवृत्ति कर्म्ममय कर्म्मयोग को हम अवश्य ही श्रेष्ठ कह सकते हैं। "तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते" शेष रहा भक्तियोग। कर्म्मयोग से जो कुछ होता है, वह तो सब कुछ भक्तियोग में है ही। किन्तु इस के अतिरिक्त भगवत् संस्मरण रूप प्रसादभाव के कारण यह उस की अपेक्षा भी उत्तम माना जाएगा। अपिच ज्ञानयोगी पहिले भक्तिनिष्ठा प्राप्त करेगा पुन:भक्तिद्वारा ही बुद्धियोग निष्ठा प्राप्त कर सकेगा। एवमेव कर्म्मयोगी भी पहिले भक्तिनिष्ठा प्राप्त करेगा, अनन्तर भक्ति के द्वारा ही इसे प्रत्यगात्मानुगता बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होगी। इसलिए भी भक्तियोग को हम इस योगत्रयी में उत्तम स्थान में प्रतिष्ठित मान रहे हैं जैसाकि निम्न लिखित योगवचनों से प्रतिध्वनित है।

२५५ २–अव्यक्तगर्भित-महात्मानुगता योगत्रयी–उपादेया—

१–निष्कामभक्तियोग:—उत्तम: (शारीरकात्मानुगतशास्त्रनिष्ठापेक्षया उपादेय:, किन्तु बुद्धियोगदृष्ट्या निम्नमार्ग:)

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगिनां–भक्तिनिष्ठा—(ऐश्वर्य्यबुद्धियोगो वा)

१–मद्भक्ता यान्ति मामपि··············॥ (७।२३)

२–येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ॥
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता: ॥ (७।२८) ॥

३–राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ (९।२) ॥

४ महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ॥

५–सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ॥
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४) ॥

६–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९।२२) ॥

७–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥ (९।३४) ॥

८–अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ॥
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८) ॥
९–मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (१०।९) ॥
१०–तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०) ॥
११–तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (१०।११) ।
१२–मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३।१०)
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१४।२६)

---१---(४)

— * —

२५६ २–निष्कामकर्म्मयोगः–मध्यमः (शारीरकात्मानुगतशास्त्रनिष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु बुद्धियोगदृष्ट्या निम्नतरः)

धर्म्मबुद्धियोगिनां कर्म्मनिष्ठा–(धर्म्मबुद्धियोगो वा)

१–कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥
२–तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ (१७।२५)॥
३–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५) ॥
४–एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६) ।

५-स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (१८।६०।)॥

६-यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (३।६।) ॥

७-एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥ (३।१६।) ॥

८-कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥ (३।२०।) ॥

९-संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तुकर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते (५।२।) ॥

१०-योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (५।६।) ॥

---२---(५)

---*---

२५७ ३--कर्म्मपरिगृहलक्षण ज्ञानयोगः-प्रथमः (शारीरकात्मानुगतशास्त्र-निष्ठापेक्षया उपादेयः किन्तु, बुद्धियोगदृष्ट्या निम्नतमः)

ज्ञानबुद्धियोगिनां-ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानबुद्धियोगो वा)

१-संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः । (५।६) ।

२-प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ (१३।२९) ।

३-यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (१३।३०) ।

४-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (१३।३४) ।

५-य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (१३।२३) ।

६-जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्मचाखिलम् (७।२६) ।
७ नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (१४।१९) ।
८- गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (१४।२०।)
९-प्रकाशंच प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ (१४।२२) ।
१०-उदासीनवदासीनो गुणै र्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ (१४।२३।)॥
११-मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ (१४।२५।) ।
१२- यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतसः ॥ (१५।११।) ॥
१३-निर्म्मानमोहा जितसङ्गदोषा—
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै—
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ (१५।५।) ।
१४ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ (१८।५४।) ॥
१५-भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५) ।
१६-क्लेशोऽधिकतर स्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १२।५

---३---[६]

—२—

२५८-उद्धृत-गीता-वचन-सन्दर्भों के माध्यम से उपादेया शास्त्रीया योगत्रयी का 'स्वारस्य' स्वरूप दिग्दर्शन, एवं परम्परया प्राप्तव्या बुद्धियोगनिष्ठा का संस्मरण—

उक्त गीता वचन स्पष्ट रूप से हमें यह आदेश कर रहे हैं कि शास्त्रीय योगत्रयी वही उपादेया है, जिसमें निष्कामभाव की प्रधानता हो। "हम कुछ नहीं कर रहे, अपितु उसके प्राकृत-चक्र से सब कुछ सञ्चालित है, वह जैसी प्रेरणा करता है, हमें वैसा ही करना पड़ता है। न हम स्वतन्त्र हैं, न हमारे ज्ञान-कर्म्म स्वतन्त्र हैं, न फलाफल का ही हम पर भार है" इस भावना को आगे रखते हुए उक्त तीनों योगों में से योग्यतानुसार किसी एक योग में प्रवृत्त होता हुआ ज्ञानी, तपस्वी, कर्म्मी कर्म्म-ज्ञानजनित वासना भावनासंस्कार लेप के आवरणलक्षण बन्धन से क्रमशः विमुक्त होता हुआ उस बुद्धियोग निष्ठा को प्राप्त कर लेगा, जिसका कि प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है।

२५९-प्रत्यगात्मानुबन्धी अपूर्व बुद्धियोग का संस्मरण, तदाविष्कारक अनन्यतम गीताशास्त्र, एवं बुद्धियोगनिष्ठानुबन्धी रहस्यपूर्ण भावों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

प्रत्यगात्मसम्बन्धी बुद्धियोग एक अपूर्वयोग है, जिस के आविष्कार का श्रेय एकमात्र गीता--शास्त्र को ही मिल सकता है। "हम नहीं कर रहे, हम कुछ नहीं है, वही करवा रहा है, वही कर रहा है" इस भावना में द्वैतमूला प्रकृति बैठी हुई है। अतएव तन्मूला पूर्वयोगत्रयी को आत्यन्तिकरूप से निर्द्वन्द्व नहीं माना जा सकता। फिर "हम नहीं कर रहे, वही कर रहा है, किंवा प्रकृति ही कर रही है" यह भावना तो एकप्रकार का अभिनिवेश ही है। माना कि योगत्रयी में सांसारिक किसी कामना का समावेश नहीं है। परन्तु-"**क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः**" के अनुसार मुक्तिकामना तो यहाँ भी बनी ही हुई है। यह तभी हट सकती है, जब हम आरम्भ से ही अपने आपको मुक्त समझते हुए, ज्ञानयोगादि का अनुसरण करें। यह तभी सम्भव है, जबकि "मैं-तू-" का भेद हटे। और यह तभी सम्भव है, जबकि हमारी बुद्धि शारीरकात्मा-महानात्मा का अतिक्रमण करती हुई, रागद्वेष विमुक्त बनती हुई अपने विद्या विकास के प्रभाव से "मैं-तू" शून्य सर्वातीत, सर्वरूप, सर्वकामविरहित, सर्वकामरूप उस अव्ययलक्षण प्रत्यागात्मा के साथ योग करले। बिना इस बुद्धियोगनिष्ठा के कभी चरमलक्ष्य सिद्धि नहीं होसकती। "**तू तू न रहे, मैं मैं न रहूँ, यह तू तू मैं मैं मिट जाए**" इस मूलमन्त्र को लक्ष्य बनाने से ही प्रत्यगात्मानुगता बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होसकती है।

२६०-काम और निष्काम-भावों का रहस्यात्मक-स्वरूप-विश्लेषण, 'यथा नियुक्तोऽस्मि, तथा करोमि' मूला बुद्धियोगनिष्ठा, 'शरवत्तन्मयो भवेत्' मूला अन्यता, एवं लोकप्रचलिता योगत्रयी के विभिन्न विसंवादों का समन्वय-प्रयास—

"हम कामना रखते हैं, नहीं नहीं हम निष्कामभाव से योगों में प्रवृत्त रहते हैं। हम ही करते हैं, नहीं नहीं प्रकृति कर रही है" इन सब उच्चावचभावों को यहाँ (बुद्धियोगनिष्ठा में) प्रवेश करने का अणुमात्र भी अवसर नहीं है। निष्कामभाव, प्रकृति, वह, जब तक ये विवर्त्त मध्य में विराजमान हैं, तब तक द्वन्द्व की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं मानी जासकती। "**यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि**" में द्वन्द्व की प्रतिच्छाया विद्यमान है। कर्म्म--ज्ञान-भक्त्यनन्यता में निष्कामभाव प्रतिबन्धकरूप

से मध्य में बैठा हुआ है। सच्ची अनन्यता, पूर्ण अव्यभिचारी योग तो वही योग कहलाएगा, जहाँ ज्ञान–कर्म्म–भक्ति के अतिरिक्त निष्कामादि अन्यभावों का समावेश ही नहीं है। अनन्ययोगानुगामी की दृष्टि के सामने न ईश्वर है, न जीव है, न जगत् है, न प्रकृति है, है केवल ज्ञान–कर्म्म–भक्ति की अनन्यता। यह–वह–जगत्–प्रकृति सब योगमय बन रहे हैं–अर्जुन के अनन्यलक्ष्य की भाँति—**"शरवत्तन्मयो भवेत्'** निष्काम–सकाम भावों का विचार वह करेगा जो द्वन्द्व का अनुगामी होगा। यहाँ तो यह–वह–योग–सब कुछ निर्द्वन्द्व बन कर व्यवहार मर्य्यादा से बाहर निकले हुए हैं। यही गीता की बुद्धियोगत्रयी है।

यद्यपि, अपने अपने स्थान में वैराग्यबुद्धियोगरूप ज्ञान–भक्ति–कर्म्म तीनों ही योग उत्तमोत्तम हैं। परन्तु तीनों की पारस्परिक तुलना में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग को श्रेष्ठ माना जाएगा, एवं दोनों की अपेक्षा भक्तियोग को। कारण स्पष्ट है। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह भी पूरा पूरा है, क्लेश भी नहीं है, इस लोक में भी पूर्ण शान्ति है। सब कुछ ठीक है। परन्तु ज्ञानयोग लक्षण बुद्धियोग का विशुद्ध अव्यय से सम्बन्ध है। विशुद्ध अव्यय उदासीन है। अतएव तद्रूप ज्ञानलक्षण बुद्धियोग का अनुयायी योगी सबकुछ करता हुआ भी लोकदृष्टि में विविक्त, उदासीन प्रतीत होता रहता है। इसमें स्वयं की तो कोई हानि नहीं है, अपितु लोकसंग्रह पर आघात होने का सन्देह है।

२६१–कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग से अनुप्राणित उदासीनभाव तथा प्रसादभाव, बुद्धि–योगी के तन्निबन्धन विभिन्न तीन विवर्त्त, एवं 'बुद्धियोगत्रयी' के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय—

इधर कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग में आवश्यकतानुसार उदासीनभाव एवं प्रसादभाव दोनों हैं। यह बुद्धियोगी कभी उदासीन वृत्ति से लोकसंग्रह में प्रवृत्त होता है, कभी उन्मना बन कर। इसी विशेषता से हम इस दूसरे कर्म्मात्मक बुद्धियोग को ज्ञानात्मक बुद्धियोग की अपेक्षा श्रेष्ठ कहेंगे। भक्तियोग इससे भी आगे बढ़ा हुआ है। इस में इसकी मूलप्रतिष्ठा मध्यस्थ अक्षर बनता है। अक्षर हृदयस्थ होने से समतुलित है। अव्यय-क्षर दोनों का पूर्ण संग्रह है। अन्तर्जगत् में पूर्ण उदासीन भाव, बहिर्जगत् में पूर्ण आसक्ति भाव। पूर्ण संसारी, साथ ही सर्वथानिर्लिप्त। सदा प्रसन्न, प्रसन्नतापूर्वक सब में पूर्ण सहयोग, फिर विरक्त का विरक्त। यही श्रद्धायुक्त तीसरा भक्तिलक्षण बुद्धियोग है, जिसे कि भगवान् नें श्रेष्ठतम माना है। (देखिए पृ०)। इसी दृष्टि से भक्त्यात्मक बुद्धियोग कर्म्मात्मक बुद्धियोग की अपेक्षा भी उच्च धरातल में प्रतिष्ठित होजाता है। वही गीताशास्त्र का अन्तिम निष्कर्ष है। यही सारोद्धार है। यही अन्तिमनिष्ठा है और इस दृष्टि से यदि कोई गीता को **भक्तियोगशास्त्र** कहे तो, उसका कथन अक्षरशः सत्य है। भक्तसखा अर्जुन भी तो भक्ति के इस उत्तम रहस्य का पात्र समझा गया था। आगे के वचन इसी बुद्धियोगत्रयी का विश्लेषण कर रहे हैं।

२६२-३-प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी-आराध्या—

१-भक्तिलक्षणवैराग्यबुद्धियोगः-उत्तमतमः—

१-मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२।२) ।
२-ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (२।६।)
तेषा महं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (२।७)
३-यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (१५।१६)
४-सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८।६६)
५-भक्त्यात्वनन्यया शक्यः अहमेवं विधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! (११।५४)
६-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)

— १-(७) —

———*———

२६३--२-कर्म्मलक्षणवैराग्यबुद्धियोगः उत्तमतरः—

१-योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (२।४८)।
२-दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (२।४९) ।
३-बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ (२।५०) ।

४–कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (२।५१)।
५–विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (२।७१)।
६–आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं—
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे—
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (२।७०)।
७–न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥ (३।२२)।
८–सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!
कुर्य्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ (३।२५)।
९–जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ॥ (३।२६)।
१०–त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिञ्चित् करोति सः ॥ (४।२०)।
११–कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्माणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ (४।१८)।
१२–न कर्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते। (५।१४)।
१३–श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि ॥ (२।५३)।
१४–न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीन मसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥ (९।९)।

१५-सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत् प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (१८।५६) ।

१६-चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोग मुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ (१८।५६)।

-- २-(८) --

———×———

२६४-३-ज्ञानलक्षण वैराग्य बुद्धियोगः-सर्वोत्तमः—

१-त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२।४५) ।

२-यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । (३।१७) ।

३-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ (३।१८) ।

४-मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशी निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ (३।३०) ।

५-न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभि र्न स बध्यते ॥ (४।१४) ।

६-यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ (४।१९) ।

७-योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ (४।४१) ।

———————

÷ पूर्व के ज्ञानयोगपरीक्षा प्रकरण में भी इन योगों के हेयोपादेय आराध्य-विवर्त्तों का (प्रकारान्तर से) निरूपण हुआ है । वहाँ उन विवर्त्तों के स्पष्टीकरण की जो प्रतिज्ञा हुई थी, वह वहाँ पूरी हुई है । दोनों के समन्वय से पाठकों को निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए ।

८–तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)
९–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (५।७) ।
१०–नैवकिञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
(५।८) ।
प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ (५।९) ।
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा ॥ (५।१०) ।
११–कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ (५।११) ।
१२–साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः । (७।३०)
१३–न रूपमस्येह तथोपलभ्यते—
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरुढमूल —
मसङ्गशस्त्रेण दृढेनछित्त्वा ॥ (१५।३) ।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं—
यस्मिन् गत्वा न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये —
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ (१५।४) ।

-- ३--९ --

— ३ —

२६५-पञ्चदशविध-योगविवर्त्तों के सम्बन्ध में एक सामयिक-प्रश्न, एवं, तन्निराकरण-प्रयास—

अध्यात्मसंस्था के पाँच विवर्त्तों के आधार पर जिन १५ योगों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें से प्रकृत भक्तिपरीक्षा प्रकरण का भक्तियोग कौनसा है ? यह प्रश्न शेष रह जाता है। इसी का समाधान कर इस उपासनास्वरूपनिर्वचनप्रकरण को समाप्त किया जाता है।

२६६-अव्यक्तगर्भित-महानात्मा के माध्यम से प्रश्न का निराकरण, एवं तदनुबन्धी आधिदैविक-आधिदैविकाधिभौतिक, तथा आधिभौतिक-विवर्त्तत्रयी का संस्मरण—

यद्यपि आध्यत्मसंस्था की पाँचों ही संस्थाओं में (प्रत्येक में) आत्मा-प्राण-पशु-भेद से हमने आधि-दैविक-आधिदैविकाधिभौतिक-आधिभौतिक तीनों विवर्त्तों की सत्ता बतलाते हुए, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-भक्ति-कर्म्म योगों का समन्वय सिद्ध किया है। और इस दृष्टि से सभी आत्मविवर्त्त तीनों योगों से युक्त माने जासकते हैं। फिर भी गीताप्रतिपादित भक्तियोग का स्वरूपनिर्वचन करते हुए हमें पाँचों में से केवल एक अध्यात्मिक संस्था का ही अनुगमन करना पड़ेगा, एवं वह संस्था होगी एकमात्र **अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्था।**

२६७-निर्गुणात्मा सगुण षोडशीप्रजापति, सविकार यज्ञप्रजापति, सांजनविराट् प्रजापति, एवं सावरण विश्वप्रजापति का स्वरूप-संस्मरण एवं प्रश्न-समन्वय-प्रयास—

(१) पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्वखण्ड में ६ परिग्रहों का आत्मसंस्थाओं के साथ समन्वय करते हुए यह सिद्ध किया है कि आध्यात्मिक प्रत्यगात्मा निर्गुण अव्यय संस्था है, अक्षरात्मा सगुण संस्था है, आत्मक्षरात्मा सविकारसंस्था है, विकारक्षरात्मा साञ्जनसंस्था है, एवं वैकारिक क्षरात्मा सावरण संस्था है। एक ही अव्यायात्मा परिग्रह भेद से अव्यय, अक्षर, क्षर, विकार, वैकारिक इन पाँच विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ आधिदैविक संस्था में **निर्गुणआत्मा, सगुणषोडशी प्रजापति, सविकार यज्ञप्रजापति, साञ्जनविराट्प्रजापति, सावरण विश्वप्रजापति** इन नामों से, एवं आध्यात्मिकसंस्था में **प्रत्यगात्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, शारीरकआत्मा, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा** इन नामों से व्यवहृत होता है।

२६८-ज्ञानकर्म्ममय आत्मपर्वों का संस्मरण, तन्निबन्धन दैविक-भौतिक-भावों का समन्वय, तदनुबन्धी ज्ञानकर्म्मात्मा का संस्मरण, एवं जीवसंस्था में अन्तर्भुक्ता ईश्वरीयात्मसंस्था का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(२) जिस मूल अव्ययात्मा के पाँच विवर्त्त हैं, वह ज्ञानकर्म्ममय है। ज्ञान भाग उसका आधिदैविक-रूप है, कर्म्मभाग उसका आधिभौतिकरूप है। क्योंकि स्वयं मूल में दोनों हैं अतः इसके शेष चारों तूलरूपों में भी दोनों का रहना न्यायप्राप्त था। मूलात्मा के इन दोनों रूपों के तारतम्य से ही दो के तीन रूप होजाते

हैं। और यही तीन रूप इसके मुख्यरूप माने जाते हैं। एक रूप में ज्ञान-कर्म्म दोनों आत्यन्तिक रूप से विकसित रहते हुए ज्ञानात्मक बने हुए हैं। एक में ज्ञान-कर्म्म दोनों अपने अपने विकास-अविकास रूपों में से प्रतिष्ठित हैं। एक में ज्ञान-कर्म्म दोनों आत्यन्तिक आवरण से कर्म्मात्मक बने हुए हैं। इसप्रकार तीनों ही रूपज्ञान-कर्म्म सम्बन्ध से उभयात्मक बनते हुए भी विकास-आवरण के तारतम्य से ज्ञानात्मा-**ज्ञानकर्म्मात्मा कर्म्मात्मा** नामों से प्रसिद्ध होरहे हैं। ज्ञानात्मा निर्गुण है, ज्ञानकर्म्मात्मा सगुण है, कर्म्मात्मा सविकार है। निर्गुण ज्ञानात्मा आत्मा है, सगुण आत्मा प्रजापति है, सविकार आत्मा विश्व है। इसी दृष्टि से आत्मा उक्थरूप आत्मा है, प्रजापति अर्करूप प्राण है, विश्व अशितिरूप पशु है। एवं इसी दृष्टि से ईश्वरीय संस्था की अव्ययात्मसंस्था आत्मसंस्था है, अक्षरात्मसंस्था (षो० प्रजापति) प्राण संस्था है, एवं आत्मक्षरात्मसंस्था (यज्ञप्र०) पशु संस्था है। शेष बची हुई विकारक्षरात्मसंस्था, वैकारिकक्षरात्मसंस्था दोनों पशु लक्षण आत्मक्षरात्मसंस्था में ही अन्तर्भूत होती हुई तद्रूप ही हैं। यही अवस्था जीवसंस्था में समझिए। प्रत्यगात्मसंस्था आत्मसंस्था है, अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्था प्राणसंस्था है, एवं शारीरकात्मसंस्था पशुसंस्था है। शेष बची हुई विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मसंस्था, भूतात्मसंस्था दोनों पशुलक्षण शारीरकात्मसंस्था में अन्तर्भूत होती हुई तद्रूप ही हैं।

२६९-जीवेश्वराभिन्न भावनिबन्धना अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित विभिन्ना तात्त्विक-दृष्टियों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं तन्निबन्धन दैविक-भौतिक-महिममय विवर्त्त—

(३) उक्त तारतम्य का तात्पर्य्य यह निकला कि पाँचों में तीन आत्मसंस्थाएं तो परिग्रह दृष्टि से निर्गुण-सगुण-सविकार बनी हुई हैं, मूलात्मदृष्टि से अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर प्रधान बनी हुई हैं, ज्ञानकर्म्म दृष्टि से ज्ञान-ज्ञानकर्म्म-कर्म्म प्रधान हुई हैं, देवभूतदृष्टि से अधिदैवत-अधिदैवाधिभूत-अधिभूत प्रधान बनी हुई हैं। एवं दो अन्त की आत्मसंस्थाएं परिग्रहदृष्टि से साञ्जन-सावरण, मूलात्मदृष्टि से विकार क्षर, वैकारिक क्षर प्रधान, ज्ञानकर्म्म दृष्टि से कर्म्म प्रधान, देवभूत दृष्टि से अधिभूत प्रधान बनी हुई हैं।

२७०-अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-त्रयीरूप 'ब्रह्माश्वत्थ' का माङ्गलिक-संस्मरण, एवं तदंशभूत-'कर्म्माश्वत्थ' का संस्मरण—

(४) ज्ञानलक्षण अधिदेवतत्त्व "**अमृतम्**" है, ज्ञानकर्म्मलक्षण अधिदेवाधि भूततत्व "**ब्रह्म**" है। एवं कर्म्मलक्षण अधिभूततत्त्व "**शुक्रम्**" है। इस दृष्टि से ज्ञानलक्षण निर्गुण आत्मा अमृतम् है, ज्ञानकर्म्मलक्षण सगुण आत्मा ब्रह्म है, एवं कर्म्मलक्षण सविकार, साञ्जन, सावरण तीनों आत्मा "**शुक्रम्**" हैं। अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति-ईश्वरीय विवर्त्त "**ब्रह्माश्वत्थ**" है, एवं अमृतब्रह्म शुक्रमूर्त्ति जीवविवर्त्त "**कर्म्माश्वत्थ**" है।

२७१-अश्वत्थनिबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का क्रमसिद्ध तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

(५) इसी तारतम्य से यह भी स्पष्ट होजाता है कि निर्गुणात्मा में साध्य-साधन दोनों आधिदैविक हैं, अतएव तत्सम्बन्धी योग "**ज्ञानयोग**" है। सगुण आत्मा में साधन आधिभौतिक हैं, साध्य आधिदैविक

हैं, अतएव तत्सम्बन्धीयोग "भक्तियोग" है। एवं सविकार-साञ्जन-सावरण तीनों में साधन-साध्य दोनों आधिभौतिक हैं, अतएव तत्सम्बन्धी तीनों योग "कर्म्मयोग" हैं।

२७२-गीताप्रतिपादिपादित बुद्धियोग से अभिन्न ज्ञानयोग का स्वरूप-संस्मरण—

(६) इसी व्यवच्छेद से अत्र यह भी भलीभाँति स्पष्ट होजाता है कि भूतात्मसंस्थानुगता योगत्रयी **अवैधकर्म्मयोग** है, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मसंस्थानुगता योगत्रयी **लौकिक कर्म्मयोग** है, शारीरकात्मसंस्थानुगता योगत्रयी **शास्त्रीय कर्म्मयोग** है, अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्थानुगता योगत्रयी **गीतासम्मत "भक्तियोग"** है, एवं प्रत्यगात्मसंस्थानुगता योगत्रयी **गीता प्रतिपादित बुद्धियोग, किंवा ज्ञानयोग है।**

२७३-गीताप्रतिपादित बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के आत्म-प्राण-पशु निबन्धन विभिन्न तीन योगों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(७) गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग ही प्रत्यगात्मा के आत्म-प्राण-पशुपर्व-भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, गीतासम्मत भक्तियोग ही महानात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, शास्त्रसम्मत कर्म्मयोग ही शारीरकात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग-इन तीन विवर्त्तों में, लोकसम्मत कर्म्मयोग ही प्रज्ञानात्मा के आत्म-प्राण-पशु-पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, एवं सामान्यजनसम्मत कर्म्मयोग ही भूतात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में परिणत होरहा है।

२७४-पञ्चविध-योगत्रयी-विवर्त्तों का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(८) इन पाँचों योगत्रयी विवर्त्तों को हम बुद्धियोगात्मक **ज्ञानयोग**, बुद्धियोगयुक्त **भक्तियोग**, बुद्धियोग वञ्चित **कर्म्मयोग**, बुद्धिव्यामोहयुक्त **कर्म्मयोग** बुद्धिशून्य **कर्म्मयोग** इन नामों से व्यवहृत करेंगे। इन पाँचों में बुद्धिव्यामोहयुक्त कर्म्मयोग, बुद्धिशून्य कर्म्मयोग का गीता में प्रतिपादन नहीं है। बुद्धियोग वञ्चित कर्म्मयोग का निन्दापूर्वक खण्डन है। बुद्धियोग युक्त भक्तियोग का समादर है। एवं बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का प्रतिपादन है।

२७५-गीता का 'ज्ञानयोगशास्त्रत्त्व', एवं तन्निबन्धन 'बुद्धियोगशास्त्रत्त्व'-रूप-रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

(९) उक्त दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति गीता को **ज्ञानयोगशास्त्र** कहे तो, उसका यह कथन सर्वथा प्रामाणिक माना जाएगा। गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग पूर्वकथनानुसार बुद्धियोगात्मक ज्ञान-कर्म्म भक्ति इन तीन विवर्त्तों में परिणत होजाता है। इस व्यष्टिदृष्टि से जहाँ गीताशास्त्र **ज्ञानयोगशास्त्र, भक्तियोगशास्त्र, कर्म्मयोगशास्त्र**, इन स्वतन्त्र एक एक नामों से भी व्यवहृत होसकेगा, वहाँ समष्टि दृष्टि से इसे **"बुद्धियोगशास्त्र"** ही कहा जाएगा। आगे के परिलेखों से उक्त विषय का स्पष्टीकरण होजाता है—

अधिदैवतम्		ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययो मूलात्मा	अध्यात्मम्
कर्म्मज्ञानमयः, ज्ञानकर्म्मकर्म्ममयः ज्ञानकर्म्म-मयः, इत्येवंपञ्च मूलात्मत्वात्	१–	अव्ययः (**कर्म्मज्ञानमयः**)–निर्गुणः–आत्मा—	प्रत्यगात्मा
	२–	अक्षरः (**ज्ञानमयः, कर्म्ममयः**)–सगुणः–षोडशीप्रजापतिः—	अव्यक्तगर्भितमहानात्मा
	३–	आत्मक्षरः (**ज्ञानकर्म्ममयः**)–सविकारः–यज्ञप्रजापतिः—	शारीरकात्मा
	४–	विकारक्षरः (**ज्ञानकर्म्ममयः**) साञ्जनः–विराटप्रजापतिः—	विज्ञानगर्भितप्रज्ञात्मा
	५–	वैकारिकक्षरः (**ज्ञानकर्म्ममयः**) सावरणः–विश्वप्रजापतिः–	भूतात्मा

अधिदैवतम्		ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययोमूलात्मा	अध्यात्मम्
१	(१) १	कर्म्मज्ञानयोरात्यन्तिकविकासः–ज्ञानात्मा निर्गुण आत्मा (आत्मा) (अव्ययात्मसंस्था)	प्रत्यगात्मा
२	(१) २	ज्ञानकर्म्मणोः साम्यावस्था–ज्ञानकर्म्मात्मा–सगुणः–प्रजापतिः (प्राणः) (अक्षरात्मसंस्था)	महानात्मा
३	(१) ३	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः––कर्म्मात्मा––सविकारः––विश्वम् (पशुः) (आत्मक्षरात्मसंस्था)	शारीरकात्मा
	(२) ४	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः––कर्म्मात्मा––साञ्जनः––अन्तर्वित्तम् (पशुः) (विकारक्षरात्मसंस्था)	प्रज्ञानात्मा
	(३) ५	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः–कर्म्मात्मा–सावरणः––बहिर्वित्तम् (पशुः) (वैकारिकक्षरात्मसंस्था)	भूतात्मा

अधिदैवतम्	ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययो मूलात्मा	अध्यात्मम्
१–	निर्गुणः–अव्ययः–ज्ञानम्—दैवतम्—आत्मा—	प्रत्यागात्मा
२–	सगुणः–अक्षरः–ज्ञानकर्म्मणी–दैवतानि भूतानि च—षोडशी	महानात्मा
३–	सविकारः–आत्मक्षरः–कर्म्म–भूतम्—यज्ञः	शारीरकात्मा
४–	साञ्जनः–विकाक्षरः–कर्म्म–भूतम्-विराट्	प्रज्ञानात्मा
५–	सावरणः–आत्मक्षरः–कर्म्म–भूतम्–विश्वम्	भूतात्मा

अधिदैवतम्		तत्-लक्षणोनिरुपाधिकआत्मा	अध्यात्मम्	
—**— तद्देवशुक्रं, तद् ब्रह्म, तद्देवामृतमुच्यते	१–	ज्ञानलक्षणो निर्गुण आत्मा (आत्मा)	प्रत्यगात्मा	—अमृतम्
	२–	ज्ञानकर्म्मलक्षणः–सगुणआत्मा (प्राणः) षोडशीप्रजापतिः	महानात्मा	—ब्रह्म
	३–	कर्म्मलक्षणः सविकारआत्मा (पशुः) यज्ञप्रजापतिः	शारीरकात्मा	—शुक्रम्
	४–	कर्म्मलक्षणः साञ्जनआत्मा (पशुः) विराट्प्रजापतिः	प्रज्ञानात्मा	
	५–	कर्म्मलक्षणः सावरणआत्मा (पशुः) विश्वप्रजापतिः	भूतात्मा	
		ब्रह्माश्वत्थः	कर्म्माश्वत्थः	

१—निर्गुणात्मसाक्षात्करणे— साध्यं ज्ञानम्, (अधिदैवतम्) साधनं, ज्ञानम् (अधिदैवतम्)	तद्योगो-"ज्ञानयोगः"	१ ज्ञानम्	
२—सगुणात्मसाक्षात्करणे— साध्यं-ज्ञानम् (अधिदैवतम्) साधनं कर्म्म (अधिभूतम्)	तद्योगो-"भक्तियोगः"	२ भक्तिः	
३—सविकारात्मसाक्षात्करणे— साध्यं कर्म्म (अधिभूतम्) साधनं कर्म्म (अधिभूतम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (शास्त्रीयः)		३ कर्म्म
४—साञ्जनात्मानुगमने— साध्यं कर्म्म (भौतिकम्) साधनं-कर्म्म (भौतिकम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (लौकिकः)		
५—सावरणात्मानुगमने— साध्यं कर्म्म (भूतभौतिकम्) साधनं कर्म्म (भूतभौतिकम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (सामान्यः)		

१—निर्गुणात्मयोगः—गीताप्रतिपादितः–"बुद्धियोगो ज्ञानयोगो वा"
२—सगुणात्मयोगः—गीतासम्मतो—"भक्तियोग उपासना वा"
३—सविकारात्मयोगः–शास्त्रीयः——"कर्म्मयोगः कर्म्म वा।"
४—साञ्जनात्मयोगः—लौकिकः——"कर्म्मयोगः कर्म्माभिनिवेशो वा"
५—सावरणात्मयोगः—अवैधः———"कर्म्मयोगो निष्ठाविच्युतिर्वा"

	१–आत्मा (अव्ययः) ज्ञानम	—ज्ञानयोगः	
३	२–प्राणः (अक्षरः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	—अव्ययः-प्रत्यगात्मा (बुद्धियोगत्रयी) (ज्ञानयोगः)
	३–पशुः (क्षरः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
	१–आत्मा (अन्तर्यामिगर्भितंसत्त्वम्) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	
३	२–प्राणः (ऋतसत्यग० सौम्यप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	—अक्षरः–महानात्मा (भक्तियोगत्रयी) (भक्तियोगः)
	३–पशुः (शरीरगुहाग० आपः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
	१–आत्मा (जीवात्मा) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	
३	२–प्राणः (व्यानप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	—आत्मक्षरः–शारीरकात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	३–पशुः (शरीरत्रिलोकी) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
	१–आत्मा (विज्ञानग० प्रज्ञानम्) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	
३	२–प्राणः (आयुःप्राणग० यशःप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	—वि० क्षरः–प्रज्ञानात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	३–पशुः (ज्योतिर्गौग० शुक्रम्) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
	१–आत्मा (ब्रह्माग्निः) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	
३	२–प्राणः (शारीराग्निः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	—वै० क्षरः–भूतात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	३–पशुः (शरीरपिण्डः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	

१—बुद्धियोगत्रयी—बुद्धियोगात्मकयोगत्रयी—ज्ञानयोगो—बुद्धियोगः
२—भक्तियोगत्रयी—बुद्धियोगयुक्तयोगत्रयी—भक्तियोगो—बुद्धियुक्तः
३—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धियोगवञ्चितयोगत्रयी-कर्म्मयोगो—बुद्धिवञ्चितः
४—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धिव्यामोहयुक्तयोगत्रयी-कर्म्मयोगो—बुद्धिव्यामुग्धः
५—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धिशून्ययोगत्रयी——कर्म्मयोगो—बुद्धिशून्यः

——**——

१–गीताबुद्धियोगशास्त्रम् (समष्टया)।

१—बुद्धियोगरूपो—ज्ञानयोगः—गीता—ज्ञानयोगशास्त्रम्—व्यष्टया
२—बुद्धियोगरूपो—भक्तियोगः—गीता—भक्तियोगशास्त्रम्—व्यष्टया
३—बुद्धियोगरूपः—कर्म्मयोगः—गीता—कर्म्मयोगशास्त्रम्—व्यष्टया

——**——

२७६–अव्यक्तात्मगर्भित-गुणात्मक-महानात्मा से अनुप्राणित उपासनातत्त्व, तन्निबन्धन उपासनाकाण्ड, एवं भक्तियोगानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म-निबन्धन-अधिदैवत-भौतिक विवर्त्तों का स्वरूप समतुलन—

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, प्रकृत उपासनास्वरूप का निर्वचन करते समय हमें एकमात्र अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्था का ही आश्रय लेना पड़ता है। महानात्मा पूर्व प्रदर्शित तालिकाओं के अनुसार अक्षरप्रधान है। उधर आत्मा के पाँचों विवर्त्तों से अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मविवर्त्त साध्य-साधनरूप से उभयथा ज्ञानमय बनता हुआ ज्ञानयोग का ही अधिष्ठाता माना जाएगा। आत्मक्षर–विकारक्षर–वैकारिकक्षर–प्रधान शारीरकात्मा प्रज्ञानात्मा भूतात्मा तीनों साध्य–साधनरूप से उभयथा कर्म्ममय बनते हुए कर्म्मयोग के ही अधिष्ठाता माने जाएँगे। अक्षरप्रधान महानात्मा ही मध्यस्थ होने से ज्ञान–कर्म्मोभयात्मक बनता हुआ, अतएव दैवतभावापन्न साध्यदृष्टि से आधिदैविक, एवं साधनदृष्टि से आधिभौतिक बनता हुआ भक्तियोग का अधिष्ठाता माना जाएगा।

२७७–महदात्मानुबन्धी भक्तियोग के अवान्तर विवर्त्तरूप ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगों का व्यावहारिक–समन्वय, योगत्रयी की भक्तियोगरूपता, एवं तत्प्रतिष्ठारूप त्रिविवर्त्तात्मक महानात्मा (महात्मा)—

महदात्मसम्बन्धी इस भक्तियोग के ही ज्ञानात्मक भक्तियोग, कर्म्मात्मक भक्तियोग एवं उभयात्मक भक्तियोग, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। ये ही तीनों भक्तियोग क्रमशः **ज्ञानयोग**, **भक्तियोग**, **कर्म्मयोग**, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि इन तीनों योगों का उभयरूप महानात्मा (अक्षरात्मा–सगुणप्रजापति) के साथ सम्बन्ध है। और इसी दृष्टि से इन तीनों ही योगों को **भक्तियोग** ही कहा भी जाना चाहिए।

परन्तु यह अक्षरात्मा क्योंकि मध्य में प्रतिष्ठित है, अतएव इस का उस ओर प्रतिष्ठित ज्ञानमय अव्यय की ज्ञानविभूति से भी सम्बन्ध रहता है, एवं इस ओर प्रतिष्टित क्षर की कर्म्मविभूति से भी सम्बन्ध रहता है । इस उभयसम्बन्ध से एक ही अक्षरात्मा, किंवा महानात्मा के तीन स्वरूप होजाते हैं ।

२७८-महानात्मा के निर्गुण-सगुण-व्यक्त-भेदभावनिबन्धन त्रिविध महिममय स्वरूपों का तात्त्विक-स्वरूपेतिवृत्त, तन्निबन्धना उपासना के त्रिविध महिमविवर्त्त, एवं तद्रूपा भक्तियोगात्मिका योगत्रयी का रहस्यपूर्ण-स्वरूप-विश्लेषण—

वह महानात्मा, जो पर निर्गुण अव्यय के आधिदैविक ज्ञान की प्रतिच्छाया से युक्त है, **निर्गुण-अव्यक्त अक्षरात्मा** कहलाएगा । वह महानात्मा, जो सविकार अवर क्षर के आधिभौतिक कर्म्म भाग की प्रतिच्छाया से युक्त है, सविकार **व्यक्त अक्षरात्मा** कहलाएगा । एवं वह महानात्मा, जो मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ही पर निर्गुण अव्यय के आधिदैविक ज्ञानांश से, अवर क्षर के आधिभौतिक कर्म्मांश से युक्त होकर व्यक्ताव्यक्त बना हुआ है, **सगुण अक्षरात्मा** कहलाएगा । इन तीन रूपों से एक ही अक्षरात्मात्रिविध भक्तियोगों का अधिष्ठाता बन जाएगा । अव्ययगर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर निर्गुण अक्षर, क्षरगर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर सविकार अक्षर, एवं दोनों के गर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर सगुण अक्षर कहलाएगा । अक्षर के इन्हीं तीनों रूपों को हम क्रमशः आधिदैविक अक्षर, तथा आधिदैविकाधिभौतिक अक्षर, आधिभौतिक अक्षर इन नामों से व्यवहृत करेंगे । बुद्धियोगत्रयी के अतिरिक्त गीता में जिस संशोधित निष्काम ज्ञान, कर्म्म-भक्ति-योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उस का यथावत् समन्वय करने के लिए अक्षरात्मा के उक्त तीनों विवर्त्तों को अवधान पूर्वक लक्ष्य में रखना चाहिए । ज्ञानप्रधान अव्यक्त वही अक्षर अव्यक्त निर्गुण रूप से ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा बनता है, कर्म्मप्रधान व्यक्त वही अक्षर व्यक्त सविकार रूपसे कर्म्मयोग का आलम्बन बनता है, एवं उभय-रूप व्यक्ताव्यक्त वही अक्षर व्यक्ताव्यक्त सगुणरूप से भक्तियोग का आश्रय बनता है । ज्ञानयोग में साधन साध्य दोनों ज्ञानप्रधान हैं, कर्म्मयोग से साधन-साध्य दोनों कर्म्मप्रधान हैं, एवं भक्तियोग में साधन कर्म्मप्रधान है, तथा साध्य ज्ञानप्रधान है ।

२७९-परमार्थ, तथा व्यावहारिक अनुबन्धों के माध्यम से भक्तियोगानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं तन्निबन्धना अनुष्ठानशैली तथा अधिकारि-भेद-

पारमार्थिक कर्म्मों के द्वारा परमार्थकोटि की ओर अग्रेसर होते रहना ज्ञानमार्ग है । व्यावहारिक कर्म्मों के द्वारा व्यावहारिक कर्म्मों में अग्रेसर होते हुए आगे बढ़ना कर्म्ममार्ग है । एवं व्यावहारिक साधनों द्वारा पारमार्थिक साध्य की ओर अग्रेसर होना भक्तिमार्ग है । स्मरण रहे, तीनों में मूललक्ष्य परमार्थ का ही है । केवल अनुष्ठानशैली में भेद है । साधन-साध्यरूप से उभयथा परमार्थ लाभ करना ज्ञानपक्ष है । साधन-साध्यरूप से उभयथा व्यवहार का अनुगमन करते हुए परमार्थ लाभ करना कर्म्मपक्ष है । एवं व्यावहारिक साधन से पारमार्थिक साध्य का अनुगमन करना भक्तिपक्ष है । प्रतीति, अनुष्ठानशैली, अधि-कारि-भेद से मार्ग तीनों पृथक् पृथक् हैं, लक्ष्य तीनों का एक है ।

२८०–अव्यक्ताक्षरानुगामिनी योगत्रयी से अनुप्राणिता लोक--व्यावहारिकी, परमार्थ-मात्रानुबन्धिनी भावनाओं का स्वरूप-समन्वय—

अपने जीवन को सर्वात्मना पारमार्थिक बनाते हुए भी लक्ष्य पर पहुँचा जासकता है। सर्वथा-लौकिक बनाते हुए भी परमार्थ लाभ किया जासकता है। एवं लोक-परमार्थ-के सहानुष्ठान से भी लक्ष्य-सिद्धि होसकती है। संशोधित गीतासम्मता योगत्रयी का यही स्वरूप-निर्वचन है। हाँ, शास्त्रीय योगत्रयी अवश्य ही इस उद्देश्यसिद्धि से वञ्चित है। वहाँ का कर्म्मयोग केवल व्यवहार पर समाप्त है, ज्ञानयोग परमार्थ व्यवहार, दोनों से वञ्चित है, एवं भक्तियोग नाममात्र के लिए परमार्थ से युक्त है। दोनों योगत्रयी विवर्त्तों की इस महती विशेषता के आधार पर ही अव्यक्ताक्षरानुगामिनी योगत्रयी की मीमांसा करना चाहिए।

२८१–कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-परीक्षाओं से अनुप्राणित अक्षरप्रधान महानात्मा, एवं महानात्मा के उभयात्मक स्वरूप के आधार पर सुप्रतिष्ठित 'ऐश्वर्य्य बुद्धियोग' रूप भक्तियोग का स्वरूप--संस्मरण—

प्रस्तुत भाष्यभूमिका में जिन प्रकरणों को हमने **कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोग--परीक्षा** ये नाम दिए हैं, उन ज्ञान--कर्म्म--भक्तियोगों से अक्षरप्रधान महदात्मसम्बन्धी ज्ञान-कर्म्म-भक्ति ही अभिप्रेत है। अव्यक्त अक्षर निगुण बनता हुआ विशुद्ध आधिदैविक है, व्यक्ताव्यक्त अक्षर सगुण बनता हुआ आधिदैविकाधिभौतिक है, एवं व्यक्त अक्षर सविकार बनता हुआ विशुद्ध आधिभौतिक है। इस विश्लेषण के अनुसार यह कहा जासकेगा कि, ज्ञान अव्यक्त निर्गुण अक्षर का ही होगा, कर्म्मका योग व्यक्त सविकार अक्षर पर ही होगा, एवं उपासना व्यक्ताव्यक्त सगुण अक्षर की ही होगी। सगुण में जब व्यक्त अव्यक्तलक्षण आधिभौतिक-आधिदैविक दोनों विद्यमान हैं तो अवश्य ही उपासनाकाण्ड में हमें दोनों का आश्रय लेना पड़ेगा। और यही उपासना, किंवा भक्ति का वास्तविक स्वरूप परिचय, किंवा स्वरूप निर्वचन होगा। एवं यही उपासना गीता के शब्दों में "ऐश्वर्य्यबुद्धियोग" कहलाएगा।

२८२–(२)–अव्यक्तगर्भित-महदात्मानुगता भक्तियोगत्रयी—

× १–ज्ञानात्मकभक्तियोगः—ज्ञानयोगः (ज्ञानबुद्धियोगो वा)।

÷ २–उभयात्मकभक्तियोगः—भक्तियोगः (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगो वा)।

= ३–कर्म्मात्मकभक्तियोगः—कर्म्मयोगः (धर्म्मबुद्धियोगो वा)।

——*——

× ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५।)।
÷ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ [९।१३।]।
= स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः [१८।४६]।

२-(२)--अव्ययगर्भितः—अक्षरमूर्त्तिर्महानात्मा—अव्यक्तात्मा निर्गुणः
उभयगर्भितः—अक्षरमूर्त्तिर्महानात्मा—व्यक्तात्मा सगुणः
क्षरगर्भितः—अक्षरमूर्त्तिर्महानात्मा—व्यक्तात्मा-सविकारः

——*——

३-(२)-अव्यक्तः-महानात्मा—ज्ञानप्रधानः-(आधिदैवतम्)—ज्ञानयोगाधिष्ठाता
व्यक्ताव्यक्तः महानात्मा-उभयमूर्त्तिः (अधिदैवताधिभौतिकम्)—भक्तियोगाधिष्ठाता
व्यक्तःमहानात्मा-कर्म्मप्रधानः (अधिभूतम्)—कर्म्मयोगाधिष्ठाता

——*——

२८३-अव्यक्तभावात्मक पारिभाषिक-'शान्तात्मा' से अनुप्राणित भक्तियोगनिबन्धन-'ज्ञानयोग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्यक्त महानात्मा अव्यक्तात्मा का विशेषरूप से उपकारक बनता है। व्यक्ताव्यक्त महानात्मा त्रिगुणमूर्त्ति महानात्मा का, एवं व्यक्त महानात्मा सविकार शरीरकात्मा का उपकारक बनता है। व्यक्त-महानात्मा की दृष्टि शारीरकात्मा की ओर है, अतएव तत्सम्बन्धी कर्म्मयोग इसी का उपकारक बनेगा। व्यक्ताव्यक्त महानात्मा त्रिगुणभाव की प्रतिष्ठा है, अतएव तत्सम्बन्धी भक्तियोग महानात्मा का ही उपकारक माना जाएगा। एवं अव्यक्त महानात्मा की दृष्टि निर्गुणअव्यक्तात्मा (शान्तात्मा) की ओर है, अतएव तत्सम्बन्धी ज्ञानयोग इस अव्यक्तात्मा का ही उपकारक माना जाएगा।

२८४-गुणातीत--अव्यक्तभावप्रधान--ज्ञानयोगाधिष्ठाता शान्तात्मा, एवं तन्निबन्धन योग का स्वरूप--समन्वय, एवं तन्मूला गुणत्रयी और गुणभावों की समता-विषमता का दिग्दर्शन—

क्योंकि उपासना का एकमात्र सम्बन्ध सगुण महानात्मा से है, अतएव तत्सम्बन्धी गुणभाव की अपेक्षा से साधनों में तारतम्य होना स्वाभाविक होजाता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उपासक का महानात्मा यद्यपि तीनों ही गुणों से युक्त रहता है, फलतः तद्युक्त उपासनासाधक मन भी त्रिगुणभाव से ही युक्त-रहता है। परन्तु ये तीनों गुण नित्यरूप से विषम ही बनें रहते हैं। गुणत्रयी की विषमावस्था ही अध्यात्म-संस्था की प्रतिष्ठा है। जिसदिन गुणत्रयी साम्यभाव में परिणत होजाती है, उस दिन तो सब कुछ विलीन ही होजाता है। उस समय तो गुणातीत शान्तात्मा का ही साम्राज्य रहजाता है।

२८५-गुणवैषम्य के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय, एवं उपासना संसिद्धि के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थभावों की भौतिकता का संस्मरण—

गुणवैषम्य का तात्पर्य्य है-सत्त्व-रजः-तम, तीनों में से किसी एक गुण की प्रधानता, शेष दोनों गुणों की गौणता। जिस अध्यात्मसंस्था में जिस गुण की प्रधानता रहेगी, तद्भावन्याय के अनुसार वह

संस्था तद्गुण नाम से ही व्यवहृत होगी। स्थितिमूलक इस प्रकृतिसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वाभाविक गुण-वैषम्य से उपासकवर्ग के **सात्त्विक, राजस, तामस**, ये तीन स्थूल विवर्त्त मानने पड़ेंगे। स्थूल शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ता है कि, इन तीन गुणों के समन्वय-वैचित्र्य से आगे जाकर, सात्त्विक, सात्त्विकराजस, राजस तामस, तामस राजस आदि अनेक विवर्त्त होजाते हैं। स्वभावरूप इस गुणभाव की विशेषता से प्रत्येक उपासक की अध्यत्मसंस्था विशेषभावों में परिणत होकर परस्पर भिन्न बन रही है। उधर गुणत्रय की कृपा से उपासना के साधनरूप मध्यस्थ बनने वाले भौतिक पदार्थ भी इस विशेषता से वञ्चित नहीं हैं। ऐसी दशा में उक्त उपासनाकाण्ड के सम्बन्ध में हमें इस सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ेगा कि—उपासना सिद्धि के लिए तदनुरूप भौतिक पदार्थ को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा।

२८६-आर्षमहर्षियों के विज्ञानसिद्ध उपासनाकाण्ड की मूलभित्ति से अनुप्राणित-'मनोविज्ञान', एवं उपासक के मानसिक-स्वरूपानुपात से ही मध्यस्थ-प्रतिमादि भावों का समन्वय—

इसी प्राकृतिक रहस्य के आधार पर आर्य्यमहर्षियों का यह वैज्ञानिक उपासनाकाण्ड विविध देवतावाद का अनुगामी बनता हुआ, विविधाकाराकारिता मध्यस्था प्रतिमाओं का समर्थक बना हुआ है। भारतीय उपासनाकाण्ड की मूलभित्ति है—**'मनोविज्ञान'**। उपास्य की दृष्टि से उपासना मार्ग का आविष्कार नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो, सभ्यतारम्भकाल से आरम्भ कर आजपर्य्यन्त एक ही उपास्य का नाम सुना जाता, एवं उस एक ही उपास्य की एकरूपा ही प्रतिमा का व्यवहार प्रचलित रहता। और उस दशा में उपासक की गुणविशेषताओं का निरादर करने वाला ऐसा उपासनामार्ग सर्वथा निष्फल ही बना रहता।

२८७-उपासक की मनोवृत्ति के आधार पर 'उपासना' का आविष्कार, एवं उपास्य से अनुप्राणित अद्वैतमूलक भी एकेश्वर तत्त्व की उपासक-मनोवृत्ति भेद से अनेक देवतावाद में परिणति और तन्नामसंस्मरण—

विचार करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि यहाँ उपासक की वृत्तियों के आधार पर ही उपासना का आविष्कार हुआ है। उपासक के मन की जैसे स्वाभाविकी वृत्ति है, उसका मन जिस ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है, वैज्ञानिक ऋषियोंने उन वृत्तियों के अनुरूप साधनों को ही मध्यस्थ बनाया है, तदनुरूप उपास्यों की उपासना का ही विधान किया है। यही कारण है कि, एकेश्वरवाद को मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ भी हमारा उपासनामार्ग केवल उपासनासिद्धि के लिए अनेकेश्वरवाद का साधन बनता हुआ, तत्सिद्धि के लिए तदनुरूप प्रतिमादि का ही अनुगामी बना हुआ है। दुर्गा, भैरव, हनूमान्, राम, कृष्ण विष्णु, शिव, गणपति, रुद्र आदि असंख्य उपास्य, इनके भी अवान्तर असंख्य भेद, तदनुरूप ही असंख्य प्रतिमाएँ ये सब नाना साधन हमारे उपासनातत्त्व की वैज्ञानिकता ही सिद्ध कर रहे हैं, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरणों में सोदाहरण देखेंगे।

२८८-प्रत्ययालम्बनता से अनुप्राणित आधिभौतिक-माध्यम और उपासनाकाण्ड—

अभी कहना यही है कि, उपासना का सम्बन्ध क्योंकि व्यक्ताव्यक्त महानात्मा से है, महानात्मा त्रिगुणभावापन्न है, त्रिगुणभाव नित्यविषम है । तद्युक्त मन भी तद्गुणक बना रहता है । मन की स्थिरता के लिए ही आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाना पड़ता है । इस प्रत्ययालम्बनता के लिए उसी आधिभौतिक पदार्थ को उसी आकार में परिणत कर मध्यस्थ बनाना पड़ेगा, जो कि आकार उपासक के मन के लिए आकर्षक प्रमाणित होगा ।

२८९-सहजभाषा में उपासनातत्त्व स्पष्टीकरणोपक्रम—

दार्शनिक भाषा में उपासना का स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया । अब दो शब्दों में सहज भाषा में भी उपासनातत्त्व का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

२९०-उपासना का एकमात्र आलम्बन अगुणब्रह्म, उपास्य आध्यात्मिक महद्ब्रह्म, महच्छक्ति का उपासना के माध्यम से शारीरात्मा में समावेश, तन्निबन्धना उपासना-सिद्धि, एवं उपासक शारीरकात्मा की अश्मखण्डावृत्ति का स्वरूप-समन्वय—

उपासना होती है सगुणब्रह्म की । किस सगुण ब्रह्म की ?, आधिदैविक की नहीं, अपितु आध्यात्मिक सगुण महद्ब्रह्म की । उद्देश्य यह है कि, इस महद्ब्रह्म की प्रभूतशक्ति के साथ नित्ययुक्त भी शारीरकात्मा आवरण के कारण उस शक्त्युपयोग से वञ्चित है । संसार की साधारण से साधारण घटना इसे क्षुब्ध बना देती है । पद पद पर यह अपने आपको असमर्थ अनुभव करता है, जबकि शक्ति का कोश इसके अन्तर्जगत् में निहित है । मन की (इन्द्रियानुगामिनी) स्वाभाविक वृत्तियाँ इसे विषयासक्त बना कर इस की शेषभूता शक्ति का भी ह्रास करती रहती हैं । ऐसी दशा में इसके लिए क्षोभशान्ति का यह सुगममार्ग (सुसुखं) है कि, यह अपने मन को किसी ऐसे सूत्र के आधीन कर दे, जो इसे मध्यमवृत्ति का अनुगामी बनाता हुआ बाह्यस्पर्श के साथ साथ अन्तःस्पर्श का भी अनुगामी बनाता रहे । इस मध्यमवृत्ति से मन इन्द्रियों के रूप से तो बाह्यजगत् में विचरण करता रहेगा और स्वस्वरूप से अन्तर्जगत् में प्रवेश करता हुआ केवल बाह्यभक्त बने हुए उस शारीरक को महच्छक्ति के अधिकाधिक समीप (उप) बैठाता हुआ (आसन+आसना= उपासना) इसे उसकी घनशक्ति से युक्त करता रहेगा । परिणामतः शारीरक आत्मा मनोयोग के द्वारा प्राप्त इस भक्तिबल से बलवान् बनता हुआ एक ऐसा अश्मखण्ड बन जाएगा, जोकि हथोड़े की भयङ्कर चोटों को भी नगण्य ही अनुभूत करता रहता है ।

२९१ बुद्धिलक्षण मध्यस्थ सूत्र का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं उपासनातत्त्व का प्रतिबन्धक मानस-संस्कार और तत्र समर्पिता बुद्धि की सूत्ररूपता का अभिभव—

वह सूत्र होगा "बुद्धि" । यद्यपि बुद्धिसूत्र आज भी विद्यमान है । बिना बुद्धि के क्या कभी मन ऐन्द्रियक जगत् में अनुधावन कर सकता है !, असम्भव । परन्तु बुद्धि का यह योग आज मन का उपासक

बना हुआ है । आत्मसमर्पणभाव ही उपासना है । अपने आप को उपास्य में विलीन कर देना ही उपासना है । और अधिकांश में मानवसमाज इस दृष्टि से उपासनापथ से वञ्चित ही प्रमाणित हो रहा है । प्रायः हमने हमारी बुद्धि को तो उपासक बना रक्खा है, एवं मन को उपास्यदेवता । बुद्धि ने उपास्य मन में आत्मसमर्पण कर रक्खा है ।

२६२-विजित, और विजेता-वर्गों के उदाहरण-माध्यम से उपास्य-उपासक के धर्म्मों का उच्चावचभावानुबन्धी स्वरूप-समतुलन—

यह एक नियम है कि, जो जिस का आश्रय लेता है, जिस में आत्मसमर्पण करता है, उसके धर्म्म अवश्य ही उस आश्रित में आजाते हैं । यही तो उपासना का फल है । आश्रित विजित है, आश्रय विजेता है । विजेता वर्ग के गुण धर्म्म विजित में न आवें, अथवा विजित को विजेतृवर्ग अपने गुण धर्म्मों का अनुगमन करने के लिए विवश न करे, यह असम्भव है । इस प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि विजिता बुद्धि में विजेता मन के गुणधर्म्म संक्रान्त होजाएँ तो, इस में कौन सा आश्चर्य्य है ? ।

२६३–'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' सूत्रमूलक अव्यवसाय का, तत् सापेक्ष–व्यवसायधर्म्म का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धन उपासनाकाण्ड—

विजेता मन के कोश में क्या है ?, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है । इस के कोश में है वे अनन्त संस्कार, जिन्हें लेकर यह चाञ्चल्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है । अनेक विषयानुगामित्त्व, अनेक संस्काराश्रितत्त्व, संशयानुयोगित्त्व, चाञ्चल्य, विषयासक्तित्त्व आदि कुछ एक गुण धर्म्म ही मन की स्वार्जित सम्पत्ति है । जब बुद्धि दास्यभाव से इसमें आत्मसमर्पण कर देती है तो, पुरस्कार में मन की वह सम्पूर्ण सम्पत्ति इसमें प्रतिविम्बित होजाती है । बुद्धि का स्वाभाविक आत्मयोग पलायित होजाता है, स्वाभाविक स्थिरता जाती रहती है, निश्चित, निर्भ्रान्त, निर्म्मल, अभ्युदय निश्रेयसमूलक दिव्य एकत्वानुयोगी व्यवसाय-धर्म्म उच्छिन्न होजाता है । प्रधानता होजाती है–अनिश्चित, भ्रान्त, मलिन, प्रत्यवाय अवनतिमूलक आसुर अनेकानुयोगी अव्यवसाय धर्म्म की–"बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्" ।

२६४–मानससंस्कार, तन्मूला आसक्ति, मानवीय मन से अनुप्राणिता शान्ति के सम्बन्ध में सर्वसाधारण का सहज प्रश्न । प्रश्नस्वरूपोपबृंहण, एवं शान्ति, तथा अशान्ति–भावों के विभिन्न स्वरूपों से अनुप्राणित महान् प्रश्न का समाधान–प्रयास—

उक्त अव्यसायधर्म्म के समावेश से मनोऽनुगत चाञ्चल्य बुद्धि की स्वाभाविक--स्थिरता का अपहरण कर लेता है । उच्चावच तरङ्गों से तरङ्गायित महासमुद्र में यात्रा करने वाले यात्री की नौका जिसप्रकार झञ्झावात से डगमगाने लगती है, एवमेव वायुस्थानीय गतिधर्म्मा मानस-संस्कारों की आसक्ति बुद्धिलक्षण स्थित नाविक के प्रज्ञारूप नौका–सञ्चालनदण्डों की स्थिरता भङ्ग कर देती है । और इसप्रकार "तदस्य

हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" के अनुसार नाविक (अव्यवसायात्मिका बुद्धि) की असावधानी से, जिस का एकमात्र कारण झञ्झावात (संस्कारासक्ति) है, नौका (शरीरस्वास्थ्य) और यात्री (भोक्तात्मा) दोनों विपत्ति में पड़ जाते हैं। संसार-सागर के यात्री भोक्तात्मा के स्वस्वरूप से सच्चिदानन्दलक्षण, नित्य शान्तैकरस ब्रह्म के अंश होने पर भी क्यों इसे शान्ति नहीं मिलती ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। एकमात्र नाविक की असावधानी ही इस अशान्ति का मूलकारण है। नाविक भी बेचारा क्या करे, जब कि, संसार-समुद्र में अहोरात्र इतस्ततः दोलायमान झञ्झावातों के झोंके इसके उन हाथों को अशक्त बनाते रहते हैं, जिस में नौका खेने के दण्ड रहते हैं। अशक्त नाविक कबतक झञ्झावात से अपने आप को बचाता रहे। इस की सब से बड़ी भूल तो यही होगई कि, इसने उस महासमुद्र के क्रोड़ में अपनी स्वल्पशक्ति का समतुलन किए बिना ही नौका छोड़दी। महासमुद्र में प्रवाहित झञ्झावातों से त्राण वही नाविक पा सकता है, जिस के हाथों में झञ्झावात से अधिक बल है। समुद्र को देखिए न। जिस आपूर्य्यमाण समुद्र के क्रोड़ में असंख्य जलचर इतस्ततः अनुधावन करते रहते हैं, झञ्झावात जिस से क्षणभर के लिए भी पृथक् नहीं होता, उस आपूर्य्यमाण समुद्र की महासमुद्र-स्थिरता में कभी बाधा उपस्थित नहीं होती, नहीं हो-सकती। क्यों ?, इसलिए कि वह आपूर्यमाण है, अतएव अचलप्रतिष्ठ है। इधर हमारा यह यात्री (जीवात्मा) अपने नाविक (बुद्धि) की उदासीनता से अपूर्णता--प्रवर्त्तक ऐन्द्रियक मानससंस्कारों की आसक्ति के पाश में बद्ध होकर उस समुद्र (महत्तत्त्व) के आपूर्य्यमाणधर्म्म से वञ्चित होरहा है। ऐसी दशा में यह अचल--प्रतिष्ठ रहे, तो कैसे रहे।

२९५-सफलतानुबन्धी सुख, असफलतानुबन्धी दुःख, तदनुप्राणित द्वन्द्वभाव, द्वन्द्वातीत उपास्य, द्वन्द्वभावाक्रान्त उपासक और उपासनाकाण्ड में महती विप्रतिप्रति, तथा तन्निराकरणोपाय प्रदर्शनात्मक एक लौकिक-उदाहरण का इतिवृत्तात्मक पावन संस्मरण—

हमें अपनी सफलता पर सुख मिलता है, एवं असफलता पर दुःख होता है। सुख-दुःखात्मक यह द्वन्द्व हमें सदा अशान्त बनाए रहता है। इस द्वन्द्व से त्राण प्राप्त करने के लिए विद्वत्ता, धनिकता, यौवनत्त्व, प्रभुत्व, आदि आदि सम्पूर्ण कृत्रिम साधन अन्ततोगत्त्वा व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। द्वन्द्वातीत ही द्वन्द्व से त्राण पाने का एकमात्र साधन है, जिस की प्राप्ति एकमात्र 'उपासना' तत्त्व के समाश्रय पर ही निर्भर है। 'अपनापन' खोदेना, अपने आप को भुलाकर उस द्वन्द्वातीत में मिला देना ही वास्तविक उपासना है। कहते है— "**स्वयम् को मिटा देने से ही ईश्वर प्राप्ति हो सकती है।**" लौकिकसुख-साधनों के विद्यमान रहने पर भी सर्वसाधारण प्रश्न किया करते हैं कि-'शान्ति का क्या उपाय ?, हमें शान्ति कैसे मिले ?'। अनुभव उत्तर देता है कि-'जबतक तुम तुम हो, तबतक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती। जन्मान्तरीण अशान्त संस्कारों से तुम्हारा गर्भाशय में आगमन हुआ, नित्य अशान्त गर्भाशय में चान्द्रसम्वत्सर पर्य्यन्त तुम्हारे (औपपातिक आत्मा के) ब्रह्मवेष्टन (भौतिक शरीर) का स्वरूप निर्म्माण हुआ, सम्वत्सरानन्तर एव-यायरुत् नामक गतिधर्म्मा-अशान्त प्रसव वायु के आघात से तुम भूमिष्ठ हुए, राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मोह की सजीवप्रतिमा (परिवार) ने तुम्हारा लालन पालन किया, युगधर्म्मानुसारिणी-कामभोगविषयैक-

परायणा शिक्षा ने तुम्हें शिक्षित मानने का अभिमान प्रदान किया, इसप्रकार अथ से इति पर्य्यन्त उपासना तो तुमने की अशान्ति की और प्रश्न करते हो कि–हमें शान्ति कैसे मिले ? । क्या यह तुम्हारी अनधिकारचेष्टा नहीं है ? विश्वास करो, जबतक तुम तुम बने रहोगे, तबतक कथमपि शान्ति नहीं मिल सकेगी । शान्ति तुम्हारा प्रातिस्विक धन नहीं है, अपितु उसकी मौलिक सम्पत्ति है । क्या वह माँगने से शान्ति प्रदान कर देगा ?, व्यवहारकुशल जहाँ उत्तर में 'हाँ' कहेगा, वहाँ सहजजीवन का मर्म्मज्ञ अपने ये उद्गार प्रकट करेगा कि, जबतक 'माँगने वाला' है, तबतक उस की प्राप्ति असम्भव है । माँगने वाला जबतक यह समझ रहा है कि, 'मैं माँग रहा हूँ'' तबतक उसने द्वन्द्वातीत का स्वरूप ही नहीं समझा । जिस से माँगना है, उस का स्वरूप ही जब माँगने वाला नहीं समझ रहा, तो वह माँगेगा किस से और क्या माँगेगा ? । बड़ी जटिल समस्या है–उनके लिए, जो बहुत बुद्धिमान् हैं, विद्वान् हैं, धनिक हैं, आडम्बर प्रिय हैं । धन्य है, वह मूर्ख ठाकुर, जिस ने भगवदनुग्रह से इस तत्त्व का अनुगमन किया, एवं अपने दोनों लोक सफल बनालिए । घटना ऐतिहासिक है, एवं करौलीराज्य में घटित होने वाली । साथ ही उपासनातत्त्व का सहजभाषा में स्पष्टीकरण करने वाली । अतएव उसे उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक, तथा अरुचिकर नहीं माना जाएगा ।

२६६–सहज श्रद्धा–परायण–'जो हुकुम' भक्त पुण्यश्लोक ठाकुर और उसका भक्त–प्रवर महात्मविशेष के साथ अनुग्राह्यानुग्राहक-सम्बन्ध—

कर्णाकर्णि परम्परया घटना इस प्रकार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—

करौली राज्य के किसी छोटे से ग्राम में एक चौहान–वंशज ठाकुर रहते थे । लोग कहते हैं—ठाकुर जब १२–१५ वर्ष के थे, तो उनके ग्राम में कहीं से एक महात्मा पधारे । किसी ने पुत्र माँगा, तो किसी ने धन–भूमि–ऐश्वर्य्य । बालबन्धु भाग्यशाली ठाकुर भी जन्मान्तरीय किसी बलवान् शुभ संस्कार की प्रेरणा से महात्मा के सन्निकट जा पहुँचे । **'जो हुकुम'** राजस्थानी प्रजा की स्वाभाविक भाषा है । विशेषत: क्षत्रिय समाज में इस का अधिक व्यवहार प्रचलित है । सहज जीवन के मर्म्मज्ञ ठाकुर महात्मा की प्रत्येक आज्ञा के उत्तर में 'जो हुकुम' का सम्पुट लगाते हुए अविलम्ब उसे कार्य्यरूप में परिणत कर देते । जबतक महात्मा ग्राम में रहे, तबतक ठाकुर की यह 'जो हुकुम' उपासना धारावाहिकरूप से चलती रही । जाते समय महात्मा ने ठाकुर को आशीर्वाद दिया कि, ठाकुर ! यह 'जो हुकुम' ही तुम्हें किसी दिन सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देगा । तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि, तुम्हारा प्रत्येक काम तुम्हारे हृदय में बैठे हुए ईश्वर के हुकुम से ही होता है । तुम्हारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम अपनी इस आध्यात्मिक ध्वनि को ही आज से 'जो हुकुम' मानते हुए तदनुसार ही चलते रहोगे' ।

२६७–महात्मानुग्रह से कृतकृत्य भक्तप्रवर ठाकुर की अनन्योपासनानिष्ठा का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तन्निबन्धन उपासनानुबन्धी एक विशेष तथ्य का रहस्यात्मक विश्लेषण—

महात्मा चले गए, ठाकुर के जीवन में अपूर्व परिवर्त्तन होगया । लोगों ने देखा कि–ठाकुर अपने आप से ही 'जो हुकुम' का सम्पुट लगाते हुए कुछ कहा करते हैं, एवं तदनुसार ही कुछ किया करते हैं । किसी

ने कहा-ठाकुर ब्याह करोगे ! ठाकुर समझे-जो हुकुम की मर्जी है । विवाह होगया । ठाकुर गृहस्थी बन गए । बाल बच्चे हुए, परिवारवृद्धि हुई । ठुकराइन चिन्तित होने लगी, आखिर यों कबतक काम चलेगा । अनुकूल अवसर देखकर ठाकुर से एक दिन कहने लगी-आप तो दिन रात 'जो हुकुम' की रट लगाए रहते हैं, कन्या बड़ी होती जारही है । यदि कोई नौकरी न करेंगे, तो कैसे काम चलेगा ! जो हुकुम के उपासक ठाकुर नौकरी की खोज में निकल पड़े । उसी जो हुकुम की मस्ती में मीलों निकल गए । अँधेरा होगया । शून्य जँगल । सामने एक ऊँचा सा ताड़-वृक्ष था । ठाकुर को ऐसा भान हुआ, मानो ये ही इस जङ्गल के राजा है । विनीतभाव से उसके समीप पहुँचे, 'जै श्रीजी की' कहते हुए अभिवादन कर डाला । ठाकुर ही प्रश्न कर्त्ता, ठाकुर ही उत्तर देने वाले । यों बातचीत का सिलसिला जारी हुआ । कहो ठाकुर ! अच्छे तो हो ? 'जो हुकुम' की मर्जी से सब आनन्द है ! कैसे आना हुआ ? । हुकुम ! नौकरी के लिए ! अच्छा, हमने तुम्हें रख लिया । जो हुकुम ! क्या काम करना पड़ेगा ? । ठाकुर ! जङ्गली जानवर हमें सतावें नहीं, यही तुम्हारी नौकरी है । प्रातः से सायं पर्य्यन्त तुम्हें पहरा देना पड़ेगा, बदले में ३०) मासिक वेतन मिलेगा । दूसरे दिन का निश्चय कर जो हुकुम कहते हुए ठाकुर लौट आए । ठकुराइन प्रसन्न होगई । भोर होते होते ठाकुर नियत स्थान पर जा पहुँचे । कूड़ा साफ किया, पानी छिड़का, चारों ओर एक घेरा बना डाला । तलवार लेकर पहिरा लगाना आरम्भ कर दिया । सायंकाल हुआ । जैश्रीजी की की और लौट आए । यों एक महीना पूरा होगया । महीने की अन्तिम तिथि पर ठाकुर वृक्ष के समीप हाथ जोड़ कर वेतन पाने की आशा से खड़े होगए । ठाकुर ! खड़े क्या हो, उठालो अपना वेतन । जो हुकुम कहते हुए ठाकुर ने वृक्षतल पर रक्खे हुए ३० रु० उठा लिए । ठाकुर का यह उपासना-क्रम-वर्षों चलता रहा । दरिद्री ठाकुर "जो हुकुम" के अनुग्रह से सम्पन्न बन गए । नियत वेतन के अतिरिक्त कन्याविवाहादि अन्य आवश्यक कार्य्यों के लिए भी वहीं से यथेच्छ साधन मिलते रहे ।

२६८-ठाकुर के श्रद्धात्मक वैभव से ईर्ष्या करने वालों का तत्कालीन करौली नरेश की मध्यस्थता से समाधान—

मूर्ख ठाकुर की इस विपुल-सम्पत्ति से ग्रामवासियों को द्रोह होने लगा । यह किंवदन्ती प्रचलित की गई कि, अवश्य ठाकुर का किसी डाकूमण्डली से गुप्त सम्पर्क है । करौली महाराज तक खबर पहुँच गई । ठाकुर बुलाए गए । ठाकुर ने सहज भाषा में सम्पूर्ण इतिहास कह सुनाया । राजा स्वयं वहाँ उपस्थित हुए । राजा ने परीक्षा की इच्छा प्रकट की । लोगों ने देखा कि, वृक्ष से आवाज निकल रही है × 'मैं प्रेत हूँ । ठाकुर अपने दृढ आत्मविश्वास के आधार पर वृक्ष को ही अपना उपास्य मान बैठे । मुझे विवश होकर ठाकुर की इच्छाएँ पूरी करनी पड़ी" ।

२६९-प्रासङ्गिक-इतिहास के व्याज से अनुप्राणित प्रक्रान्त-उपासनाकाण्डानुबन्धी एक विशेष तथ्य का स्वरूपोपबृंहण, एवं 'मत्'-'तत्' मूलक उपासनानुबन्धी सर्वार्पणरूप शरणागतिभाव का पावन-संस्मरण—

इतिहास पर सम्भव है, वर्त्तमानयुग विश्वास न करे । हमें तो इससे बतलाना केवल यही है कि, जो व्यक्ति अपने आपको भगवत्तत्त्व के अर्पण कर देता है, जिसे यह दृढ़ आत्मविश्वास होजाता है कि-

मैं जो कुछ करता–सुनता–देखता–खाता–पीता हूँ, सब हृदयस्थ अन्तर्य्यामी की ही प्रेरणा का फल है, तो वह कभी दुःखी नहीं रह सकता। ऐसे दृढ़ आत्मविश्वासी पर सांसारिक द्वन्द्व आक्रमण ही नहीं करेंगे, यह बात तो नहीं है। अवश्य ही प्रारब्ध कर्म्मानुसार इसे भी द्वन्द्वों से नित्य आक्रान्त रहना ही पड़ेगा। साधारण व्यक्ति, एवं इसकी स्थिति में अन्तर यही होगा कि, वह जहाँ इन द्वन्द्वाक्रमणों से अशान्त हो-पड़ेगा, वहाँ यह उस आपूर्यमाण ईश्वरतत्त्वसमाश्रय से अचलप्रतिष्ठित बना रहेगा। दुःख भी इसके लिए 'जोहुकुम' की मर्जी होगी, तो सुख भी उसी की मर्जी। न वह सुख में **'अहाहा'** करेगा, न दुःख में **'हाहा'** करेगा। नित्यविज्ञानघन हृद्य ईशतत्त्व के प्रति ज्यों ज्यों जीवतत्त्व सान्निध्य प्राप्त करता जायगा, त्यों त्यों उसके बल का इसमें समावेश होता जाएगा। एवं ज्यों ज्यों इसमें उसका बल समाविष्ट होता जाएगा, त्यों त्यों इसकी इच्छा में सत्यभाव उदित होते जाएँगे। परिणाम में इस चिरकालिक, साथ ही धारावाहिक उपासना के बल से 'यह' 'वह' बन जाएगा। उपासनातत्त्व की इसी सहज--परिभाषा का निम्नलिखित गीतावचनों से भी स्पष्टीकरण हुआ है।

१–ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गी०१८+६१।
२–यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ गी०९।२७।
३–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी०९.२२।

३००–'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' लक्षण-प्रसिद्ध सूत्र के–'नित्याभियुक्तानाम्' का रहस्यात्मक समन्वय–प्रयास—

'नित्याभियुक्तानाम्' वाक्य के सम्बन्ध में किञ्चिदिव विशेष वक्तव्य है। सनातनधर्म्मावलम्बियों की संख्या करते हुए बड़े अभिमान से करोड़ों की गणना करली जाती है। कहने भर के लिए सभी ईश्वरवादी हैं। यह भी कहते सुना गया है कि, सब कुछ भगवान् के ही द्वारा सञ्चालित है। क्या आस्तिक प्रजा के इस कथन में वास्तव में कुछ तथ्य है? यदि हाँ, तो फिर अशान्ति कैसी? योगक्षेम के लिए अहोरात्र यह त्राहि त्राहि क्यों? कहना और मानना पड़ेगा कि, हम अभ्यस्त व्यावहारिक जगत् की भाँति परमात्मतत्त्व के साथ भी सट्टा खेलने के आदी बन गए हैं, अथवा बनते जारहे हैं। ईश्वर आज हमारी कुत्सित प्रवृत्तियों का रक्षासाधक बनाया जारहा है। भारतीय आस्तिक प्रजा का यह दुर्भाग्य है कि, जहाँ एक ओर वह दिन दिन व्यवहारकुशल बनती जारही है, वहाँ दूसरी ओर दिन दिन आत्मविश्वास भी खोती जारही है। निःसीम बुद्धिमानी ने प्राकृतिक जीवन के विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया है। कहने को हम कट्टर सनातनधर्म्मी हैं, अपनी इस कट्टरता के प्रदर्शन के लिए व्रतोपवास भी करते हैं, तिलक लगाते है, हरिनाम-संकीर्त्तन में व्यस्त रहते हैं। परन्तु यथार्थ में हम वास्तविक ईश्वराश्रय से कोसों दूर निकल चुके हैं। तभी तो संसार का एक सामान्य सा भी आक्रमण हमें विचलित कर देता है।

३०१–उदाहरणविध्यात्मक महायुद्ध और ईश्वरास्था के प्रति डिण्डिमघोष करने वाले हम भारतीयों की पुरुषता का नग्नचित्रण, एवं तन्निबन्धन–व्याज–धर्म्माचरण–

उदाहरण के लिए वर्त्तमान * महायुद्ध को ही लीजिए। जिन्हें हम नास्तिक कहते हैं, वे आज प्राणों की बाजी लगा रहे हैं। और आत्मनियन्त्रण का प्रथम आविष्कारक भारत आज संत्रस्त है। क्या होगा, क्या करेंगे, सभी आस्तिक इस द्वन्द्व से भयत्रस्त हैं। क्यों? इसलिए कि, उनकी ईश्वराभियुक्ति नित्य नहीं है। स्वार्थसाधनमात्र में ईश्वर का गुणानुवाद करनेवाले भी क्या कभी भय से त्राण पाया करते हैं? असम्भव। सच्चे आस्तिक के लिए, नित्य अभियुक्त के लिए ही संसार-अभयस्थान है। कोई आपत्ति आई, तो लगे भगवान् को याद करने। सम्पत्ति के विकास का अवसर आया, तो समझने लगे अपने आपको बुद्धिमान्। भगवान् कहते हैं, जो नित्य अभियुक्त हैं, अनन्योपासक हैं, सदा सर्वदा उक्त 'जो हुकुम' पर अनन्यनिष्ठा रखते हैं, वैसे नित्याभियुक्तों के ही योगक्षेम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। यथार्थ है। जनसाधारण को धोका दिया जासकता है, परन्तु अन्तर्यामी से व्याजक्रीड़ा करना सर्वनाश को ही निमन्त्रण देना है। व्याजधर्म्मानुगत एक आस्तिक की तुलना में तो वह नास्तिक ही कहीं श्रेष्ठ माना जाएगा, जो ईश्वर के नाम से दूसरों को धोका तो नहीं देता।

३०२–स्वार्थसंसाधन के लिए अपेक्षित हमारा भगवान् और हमारी उपासना का नग्नचित्रण, एवं 'शरणागति' के वास्तविक मर्म्म का पावन-संस्मरण—

अपने स्वार्थ के लिए भगवान् का आश्रय लेना और व्यवहारजगत् में अपनी कुशलता का बखान करना ही तो उपासना का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक है। ऐसी उपासना नाममात्र की उपासना है, एकतोभावानुगति है। जबतक सर्वतोभावेन आत्मार्पण नहीं होजाता, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती। सदसन्मनोभावों के सर्वतोभावेन आत्मार्पण से ही ममत्व का निराकरण सम्भव है, एवं तभी हमें शान्ति मिल सकती है। उपासना के इसी शरणागतिलक्षण सर्वतोभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।गी०१८।६२।

३०३–कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–उपासना–योग–आदि से अनुप्राणित तत्त्व–ज्ञान की उच्चभूमिकाओं के स्पष्टीकरणानन्तर अस्मदादि सामान्य–मानववर्ग की परिभाषा के लिए परमकारुणिक भगवान् के द्वारा शरणागतिरूप महान् भक्तिपथ का आविर्भावानुग्रह, एवं तदन्निबन्धन–उपासनास्वरूप–समन्वय—

कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-उपासना-योग-आदि के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान की उच्चभूमिकाओं का स्पष्टीकरण करने के अनन्तर परमकारुणिक भगवान् ने अस्मदादि अयोग्य मानवों के अभ्युदय के लिए यही पन्था

*** प्रस्तुत भक्तियोगपरीक्षाखण्ड महायुद्धसमय में ही ग्रन्थरूप से समन्वित हुआ था।**

श्रेय: पन्था माना है, साथ ही इसे अपना गुप्ततम-मत कहा है। मान लीजिए, हम अयोग्यता के कारण अथवा तो परिस्थिति के कारण शास्त्रों में बतलाए गए कर्म्म-ज्ञानादि का यथावत् आचरण करने में असमर्थ हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय सम्भव नहीं है ? भगवान् कहते हैं निराश लौटने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम अपने जीवन के अच्छे, बुरे, पाप पुण्य, सब द्वन्द्वों से अपना ममत्त्व हटाने का अभ्यास करते जाओ, साथ ही यह भावना करते जाओ कि, किसी अचिन्त्यशक्ति की प्रेरणा से विवश होकर हमें यह सब कुछ अच्छा बुरा करना पड़ रहा है। तुम्हारे प्रत्येक कार्य्य में-**'वह कर रहा है, वही कर रहा है'** इस तद्भावना का ही समावेश रहना चाहिए। तुम **'उन्मना'** मत बनो, **'मन्मना'** मनो। तुम **संसारभक्त** मत बनो, **मद्भक्त** बनो। तुम यह सत्य समझो कि, **'जो हुकुम'** के इस अभ्यास से अवश्य ही कालान्तर में **तत्** को प्राप्त कर लोगे। सचमुच शान्ति के लिए इससे अन्य ऋजु-उपाय का मिलना कठिन है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, ज्यों ज्यों मन्मनोभाव दृढमूल बनता जाएगा, त्यों त्यों असत्-कर्म्मप्रवृत्ति का स्वत एव निराकरण होता जाएगा। अभ्यासवश जिस दिन आवरण (राग-द्वेषादि पञ्चक्लेश) की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाएगी, द्वन्द्व का एकान्ततः उच्छेद होजाएगा और इसप्रकार **'जो हुकुम'** का अनुगामी एक मूर्ख भी उस अव्ययधाम को सहज ही में प्राप्त कर लेगा, जिसे योगी गण अतिशय-काय—क्लेश से प्राप्त किया करते हैं। मार्ग सहज, लक्ष्य समान, यही तो इस मन्मनोभाव का **सर्वगुह्यतमत्त्व**, अतएव सर्वश्रेष्ठत्त्व है।

३०४–सहज–भक्तिनिबन्धन–लोकोपकारक उपासना के रहस्यात्मक–स्वरूप का समन्वयात्मक निष्कर्ष, एवं प्रक्रान्त–'उपासनास्वरूप–निर्वचन' नामक प्रथम–प्रकरण का उपराम—

निष्कर्ष निवेदन करने का यही हुआ कि, अध्यात्मसंस्था में **परमात्मा, जीवात्मा,** नाम दो विवर्त्त हैं। अविद्यावरणवश जीवात्मा सच्चिदानन्दैकरस-परमात्मानुग्रह से वञ्चित होरहा है। परमात्मानुगति-वञ्चित, साथ ही मनोऽनुगत ऐन्द्रियक प्रपञ्चरत जीवात्मा स्व–कर्म्मप्रवृत्ति में अहन्ता को मुख्य मानता हुआ नित्य अशान्त बना रहता है। मध्यस्थ आवरण से जीवात्मा का **ईश्वर–उप आसन** खण्डित होरहा है। बतलाए गए, तथा अगले परिच्छेदों में बतलाए जाने वाले जिन प्रकार–विशेषों से आवरणभङ्ग द्वारा जीव परमात्मतत्त्व के उप (समीप) **आसीन होजाता है** ताच्छब्द्य न्याय से वे उपाय ही **उपासना–साधक बनते** हुए 'उपासना' नाम से व्यवहृत हुए हैं। शास्त्रप्रतिपादित उपायों में से **'जो हुकुम'** रूप जिस आत्मप्रतिपत्ति, किंवा शरणागतिरूप उपाय का सहज भाषा में दिग्दर्शन कराया गया है, वही सामान्य–अधिकारियों के लिए सुगम पथ है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय हुआ है, एवं जो अभिनय प्रक्रान्त **'उपासनास्वरूप'** निर्वचन प्रकरण की आधारशिला है—

१–सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८।६४।
२–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८।६५।
३–सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥१८।६।६६।
४–य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥१८।७८।

इति–भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे
'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'--नामकं
प्रथमं प्रकरणमुपरतम्

१

——-**——

इति–भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे

'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'

नामकं

प्रथमं–प्रकरणमुपरतम्

१

---*---

श्री

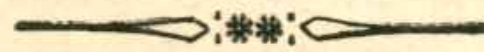
अथ–भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे

"उपासना-लक्षण-निर्वचनम्"

नामकं

द्वितीय–प्रकरणम्

२



श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरकाण्डे

"उपासना--लक्षणनिर्वचनम्"

नामक

द्वितीयम् प्रकरणम्

२

१–संस्कृत–शब्दों की निरूढता और 'उपासनाशब्द' के सम्बन्ध में योगरूढता, तथा निरूढता के अनुबन्धन से महती विप्रत्ति, तन्निराकरण प्रयास एवं उपासनात्त्वानुबन्धी महद्गर्भित चिदंश का आध्यात्मिक–ईश्वरत्त्व और तदनुप्राणित जीवका 'अप्यय' भाव—

यद्यपि पङ्कज शब्द की भाँति 'उपासना' शब्द भी वर्त्तमान–व्यवहारभाषा में केवल ईश्वरशक्ति में ही निरूढ देखा सुना जाता है, तथापि वैज्ञानिक–निर्वचन के अनुसार यथायावत् शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी ज्ञान--कर्म्म–भक्ति--भावों के साथ 'उपासना' शब्द की व्याप्ति माननी पड़ती है, जैसाकि अनुपद में ही उद्धृत होने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होजाएगा। प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का परमात्मा (हृदयस्थ अन्तर्यामी) के साथ योग होजाना ही जीवात्मा का परमपुरुषार्थ है। वह योग ज्ञान–उपासना–कर्म्म--भेद से तीन प्रकार का है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में योगत्रयी–परिच्छेद में विस्तार में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उपासना–तत्त्व की मीमांसा करते हुए उसी प्रकरण के 'महदात्मानुगत–उपासनास्वरूपमीमांसा' नामक सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, महानात्मा में ही ईश्वरीय चिदंश प्रतिबिम्बित होता है। यही महद्गर्भित चिदंश आध्यात्मिक ईश्वरतत्त्व है। इस आध्यात्मिक ईश्वरतत्त्व से सर्वव्यापक आधिदैविक ईश्वर तत्त्व अभिन्न है। फलतः जीवात्मा का आवरणभङ्ग के द्वारा जिस दिन आध्यात्मिक महदवच्छिन्न ईश्वर-तत्त्व से सम्बन्ध होजाता है, तत्क्षण ही इसका उस व्यापक में भी अप्यय होजाता।

२–ज्ञान–उपासना–कर्म्म–त्रयी के विभिन्न मूलाधारों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय, एवम् उपासनातत्त्वमूलाधारभूत–प्रत्यगात्मसंस्मरणपूर्वक 'उपासनालक्षणनिर्व-चन' नामक द्वितीय प्रकरण की उपक्रान्ति–

विषय–समन्वय की दृष्टि से यों कहा जासकता है कि, सच्चिदानन्दघन एक ही आत्मतत्त्व अपने अव्यय, अक्षर, क्षर रूप से ज्ञान-उपासना-कर्म्म-योगों की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। विज्ञानानुगत प्रज्ञान मन क्षर-प्रधान बनता हुआ कर्म्मयोग का प्रवर्त्तक है, अव्यक्तगर्भित महानात्मा उपासना की प्रतिष्ठा है, एवं अव्य-क्तात्मा ज्ञानयोग का उपक्रम है। आगे जाकर आध्यात्मिक आत्मपञ्चक की अपेक्षा से इस योगत्रयी के पाँच विवर्त्त होजाते हैं, जिनका पूर्वप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। वहाँ उपासनातत्त्व के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि, प्रत्यगात्मा का महदात्मानुगत चिदंश से योग होजाना ही उपासना–योग है, यही उपासना कर्म्म का चरम फल है। और इस स्पष्टीकरण के साथ साथ ही यह भी सिद्ध होजाता हैं कि, उपासना शब्द अपने यौगिकार्थ से सर्वत्र व्याप्ति रखता हुआ भी प्रकरणानुगत भक्तिमार्गापेक्षया केवल ईश्वरानुरक्ति में ही पङ्कजवत् निरूढ है। अब इस सम्बन्ध में विजिज्ञास्य यही है कि, प्राचीन आचार्य्यों ने उपासना के क्या लक्षण किए हैं, एवं उन का परस्पर कैसे समन्वय सम्भव है ? इस प्रश्न–समाधि के लिए उपासनातत्त्व–स्वरूप–निर्वचनानन्तर प्रस्तुत **'उपासनालक्षणनिर्वचनप्रकरण'** उपक्रान्त होरहा है।

३–कर्म्मकाण्डप्रतिपादक वेद का 'विधिभाग' और तत्र पठित 'उपासना' शब्दों का कर्म्मयोगानुबन्धत्त्व, तथा तदनुप्राणिता उपासनापथानुमता भक्ति के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति—

कर्म्मकाण्डप्रतिपादक वेद के विधिभाग में, उपासनाकाण्डप्रतिपादक आरण्यभाग में, एवं ज्ञान-काण्डप्रतिपादक–उपनिषद् भाग में–तीनों में–'उपासना' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। उदाहरण के लिए–**'तस्मादुपर्य्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते'** (शत० १।३।१।१५) **'अग्निं पश्चात् प्राञ्चमुद्धृत्योपासते'** (शत० ३।२।३।१६)–**"तं (ग्रहपात्रं) धारयन्त एवोपासते"** (शत० ४।५।६।३) 'न श्वः श्वउपासीत' (शत० २।८।२।३)–**"आवसथेनोपक्लप्तेनोपासीत"** (शत० ३।६।२।७।)–**"जाग्रद्धयेवाध्वर्यु रुपासीत"** (शत० ३।६।३।११)–**'दिशोऽस्मात् पूर्वा–इत्यु-पासीत'** (शत० १०।३।५।११)—इत्यादि ब्राह्मणवचनों में पठित उपासना शब्द कर्म्मयोग से ही सम्बन्ध रख रहा है। ईश्वरपरानुरक्तिलक्षणा उपासना के अभिप्राय से उक्त ब्राह्मणवचनों में पठित–'उपासते'–'उपासीत' इत्यादि उपासनाशब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मणोक्त उपासना शब्द 'प्रतीक्षा' 'आशा' आदि भावों के ही समर्थक बन रहे हैं, जिन भावों का भक्तिलक्षणा उपासना से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होरहा।

४–आरण्यकभाग और तत्र पठित उपासनाशब्दों का सोदाहरण-संस्मरण—

एवमेव आरण्यक में पठित उपासना शब्द भी उपासना के निरूढभाव का समर्थन नहीं कर रहे। उदाहरण के लिए—'उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते, हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयः' (ऐ० आ० २।१।४)-सोम एकेभ्यः पवते, घृतमेक उपासते' (तै० आ० ६।३।२)-'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' [तै० आ० ८।५।१।] 'यदक्षरं भूतकृतं विश्वे देवा उपासते' [तै० आ० १।६।६] इत्यादि आरण्यक वचन ही पर्य्याप्त होंगे। इन वचनों में पठित 'उपासना' शब्द भी ईश्वरानुरक्ति के समर्थक न बनकर उदर, हृदय, घृत, अक्षर, आदि की उपासना के ही समर्थक बन रहे हैं। फलतः आरण्यकीय वचनों के आधार पर भी उपासना शब्द की निरुढ़ता का समर्थन नहीं किया जासकता।

५–उपनिषद्भाग, तदनुबन्धी ज्ञानयोग, एवं तत्र पठित्र 'उपासना' शब्दों का संस्मरण—

यही स्थिति उपनिषत् में पठित उपासना शब्दों के सम्बन्ध में घटित होरही है, जैसाकि उद्धृत नलिखित कतिपय वचनों में स्पष्ट होरहा है।

१–"ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छां० उप० १।२।२।)

२–"य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत" (छां० उ० १।२।१।)

३–"व्यानमेवोद्गीथमुपासीत" (छां० उ० १।३।३।)

४–"पञ्चविधं सामोपासीत" (छां० उ० २।२।१।)

५–"श्रीश्च यशश्चेत्युपासीत" (छां० उप० ३।१८।२।)

६–"अरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" (छां० उप० ५।१०।१।)

७–"येऽन्नं ब्रह्मोपासते" (तै० उ० २।२।१।)

८–"उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः" (कुण्ड० उप० ३।२।१)

६–विधि- आरण्यक- उपनिषत्–भागानुबन्धी उपासना शब्दों के द्वारा सर्वसाधारणानुगत-तात्पर्य्य-ग्रहण के प्रति विषमसमस्योपस्थान—

उक्त वचनों में से आरम्भ के ७ वचन क्रमशः प्राण, सूर्य्य, व्यान, साम, श्री, यश, श्रद्धा, तप, अन्न, इन लौकिक भावों की उपासना का समर्थन कर रहे हैं। अन्तिम वचन 'अकामाः' रूप से 'ज्ञानयोग' का समर्थक बन रहा है। फलतः उपनिषदों में पठित उपासना शब्द भी उपासना के निरुढभाव का समर्थक नहीं माना जासकता। इसप्रकार विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से भागत्रय में विभक्त कर्म्म-उपासना-ज्ञानकाण्ड-प्रतिपादक भेद के ब्राह्मणभाग में यत्र तत्र पठित उपासना शब्द कर्म्म-उपासना-ज्ञान, तीनों के समर्थक बनते हुए अपनी व्यापक मर्य्यादा का ही समर्थन कर रहे हैं। वेद के इस भागत्रयात्मक ब्राह्मणभाग

से सम्बन्ध रखने वाले उपासना शब्द से कथमपि उपासना का इष्टदेवता-ध्यानलक्षण वह यौगिकार्थ संगृहीत नहीं होरहा, जैसाकि, आज सर्वसाधारण ने उपासना का तात्पर्य्य मान रक्खा है।

७–मूलसंहिता में पठित उपासनाशब्दों का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

अब चलिए वेद के मन्त्रभाग की ओर। जिसप्रकार ब्राह्मणभाग में विधि–आरण्यक–उपनिषत्–भेद से कर्म्म--उपासना--ज्ञान, इन तीन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है, एवं तीनों के साथ उपासना--शब्द समानरूप से सम्बद्ध है, एवमेव वेद के ऋक्--यजुः--साम--अथर्वसंहितात्मक मन्त्रभाग में प्रधानरूप से विज्ञान–स्तुति–इतिहास, इन तीन काण्डों का विश्लेषण हुआ है एवं तीनों काण्डों में पठित–उपलब्ध–उपासना शब्द भी ब्राह्मणभागवत् अपनी व्यापकता का परिचय देते हुए उपासनाशब्द के निरूढभाव का ही समर्थन कर रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होरहा है—

१–पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।
ऊर्ज पृथिव्या भक्तायोरुगायमुपासते॥

—ऋक् सं० १०।१०९।७।

२–य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुःसं० २५।१३।

३–ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते उतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु॥

—यजुःसं० २५।३५।

४–ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।
वन्वानासः सुवीर्य्यम्॥

—सामसं० पू० २।२।९।१।

५–दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण।
स्तुहि देवं सवितारम्॥

—सामसं० पू० २।२।९।३।

८-उपासनाशब्द के सम्बन्ध में-'य आत्मदा बलदा' का संस्मरण, एवम् अर्वाचीन साहित्यानुबन्ध से उपासना शब्द के दृष्टिकोण का सोदाहरण संस्मरण—

उक्त मन्त्रों में पठित उपासना शब्द भी हमारी उस धारणा का समर्थन नहीं कर रहे, जिस धारणा को हम अपने उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा मानते आरहे हैं। केवल 'य आत्मदा बलदा०' मन्त्र में पठित उपासना शब्द ही यथाकथञ्चित् उपासनाकाण्डानुगता धारणा का समर्थक बन रहा है। शेष उपासना शब्द विज्ञान-स्तुति-इतिहास-मर्य्यादाओं के ही उपोद्बलक बन रहे हैं। इसप्रकार भारतीय प्राच्यसाहित्य के मूलाधारभूत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के आधार पर उपासना का कोई वैसा लक्षण बना डालना, जिसका कि उपासना के यौगिक अर्थ के साथ समन्वय होजाय, कठिन ही प्रतीत होरहा है। अर्वाचीन साहित्य में भी उपासना शब्द के सम्बन्ध में कुछ एक ऐसी ही विप्रतिपत्तियाँ उपलब्ध होरही हैं। क्षत्रियवीरों का बाणशिक्षाभ्यास ही उनकी उपासना है। इसप्रकार निम्नलिखित रूप से शराभ्यास के लिए भी उपासना शब्द प्रयुक्त हुआ है—

नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने॥

—वा० रा० २।६७।२१।

९-उपासनाशब्द की यौगिकता तन्निबन्धन विभिन्न वचन, एवं समस्या-समन्वयात्मक तथ्य का उपक्रम—

"मङ्गल्योपासनं शस्तं वृद्धिदं व्यसनापहम्" (चक्रपाणि) इत्यादि रूप से माङ्गलिक कार्य्यों का अनुगमन भी उपासनामर्य्यादा में अन्तर्भूत होरहा है। 'उपासनानि शाण्डिल्यविद्यादीनि' (वेदान्तसार) इत्यादिरूप से ज्ञानयोगात्मिका शाण्डिल्यविद्या भी उपासना मानी जारही है। **'शराभ्यास उपासनम्'** (अमरः) **"शुश्रूषायां शराभ्यासेऽपि'** (हैमः) **"वरिवस्या तु शुश्रूषाया परिचर्य्याप्युपासना"** इत्यादिरूप से शराभ्यास, सेवा, इत्यादि लौकिक-भावों से सम्बन्ध रखने वाले उपासना-शब्द को केवल ईश्वरानुरक्ति में ही सीमित नहीं किया जासकता। निवेदन का निष्कर्ष यही निकला कि, उपासना शब्द सर्वथा यौगिक है, जिसका लौकिक-वैदिक कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-विज्ञान-स्तुति-इतिहास, आदि सभी भावों के साथ सम्बन्ध माना जासकता है। ऐसी दशा में निरूपणीया भक्तिलक्षणा उपासना के किसी ऐसे लक्षण की जिज्ञासा का उदित होना स्वाभाविक होजाता है कि, उपासना का वह कौनसा लक्षण है, जिस लक्षण के आधार पर हम लक्ष्यीभूत भक्तिमार्ग का समर्थन प्राप्त कर सकें? इसी लक्षणजिज्ञासा के उपशम के लिए भारतीय आचार्य्यों के द्वारा सम्मत कुछ एक लक्षण उपासना-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किये जारहे हैं।

१०-उपासनात्मक प्रक्रान्त भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा सर्वाराध्य गीताशास्त्र, तद्द्वारा निर्णीत-एकमात्र उपास्य 'श्रीकृष्णतत्त्व', अनुपाख्य-अनिर्वचनीय कृष्णतत्त्व की वेदादिपुरुषता, एवं तत्समर्थक कतिपय गीतावचन—

हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, प्रतिपाद्य उपासनायोग, किंवा भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा गीताशास्त्र है। दूसरे शब्दों में हमें प्रधानरूप से गीता-प्रतिपादित भक्तियोग का ही विश्लेषण करना है। गीता-

शास्त्र के भक्तिमार्ग से सम्बन्ध रखने वाले उपास्यदेव एकमात्र 'श्रीकृष्ण' हैं। फलतः कृष्णतत्त्व के वैज्ञानिक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही हमें प्रतिपाद्य विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'आचार्य्यपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है, गीता–पठित अहम्-मम-मयि-मत्तः-मत्-आदि अस्मच्छब्दवाच्य कृष्णतत्त्व क्षराक्षरातीत अनुपाख्य-अनिर्वचनीय-लक्षण अव्ययतत्त्व ही है, वही वैज्ञानिक श्रीकृष्ण है, जो अद्वैतशास्त्र (वेदान्तशास्त्र) में 'वेदान्तपुरुष' नाम से, पुराणशास्त्र में 'पुराणपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका धर्म्मग्लानि-उपशम के लिए समय समय पर प्रकृति के द्वारा मानवादि शरीरों में अंशावतार हुआ करता है, वही तत्त्व गीताशास्त्र का उपास्यतत्त्व है, एवं यही गीताप्रतिपादित उपासनायोग की मूलप्रतिष्ठा है। एवंविध (तत्त्वात्मक) वैज्ञानिक श्रीकृष्ण की उपासना के तात्त्विक स्वरूप का निम्नलिखित गीताशब्दों में ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है––

१–सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥ १८।६६।
२–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८।६५
३–तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ १८।६२
४–मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्त्वमरतिर्जनसंसदि॥ १३।१०।
५–मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३।३०।
६–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतातेमे युक्ततमा मताः॥ १२।२।
७–मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२।८।
८–मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १४।२६।
९–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९।२२

१०-अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८।१४।
११-ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२।२०।

११-साम्प्रदायिक-दृष्टिकोण के सम्बन्ध में जिज्ञासा, एवं तत्समाधानप्रयास, एवं तत्-सम्बन्धे-'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' का संस्मरण—

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुसार उपासनातत्त्व-प्रतिपादक उक्त गीतावचनों का क्या तात्पर्य्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि, लोकसंग्रह-न्याय से उन सभी साम्प्रदायिक भावों का समादर करना उचित प्रतीत होता है। साम्प्रदायिक-भावानुगता आस्तिक प्रजा की दृष्टि में **'श्रीकृष्ण'** शब्द से मानवशरीरधारी नन्दनन्दन कृष्ण का ही ग्रहण हुआ है। इन की प्रतिमा बना कर षोडशोपचारादि यथाशास्त्र अर्च्चन-पूजन-नामसंस्मरण करते रहना ही इस दृष्टिकोण का उपासनातत्त्व है। और अवश्य ही वैज्ञानिक श्रीकृष्ण के अव्ययात्मक स्वरूप तक न पहुंचने वाले सामान्य अधिकारियों के अभ्युदय के दृष्टिकोण से साम्प्रदायिक व्याख्याताओं का गीता के उपासनातत्त्व का एवविध विश्लेषण भी आदरणीय माना जासकता है। यद्यपि मूलभाष्य में उक्त सभी श्लोकों का यथापूर्व समन्वय होने वाला है, तथापि प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में यहाँ भी इस सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना अनावश्यक नहीं माना जाएगा। सर्व प्रथम **'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य'** को ही लक्ष्य बनाइए !

१२-गीता-व्याख्यातृ-मूर्द्धन्य सर्वश्री शङ्कराचार्य्य का दृष्टिकोण, तदनुप्राणिता सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणा अद्वैतनिष्ठा, एवं तद्रूपा कर्म्मत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा, तथा श्रीशङ्करभक्त विभिन्न व्याख्याताओं का नाम-संस्मरण—

व्याख्यातृमूर्द्धन्य सर्वश्री शङ्कराचार्य ने धर्म्म शब्द से विद्यासमुचित यज्ञ-तपो-दान-कर्म्म, विद्यानिरपेक्ष इष्ट तापूर्त-दत्तकर्म्म, लौकिक अन्य सत्कर्म्म, दुष्कर्म्म, आदि यचयावत् कर्म्मों का संग्रह करते हुए अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि--"यहाँ धर्म्म शब्द अधर्म्म का भी संग्राहक है। **'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य'** का अर्थ है--धर्म्म-अधर्म्मात्मक यचयावत् कर्म्मों का सर्वथा परित्याग। सब कर्म्मों का परित्याग कर-मुझ से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह भावना रक्खो, यही इस शरणागति का तात्पर्य्य है। इस स्वात्मप्रकाशलक्षणा अद्वैतभावना से तुम सब बन्धनों से विमुक्त हो जाओगे"। इस प्रकार धर्म्म शब्द से लौकिक-वैदिक कर्म्मों का संग्रह करते हुए आचार्य्य ने लक्ष्यीभूता कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञानयोगनिष्ठा का ही समर्थन किया है। शाङ्करव्याख्यानुगत आनन्दगिरि, नीलकण्ठ, मधुसूदनसरस्वती, भाष्योत्कर्षदीपिकाकार, आदि व्याख्याताओं ने भी धर्म्मत्याग से कर्म्मत्याग को ही लक्ष्य बनाया है।

१३-'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' का संस्मरण, कर्म्मत्यागात्मात्मिका सांख्यनिष्ठा के अधिकार से वञ्चित अर्जुन, एवं तत्सम्बन्ध में श्रीशङ्करभक्त आनन्दगिरिमहाभाग—

प्रश्न हमारे सामने यह है, कि गीतोपदेष्टा जिन भगवान् की दृष्टि में शास्त्रविहित कर्म्म आवश्यक बन रहे हैं, जो-'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य" (गीता १६।२३।) इत्यादिरूप से शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान को ही सुख-और परागति का अन्यतम कारण मान रहे हैं, जिनके उपदेश का प्रधान पात्र वह अर्जुन है, जो शास्त्रविहित क्षात्रधर्म्म [युद्धकर्म्म] से विमुख होने जारहा है, उन भगवान् का ऐसे पात्र के प्रति कर्म्मत्याग का उपदेश करडालना कैसे सम्भव होसकता है । व्याख्याताओं के सामने भी यह विप्रतिपत्ति उपस्थित हुई है । परन्तु उन्होंने यह कह कर कि—"यद्यपि क्षत्रिय अर्जुन का इस कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा में मुख्याधिकार नहीं है, तथापि अर्जुन के व्याज से भगवान् ने ब्राह्मणादि मुख्याधिकारियों के निःश्रेयस के लिए ही इस सांख्यनिष्ठा का उपदेश दिया है । (आनन्दगिरिव्याख्या)

१४-गीता का सुप्रसिद्ध-'अस्मच्छब्द', कृष्णतत्त्वानुबन्धिनी शरणागति, नवधाभक्ति का उल्लेख, प्रतिमोपासना का प्रतिरूपोपासनात्त्व, एवं आत्मनिष्ठ उपासक की प्रतिमाभक्ति का माङ्गलिक संस्मरण—

उक्त व्याख्याओं के सम्बन्ध में यहाँ समालोचना-प्रसङ्ग उठाना व्यर्थ है । स्वयं मूलभाष्य पर ही ऐसी समालोचनाओं का उत्तरदायित्व है । यहाँ तो इन व्याख्या-दिग्दर्शनों से हमें यही स्पष्ट करना है कि, प्राचीनव्याख्याताओं के मतानुसार भी **'मामेकं शरणं व्रज'-'अहं त्वा'** इत्यादि अस्मच्छब्द केवल आत्मतत्त्व का ही वाचक है । आत्मा की शरणागति, उस आत्मा की शरणागति, जो अखण्ड है-अद्वय है-सर्वोपाधिविनिर्मुक्त है-ही व्याख्याताओं के द्वारा अभिमत है । वासुदेव श्रीकृष्ण योगमायाश्रित होने से सोपाधिक हैं । फलतः इनकी शरणागति का, इनके नामसंकीर्त्तन का, इनकी प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखने वाली नवधा-विभक्त साम्प्रदायिक वैष्णवभक्ति का प्रस्तुत गीतावचन से समर्थन नहीं किया जासकता । वैज्ञानिक व्याख्याताओं की दृष्टि में प्रस्तुत वचन उस कृष्णतत्त्व की शरणागति का ही विश्लेषण कर रहा है, जो-**'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** के अनुसार प्रत्येक प्राणी के हृदय में-**'साक्षीचेता केवलोनिर्गुणश्च'** रूप से प्रतिष्ठित है, जिसे अक्षर के अविनाभाव सम्बन्ध से 'अन्तर्य्यामी' भी कहा गया है । हाँ, जो मन्दाधिकारी हृदयस्थ इस आत्मतत्त्व को, अनुपाख्य कृष्णतत्त्व को समझने में असमर्थ हैं, उन्हें प्रारम्भिक अभ्यास के लिए मानुषभावोपेत अवतार-गुरु-प्रतिमा आदि माध्यमों का ही आश्रय लेना पड़ेगा । एवं इसी प्रारम्भिक दृष्टिकोण के आधार पर साम्प्रदायिक नवधाभक्ति का भी समर्थन किया जासकेगा । साथ ही उक्त मन्दाधिकारी अभ्यासवश जिस दिन उच्चभूमिका में पहुँच जाएगा, उस दिन-**'यत्रत्त्वस्य सर्वमात्मेवाभूत्'** न्याय से लोकसंग्रहदृष्टि से सभी उपासना-मार्गों का समर्थन करेगा, स्वयं भी आत्मचर्वणावत् प्रतिमाओं में भी उसी आत्मभाव का साक्षात्कार करेगा । यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ा कि, आज कितने एक बुद्धिमान् **'प्रतिमोपासना'** के सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किया

करते हैं कि, प्रतिमा साधनमात्र है, सिद्धावस्था में पहुंचे बाद उसका कोई महत्त्व नहीं रहजाता। उनके ऐसे विचार भ्रान्तिपूर्ण हैं। सिद्धावस्था में तो यह भावना और भी दृढ़ होजाती है। देवासुरसम्पत्ति के तत्त्वज्ञ सिद्धों की दृष्टि में देवप्राणात्मिका प्रतिमाओं के प्रति अनन्यनिष्ठा देखी सुनी गई है। उस दशा में तो उनकी आत्मनिष्ठा के लिए प्रतिमा प्रतिरूपोपासना बन जाया करती है, जिसका कि अनुपद में ही सोदाहरण स्पष्टीकरण होने वाला है।

१५–'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'--मूलक उपास्य ईश्वरात्मक साक्षी सुपर्ण, एवं उपासक जीवात्मक भोक्तासुपर्ण, तथा शरीरभाव और ईश्वर-जीव-जगत्-त्रयी, तथा तदनुबन्ध से–'सर्वधर्म्मान्' इत्यादि का समन्वय प्रयास—

हाँ, तो प्रस्तुत विषय पर दृष्टि डालिए। अध्यात्मसंस्था में—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार ईश्वर–जीव–ये दो विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। दोनों के अतिरिक्त अव्यक्त, महान्, विज्ञान (बुद्धि) प्रज्ञान (मन), इन्द्रियवर्ग, पाञ्चभौतिक शरीर इत्यादि की समष्टिरूप तीसरा विवर्त्त और है। ईश्वरतत्त्व आध्यात्मिक संस्था का आधिदैविक विवर्त्त है, जीवतत्त्व आध्यात्मिक विवर्त्त है एवं तीसरा विवर्त्त आधि-भौतिक विवर्त्त है। इसप्रकार केवल आध्यत्मिक संस्था में ही ईश्वर–जीव–शरीर–भेद से तीनों विवर्तों का उपभोग होरहा है। तीनों में उस ओर ईश्वर है, इस ओर शरीर है एवं दोनों के मध्य में जीव है। ईश्वर साक्षी है, जीव भोक्ता है, मन–बुद्धि-इन्द्रियादि भोगसाधन हैं, शरीर भोगायतन है, एवं लौकिक विषय भोग्यपदार्थ हैं। इस स्थिति को सामने रखते हुए ही हमें 'सर्वधर्म्मान्०' का समन्वय करना है—

१–हृदयस्थोऽनिरुक्तः प्रजापतिः–अन्तर्य्यामी—अधिदैवतम् (ईश्वरः)	सैषा अध्यात्मसंस्था
२–तत्रस्थः–उद्गीथः प्रजापतिः-भोक्ता—अध्यात्मम्(जीवः)	
३–सर्वस्थः–सर्वप्रजापतिः–भोगायतनम्—अधिभूतम् (शरीरम्)	

१६–अखण्डात्म प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित भिन्न खण्डात्मविवर्त्तों के तात्त्विक स्वरूपों का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन योगपथ, तदनुप्राणिता 'बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तदनुबन्धी मानसिक ऐन्द्रियक, तथा वैषयिक–अनुबन्धों का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, शरीर जिन इन ६ भौतिक विवर्त्तों का पूर्व में उल्लेख हुआ है, इनमें से अव्यक्त, महान्, ये दो खण्डात्मविवर्त्त आधिदैविक ईश्वरात्म-विवर्त्त में अन्तर्भूत माने गए हैं। प्रज्ञान-इन्द्रियवर्ग, ये दो विवर्त्त आध्यात्मिक जीवात्मविवर्त्त में अन्तर्भूत माने गए हैं। शेष रहजाते हैं-विज्ञान और शरीर। इनमें शरीर भोगायतनरूप से पृथक् सुरक्षित है। खण्डात्मपञ्चक मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि), मध्यस्थ जीवात्मसम्बन्ध से देहली दीपक न्यायेन ईश्वरतन्त्र में भी भुक्त है, एवं भोगायतनतन्त्र में भी भुक्त है। यदि जीवात्मा इस विज्ञानसारथि के सहयोग से भोग में प्रवृत्त होता है, तब तो स्वस्वरूप

से निर्म्मल बना हुआ विज्ञान ईश्वरतन्त्र का विकासक बनता है, इस दशा में विज्ञान का ईश्वर से योग रहता है, यही गीताशास्त्र की सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोगनिष्ठा' है। यदि जीवात्मा विज्ञानसारथि की उपेक्षा, साथ ही मनोराज्य की प्रधानता कर बैठता है, तो तेजोलक्षण, अतएव स्वस्वरूप से सर्वथा असङ्ग विज्ञान स्नेहलक्षण, अतएव स्वस्वरूप से सर्वथा ससङ्ग प्रज्ञान (मन) की प्रधानता होजाती है। फलतः जीवात्मा बुद्धियोगनिष्ठा से च्युत होता हुआ मन के द्वारा इन्द्रियासक्त बन जाता है, एवं यही इसके पतन-भय-शोक-मोह-द्वेष-आदि क्लेशों का मूलकारण है। इसी को लोकभाषा में-'मनमानी करना' कहा जाता है। वृद्धपुरुष कहा करते हैं-'जो मनमाना करता है, वह पीछे पछताता है'। इस वृद्धसूक्ति का तात्पर्य्य यही है कि, मन को इन्द्रियों का वशवर्त्ती न बनाओ, अपितु बुद्धि का वशवर्त्ती बनाओ। स्मरण रक्खो, जबतक मन इन्द्रियों का वशवर्ती बना रहेगा, तबतक उसे अनेक धर्म्मों का आश्रित रहना पड़ेगा।

१७-पञ्चविध वैदिकइन्द्रियवर्ग, तथा एकादशविध दार्शनिक इन्द्रियवर्ग, एवं तदनुप्राणित व्यवसाय-धर्म्म, तथा अव्यवसायधर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन्द्रिय एक नहीं, वैदिकदृष्टिकोण से पाँच हैं, दार्शनिक दृष्टिकोण से ११ हैं। फिर अनन्त असंख्य ऐन्द्रियक भागों के अनुपात से तो इन्द्रियवृत्तियाँ भी असंख्यभाव में परिणत होजाती हैं। इन अनेक इन्द्रियवृत्तियों के प्रभाव से प्रभावित इन्द्रियसञ्चालक मन का भी अनेक वृत्तियों में परिणत होना स्वाभाविक बन जाता है। यदि विज्ञान (बुद्धि) का मन पर प्रभाव है, तब तो मन इन्द्रियवृत्तियों का सञ्चालक बनता हुआ भी उनके अनेक धर्म्मों के आक्रमण से बचा रहता है। क्योंकि मनः-सञ्चालक विज्ञान स्वव्यवसाय-धर्म्म से स्वस्वरूप में एक है, स्थिर है, असङ्ग है, जिसका—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!' इत्यादिरूप से विश्लेषण हुआ है। यदि मनका विज्ञान पर प्रभाव है, तो मन स्वयं भी इन्द्रियानेकधर्म्मों का दास बन जाता है, साथ ही मनोवशवर्त्ती बुद्धि भी अनेक धर्म्मों में परिणत होजाती है, जिसका-'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादिरूप में विश्लेषण हुआ है।

१८-एक प्रासङ्गिक-स्पष्टीकरण, कर्म्मत्याग के सम्बन्ध में रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का समन्वय, सर्वधर्म्मपरित्याग का वास्तविक स्वरूप समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में गीता की सर्वधर्म्मपरित्यागात्मिका शरणागति के व्यामुग्ध-व्याख्याताओं का महान् व्यामोहन—

इसी सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए। इन्द्रियधर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बन सकते। ऐन्द्रियक भोग भी कभी बन्धन-दुःख-शोकादि के कारण नहीं बना करते। और ऐसी दशा में सर्वधर्म्मों-(इन्द्रियधर्म्मों) के अनुगमन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जासकती। इसके साथ साथ ही -'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः'-'कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' इत्यादि गीता सिद्धान्तो के अनुसार शरीरधारी प्राणी के लिए यच्चयावत् कर्म्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव भी है। सम्भव है-आप श्रौत-स्मार्त्त कर्म्म करना छोड़ दें, लोकसंग्राहक अन्य लौकिक कर्म्म छोड़ दें।

परन्तु जीवनरक्षक भोजन-पान-शयन-गमन-आदि आवश्यकतम-शारीरिक कर्म्म आप चाहते हुए भी नहीं छोड़ सकते। सर्वकर्म्मपरित्यागनिष्ठ जो आचार्य्य श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों के आत्यन्तिक परित्याग का उद्घोष करते हुए अहोरात्र आत्मभावना-लय को ही सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा शरणागति मान रहे है, एवं मनवाने का प्रयास कर रहे हैं, क्या वे आत्मनिष्ठ व्याख्याता भोजनादि जीवनसाधक ऐन्द्रियकधर्म्मों को भी छोड़ देते हैं? यदि हाँ, तो असम्भव। नहीं तो, फिर सर्वधर्म्मपरित्याग का उद्घोष क्यों? **त एव प्रष्टव्याः**। मन-बुद्धि-इन्द्रियवर्ग-शरीर-आदि आत्मपरिग्रह स्वस्थदशा में विद्यमान रहें, और ये अपना धर्म्म छोड़ दें, सर्वथा असम्भव है। इनके परित्याग का तो अर्थ होगा-निधन-मृत्यु। क्या भगवच्छरणागति से उन त्यागाभिमानियों की दृष्टि में यही (मृत्यु) फल अभिप्रेत है? उत्तर होगा-**त एव प्रष्टव्याः**। निश्चत समझिए-यह असम्भव भी है, साथ ही भगवान् का भी यह अभिप्राय नहीं है कि-धर्म्मों का-श्रौतस्मार्त्तकर्म्मों का, लौकिक कर्म्मों का, ऐन्द्रियक कर्म्मों का-परित्याग कर दिया जाए। '**यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्**' भगवान् तो इनकी अत्याज्यता ही बता रहे हैं। ऐसी दशा में व्याख्याताओं की सर्वकर्म्मत्यागनिष्ठा का क्या महत्त्व रह जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में पुनः हमें यही कहना पड़ेगा कि-'**त एव प्रष्टव्याः**'।

१९-'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं सर्वधर्म्मपरित्याग के वास्तविक तथ्य से अनुप्राणिता वास्तविकी सांख्यनिष्ठा—

मानते है, भगवान् की दृष्टि में कर्म्मत्याग, किंवा इन्द्रियधर्म्म परित्याग असम्भव है। परन्तु इस मान्यता का भी तो अपलाप नहीं किया जासकता कि, उन्हीं भगवान् ने '**सर्वधर्म्मान् परित्यज्य०**' इत्यादि स्पष्ट शब्दों में धर्म्मपरित्याग का भी तो आदेश दिया है। वे ही भगवान्, एक ही भगवान्। उन्हीं के दो विरुद्ध आदेश! कैसे इस विरोध का परिहार किया जाय? उत्तर भगवान् से ही पूछिए। भगवान् कहेंगे-मैं कर्म्म का संग्रह भी आवश्यक मानता हूँ, साथ ही त्याग भी आवश्यक समझ रहा हूँ। ग्रहण और त्याग, दोनों का समन्वय ही मेरा गुह्यतम राद्धान्त है। ग्रहण योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) है, त्याग सांख्य-निष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) है। दोनों को दो पृथक् निष्ठा मानना ही भूल है। कर्म्मनिष्ठा में कर्म्म और कामना, ये दो पर्व हैं। इन दोनों पर्वों में से कर्म्म का संग्रह करो, इससे यही निष्ठा कर्म्मनिष्ठा बन जाएगी। एवं कामना का परित्याग करो, इससे यही निष्ठा ज्ञाननिष्ठा (संन्यासनिष्ठा) बन जाएगी। इसप्रकार कर्म्मग्रहण-कामनात्याग, दोनों के समन्वय से एक ही कर्म्मनिष्ठा से दोनों निष्ठाएँ गतार्थ बन जाएँगी। यही संशोधन ज्ञाननिष्ठा में करो। ज्ञान स्वयं त्याग की प्रतिमा तो पहिले से ही है। इसमें कर्म्म का सम्मिश्रण और करदो। यह भी उभयनिष्ठा बन जाएगी। और इसप्रकार दोनों के द्वैतरूप का उच्छेद होजाएगा-रहजाएगी अद्वैतनिष्ठा, जो व्याख्याताओं के लिए अतिशयरूप से प्रिय है। एवं जिसका भगवान् ने—'**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**' शब्दों में विवेचन किया है।

२०–उभयनिष्ठा के फलाफल तारतम्य का नीर–क्षीर–विवेक, एवं 'तयोस्तु कर्म्म-संन्यासात्–कर्म्मयोगी विशिष्यते' का समन्वय- प्रयास—

प्रश्न होगा कि दोनों निष्ठाओं के सामन्वित रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मार्गों के स्वरूप में तो क्या भेद है, एवं दोनों में कौन मार्ग अपेक्षाकृत प्रशस्त, तथा उपादेय है? उभयात्मक कर्मयोग, तथा तथात्मक ही ज्ञानयोग, दोनों में वैसे तो कोई विभेद नहीं है। साथ ही–''यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते''के अनुसार फलदृष्टि से भी दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही मार्गों में इसप्रकार तत्त्वदृष्टि से भी, एवं फलदृष्टि से भी विशेष अन्तर नहीं है–जैसाकि--'संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ, एकमप्याश्रितः सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम्' से प्रमाणित है। तथापि–'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते' भगवद्वचनानुसार ही दोनों संशोधित निष्ठाओं में कर्म्मपरिग्रह–कामत्यागलक्षणा कर्म्मयोगनिष्ठा ही अपेक्षाकृत प्रशस्त तथा उपादेय मानी जाएगी।

२१–वर्णाश्रमाचारसम्मत-श्रौत--स्मार्त्त--कर्म्मसंग्रहरूपा-कर्म्मयोगनिष्ठा का पावनसंस्मरण, एवं 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यसं कवयो विदुः' का समन्वय प्रयास, तथा उभयसमन्वयात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा का श्रेयोभावत्त्व—

कर्म्मयोगनिष्ठा में वर्णाश्रमाचार--सम्मत श्रौतस्मार्त्तकर्म्मों का संग्रह है, जिन्हें भगवान् मनु ने 'प्रवृत-वैदिककर्म्म' नाम से व्यवहृत किया है। व्यक्तिगत स्वार्थ–कामना–परित्याग-पूर्वक लोकाभ्युदयार्थ ये ही वैदिक प्रवृत्तकर्म्म कामनाराहित्य से निष्कामभावात्मक बनते हुए अबन्धन बन जाते हैं, एवं ऐसा ही कर्म्मयोग-'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' के अनुसार संन्यासनिष्ठा है। इस निष्ठा में व्यक्त–भौतिक लौकिक, वैदिक कर्म्मों का समावेश रहता है। कर्म्मठ प्राणी (मनुष्य) की कर्म्मसाधिका इन्द्रियाँ अव्यक्त अन्तर्जगत् की अपेक्षा व्यक्त बहिर्जगत् की ओर सुगमता से प्रवृत्त रहती हैं। यही क्यों, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार तो इन्द्रियानु-गति का मुख्य धरातल व्यक्त बहिर्जगत् ही है। अतएव इस कर्म्मनिष्ठा में अपेक्षाकृत सरलता रहती है। इस के अतिरिक्त ऐसे कर्म्मठ के निष्काम कर्म्मों से समाज का अभ्युदय होता है, राष्ट्रीय अभ्युत्थान होता है, ऐसे कर्म्मठ के सम्पर्क से जनसाधारण का महान् उपकार होता रहता है। पारलौकिक निःश्रेयसफल में साम्य होने पर भी ऐहलौकिक अभ्युदय के अनुबन्ध से कर्म्मप्रवृत्तिरूपा उभयात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा ही भगवान् की दृष्टि में श्रेयःपन्था है।

२२–वन्यधर्म्म संग्रहात्मिका ज्ञानयोगान्विता सांख्यनिष्ठा, और 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते' का स्मरण, और धर्म्मबुद्धियोग, तथा ज्ञानबुद्धियोग रूप संशोधित योगों का स्वरूप--समन्वय--प्रयास—

ज्ञानयोगनिष्ठा में वन्यधर्म्मों का ही संग्रह है। दूसरे शब्दों में-व्रतोपवासतपश्चर्य्यादिलक्षण कायक्लेशा-त्मक वैदिक कर्म्मों का ही संग्रह है, अतएव इन्हें मानवपरिभाषा में 'निवृत्तवैदिककर्म्म' कहा गया है।

अन्तर्वृत्ति के प्राधान्य से इन में अव्यक्तभाव का प्राधान्य है, अतएव ये व्यक्त-कर्म्मापेक्षया कष्टसाध्य हैं, जैसाकि-'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते**' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इस के अतिरिक्त इस में केवल वैय्यक्तिक निःश्रेयसभाव की ही प्रधानता है। न तो इस में वैय्यक्तिक ऐहलौकिक सुख ही है, एवं न लोकाभ्युदय की उदात्तभावना का ही संग्रह है। अतएव निवृत्तकर्म्मात्मिका यह संन्यासनिष्ठा पारलौकिक निःश्रेयसभाव की दृष्टि से कर्म्मनिष्ठा से समतुलित होती हुई भी-लौकिक अभ्युदय की तुलना में कर्म्मनिष्ठा की तुलना में अवरश्रेणि में ही प्रतिष्ठित होरही है। इसप्रकार गीतासिद्धान्त के अनुसार कर्म्मसंग्रहात्मक कर्म्मयोग-जिसे आर्षविद्यानुगत 'धर्म्मबुद्धियोग' भी कहा जाता है-ही संग्राह्य है। ज्ञानयोग-जिसे सिद्धविद्यानुगत-'**ज्ञानबुद्धियोग**' भी कहा गया गया है-ही संग्राह्य है-न कि कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षणा कल्पिता ज्ञाननिष्ठा। जैसाकि-भूमिका द्वितीय-खण्डान्तर्गत-'ग'-'घ' विभागों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

२३-राजर्षिविद्या--सिद्धविद्या--आर्षविद्या--राजविद्या--से अनुप्राणित चतुर्विध--योगों के व्यवच्छेदात्मक--तात्त्विक--स्वरूपों का समन्वयात्मक-दिग्दर्शन —

उक्त लक्षण कर्म्मयोग ही '**धर्म्मयोग**' है। यह धर्म्मबुद्धियोग तबतक कर्म्मयोग है, जबतक कि, इस में क्षरानुगत व्यक्तजगत् भावना का ही प्राधान्य है। भक्तियोग-परीक्षा-पूर्वखण्ड में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, गीताप्रतिपादिता योगचतुष्टयी ज्ञानकर्म्मोभयात्मिका है। ज्ञान-कर्म्मत्त्वेन बुद्धियोगात्मक चारों योग जहाँ समान हैं, विशेषज्ञान-विशेषकर्म्मानुगत्त्वेन चारों योग परस्पर विभिन्न है। अवश्य ही चारों के तात्त्विक-स्वरूप विश्लेषण करते समय विशेष ज्ञान-कर्म्मभावों का विवेक कर लेना चाहिए। अन्यथा चारों के विविक्त-स्वरूपबोध में भ्रान्ति होजाने की सम्भावना है। राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग (गीताराद्धान्तयोग) के ज्ञान, कर्म्म दोनों पर्व अव्ययात्मानुगत हैं। सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग (संशोधित सांख्यनिष्ठा) का ज्ञान अव्यक्त अक्षरात्मानुगत है, कर्म्म भी अव्यक्त अक्षरानुगत है। आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग (संशोधित योगनिष्ठा) का ज्ञान भोक्तात्मानुगत है, कर्म्म व्यक्त क्षरानुगत है। राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्ति-निष्ठा) का ज्ञान अव्ययात्मानुगत है, कर्म्म व्यक्त क्षरानुगत है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट होरहा है—

१	१-अव्ययात्मानुगतं ज्ञानम् २-अव्ययात्मानुगतं कर्म्म	राजर्षिविद्यानुगतः-वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगः)
२	१-अव्यक्ताक्षरानुगतं ज्ञानम् २-अव्यक्ताक्षरानुगतं कर्म्म	सिद्धविद्यानुगतः-ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगः)

३	१–भोक्तात्मानुगतं ज्ञानम् २–क्षरानुगतं कर्म्म	आर्षविद्यानुगतः–धर्म्मबुद्धियोगः	(कर्म्मयोगः)
४	१–अव्ययानुगतं ज्ञानम् २–क्षरानुगतं कर्म्म	राजविद्यानुगतः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	(भक्तियोगः)

२४–'सर्वधर्म्मान्' में पठित 'धर्म्मान्' और 'अहम्' का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वयप्रयास, एवं उभयात्मक, अतएव अबन्धन कर्म्मयोग का संक्षिप्त स्वरूप–परिचय—

उक्त चारों गीतायोगों में से 'सर्वधर्म्मान्' में पठित धर्म्म–शब्द की अपेक्षा से कर्म्मयोग, भक्तियोग, इन दो योगों की ओर ही पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करना है। शास्त्रसिद्ध श्रौत–स्मार्त्त कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान करना ही कर्म्मयोग है। इसमें कर्त्ता भोक्तात्मा है। 'अहं' लक्षण जीवात्मा ही भोक्तात्मा है। इस जीवात्मा का अव्ययभाग ही अहं पदार्थ है। यह अहं प्रकृति को अपना ज्ञानांश प्रदान कर उसे कर्त्री बनाए रखता है, स्वयं सबकुछ बनता हुआ भी निर्लेप बना रहता है। यही इसका निष्कामभाव है। इसीलिए इसका यह कर्म्ममार्ग अबन्धन बना रहजाता है। धर्म्मात्मक कर्म्मों में पूर्ण प्रवृत्ति है, कामना से आत्यन्तिक निवृत्ति है। यही उभयात्मक कर्म्मयोग का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

२५–कर्म्मयोग, और भक्तियोग का समतुलन, एवं उभयसमतुलन में भक्तियोग का श्रेष्ठत्त्व संस्थापन–प्रयास—

प्रवृत्ति सकाम हो, अथवा निष्काम, ऐच्छिक हो, अथवा स्वाभाविक, इस की सफलता में बड़े से बड़े निष्कामयोगी को भी क्षणभर के लिए आह्लाद होपड़ता है, विफलता में क्षणिक क्षोभ। अतएव इस मार्ग को आत्यन्तिकरूप से अशोक नहीं माना जासकता है। जीवात्मा को विफलता में क्षोभात्मक यह शोक होने लगता है कि,–देखो, अमुक काम में मेरा कोई स्वार्थ नहीं था, फिरभी न जाने क्यों विघ्न आगए, क्यों काम बिगड़गया। इस शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही कर्म्मयोगनिष्ठा की तुलना में तदुपरि भक्तियोग–निष्ठा का आविर्भाव हुआ है। इस योग में प्रवृत्ति का क्योंकि आत्यन्तिक अभाव है, अतएव कभी क्षोभ को अवसर ही नहीं मिलता। और यही इस भक्तियोग का कर्म्मयोगापेक्षया वैशिष्ट्य है।

२६-धर्म्म, अधर्म्म, कृत, अकृत, भूत, भव्य आदि से अतीत रहस्यपूर्ण तत्त्व का संस्मरण, एवं 'सर्वधर्म्मान्--परित्यज्य' के मर्म्मस्थल का स्वरूपान्वेषण--प्रयास, तथा--'त्यज धर्म्म--मधर्म्मञ्च' का रहस्यात्मक समन्वय—

कर्म्मयोग में निष्कामभाव अवश्य है। परन्तु इस में कर्म्माधार भोक्तात्मा का ज्ञान है। अतएव उस पर ऐन्द्रियक धर्म्मों का कभी कभी प्रभाव हो पड़ता है, फलत: इन धर्म्माक्रमण से भोक्तात्मा दुःखी होपड़ता है। भक्तियोग में यह आशङ्का इसलिए नहीं है कि, इसका आधार ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान है, जो धर्म्म, अधर्म्म, कृत, अकृत, भूत, भव्य, सबसे अतीत है, एवं जिसका-**'अन्यत्रधर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कताकृतात्, अन्यत्र भूताद्भव्याच्च'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। जीवाव्यय जहाँ ऐन्द्रिय कधर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ भोक्ता है, वहाँ ईश्वराव्यय ऐन्द्रियक धर्म्माधर्म्मों से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ साक्षिमात्र है। यदि जीवात्मा इस ईश्वराव्यय में अपने आप को अर्पण कर कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रखता है, तो यच्चयावत् ऐन्द्रियक धर्म्मों का सम्बन्ध स्वत एव इस से टूट जाता है। इसी ईश्वरार्पणभावना के लिए-**'नाविरतो दुश्चरितात्, त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च'** यह कहा गया है।

२७-'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' मूलक अमृत--मृत्यु--भाव का दिग्दर्शन, तदनुबन्धी सर्वधर्म्मग्रहण, तथा सर्वधर्म्मपरिग्रह का स्वारस्य—

जिसप्रकार ज्ञाननिष्ठा में कर्म्मत्याग से केवल कामनात्याग अभिप्रेत है, क्योंकि कर्म्मत्याग असम्भव है, एवमेव इस भक्तिनिष्ठा में भी सर्वधर्म्मपरित्याग से केवल धर्म्म-प्रवृत्तिसम्बन्धत्याग ही अभिप्रेत है। क्योंकि ऐन्द्रियक धर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग सर्वथा असम्भव सिद्ध किया जाचुका है। ईश्वराव्यय में आत्मसमर्पण कर देने से जीवात्मा ऐन्द्रियकधर्म्मों में अहोरात्र प्रवृत्त रहता हुआ भी इन के बन्धन से विमुक्त रहता है। **और यही सर्वधर्म्मग्रहणलक्षण सर्वधर्म्मपरित्याग है।** ऐन्द्रियकधर्म्म असंख्य हैं, यह कहा जाचुका है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, पार्थिव भूताक्रान्त जीवात्मा का प्रवृत्तिप्राधान्य सौर विज्ञानतत्त्व को अभिभूत करलेता है। परवशानुगत विज्ञान ऐन्द्रियकभावानुगत बनता हुआ अव्यवसायात्मक बहुभाव में परिणत हो जाता है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार नानाभाव ही मृत्यु है, यही भय की भूतप्रतिष्ठा है। इसप्रकार इन्द्रियधर्म्मानुगत जीवात्मा का विज्ञान कभी एकात्मक व्यवसायभाव का अनुगामी नहीं बन सकता।

२८-कर्म्मयोग के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक--समस्यात्मक प्रश्न, एवं तन्निराकरण--प्रयास—

प्रश्न होसकता है कि, तब तो निष्काम कर्म्मयोग में भी व्यवसाय नहीं रहना चाहिए। क्योंकि, यहाँ ईश्वराव्ययानुगति का अभाव है। अवश्य ही ईश्वराव्ययानुगति कर्म्मयोग में नहीं है। परन्तु जीवाव्ययानुगति अवश्य है। यदि कामना है, तब तो अक्षरात्मक जीवभाव का ही प्राधान्य रहता है। एवं वैसा सकामकर्म्म-योग तो अवश्य ही व्यवसाय से वञ्चित है। परन्तु अक्षराविनाभूत जीवाव्यय क्योंकि ईश्वराव्ययाभिन्न है, अतएव जीवाव्ययानिष्ठा से तदभिन्न ईश्वराव्ययानुग्रह--परम्परया कर्म्मयोगनिष्ठा में भी प्राप्त हो जाता है। फलत: कर्म्मयोग में अव्यवसाय की आशङ्का नहीं रहजाती।

२६–'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का संस्मरण, 'अंशोनानात्वात्' मूलक जीवभाव, तत्प्रतिष्ठारूप ईश्वरभाव, एवं प्रसादगुणान्वित भक्तियोग का प्रसाद-गुणवञ्चित कर्म्मयोग के समतुलन में श्रेष्ठत्व संस्थापन—

यदि भक्तियोगवत् कर्म्मयोग में भी व्यवसायधर्म्म अक्षुण्ण है, तो दोनों के स्वरूप में भेद क्या रहा ?, यह प्रश्न शेष रहजाता है। कर्म्मयोग में जीवाव्ययानुगति है, एवं-'अंशो नानात्वात्' न्याय से योगमायावच्छिन्न जीव नाना है, असंख्य है। अतः वैय्यक्तिक एकत्त्व के अक्षुण्ण रहने पर भी जीवसर्गत्त्वेन यहाँ एकत्त्वका अभाव है। उधर भक्तियोग में ईश्वराव्ययानुगति है, एवं महामायावच्छिन्न ईश्वराव्यय महाविश्व का एक तन्त्रायी है। इस एकभावापन्न ईश्वराव्यय की शरणागति से आत्यन्तिकरूप से व्यवसायनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। यदि वैय्यक्तिक जीवाव्यय के एकत्व का आग्रह कर कर्म्मयोग को भक्तियोग के समकक्ष मानने का संकल्प दृढ़ है, तो दूसरा दृष्टिकोण सामने रखना पड़ेगा। मान लेते हैं–व्यवसायदृष्ट्या दोनों योग समान हैं। परन्तु कर्म्मयोग जहाँ ईश्वराव्यय से बहिर्भूत रहता हुआ गुणभावापन्न है, वहाँ भक्तियोग गुणातीत ईश्वराव्ययानुगामी बनता हुआ द्वन्द्वातीत है। कर्म्मयोग में ईश्वरानुरक्तिलक्षण प्रसादगुण का अभाव है, एवं इसी आधार पर–'त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भावार्जुन' कहा भी गया है। भक्तियोग में ईश्वरानुरक्तिलक्षण प्रसादगुण है, अतएव यह योग अवश्य ही कर्म्मयोगापेक्षया श्रेष्ठ माना जाएगा।

३०–'ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन ! तिष्ठति' मूलक आध्यात्मिक ईश्वराव्यय का संस्मरण, संशोधित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्त्व, एवं तीनों की आंशिक अपूर्णता, तथा सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वात्मना परिपूर्ण गीता-राद्धान्तभूत 'बुद्धियोग' का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जिसप्रकार जीवाव्यय योगमायानन्त्यधिया अनेक भावापन्न है, एवमेव ईश्वराव्यय भी तो हृदयानन्त्यधिया अनेकभावापन्न ही है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' के अनुसार आध्यात्मिक ईश्वराव्यय प्रत्येक प्राणी के हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। योगमायोपाधिभेद से जैसे जीव अनन्त हैं, एवमेव हृदयोपाधिभेद से आध्यात्मिक ईश्वराव्यय भी तो अनन्त ही है। एकभावापन्न तो केवल वह आधिदैविक ईश्वराव्यय ही है, जो सम्पूर्ण विश्व का समष्टिरूप से एक तन्त्रायी है। ऐसी दशा में उक्त श्रेष्ठता-प्रदर्शक हेतु में यह प्रश्न किया जासकता है कि, जीवाव्ययानुगत कर्म्मयोग यदि जीवाव्ययानन्त्य से जीवसर्गत्त्वेन एकभावात्मक है, तो आध्यात्मिक ईश्वराव्ययानुगत भक्तियोग भी हृदयोपाध्यवच्छिन्न ईश्वराव्ययानन्त्य से एकभावात्मक ही माना जाएगा। ऐसी अवस्था में इस हेतु से भक्तियोग को कर्म्मयोगापेक्षया कैसे श्रेष्ठ माना जासकेगा ? विप्रतिपत्ति यथार्थ है। वास्तव में इस मीमांसा के अनुसार तो भक्तियोग भी आत्यन्तिक रूप से सर्वोपाधिविनिर्मुक्त नहीं ही माना जासकता। अतएव च केवल इसी हेतु के आधार पर कर्म्मयोगापेक्षया भक्तियोग की श्रेष्ठता भी सिद्ध नहीं की जासकती। इसप्रकार कामनापरिग्रहलक्षण कर्म्मयोग, कर्म्मत्यागलक्षण कल्पित ज्ञानयोग, दोनों अयोगात्मक योगों के स्थान में गीताशास्त्र ने जिन ज्ञान-कर्म्म-भक्ति नामक लोकप्रचलित तीन योगों का संग्रह किया है, उनमें अवश्य ही कुछ न कुछ छिद्र बचा रहजाता है।

इसीलिए तो इस योगत्रयी को भगवत्सम्मत नहीं माना गया। भगवत् सम्मत योग तो वही माना जाएगा, जिसमें सर्वथा अनेकत्व की निवृत्ति रहेगी। वह योग वही होगा, जिसके आधारभूत ज्ञान--कर्म्म, दोनों ही आधिदैविक व्यापक एकेश्वराव्ययानुगत होंगे। एवं वही योग 'बुद्धियोग' कहलाएगा, जिसका अगले खण्डों में विस्तार से विश्लेषण होने वाला है।

३१-लोकसंग्रहच्युता ज्ञानयोगनिष्ठा, लोकसंग्रहात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा एवं प्रसादगुणान्विता भक्तियोगनिष्ठा का व्यवच्छेदात्मक स्वरूप-समन्वय--प्रयास —

कामनायुक्त कर्म्मयोग में मानस-ऐन्द्रियक ज्ञान, तथा क्षरानुगत व्यक्त कर्म्म का समावेश है, अतएव ऐसा सकाम कर्म्मयोग आत्यन्तिकरूप से त्याज्य है। कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग कल्पित है, अतएव इसके लिए कुछ भी कहना व्यर्थ है। सकामलक्षण भक्तियोग में भी मानसज्ञान का ही प्राधान्य है, अतएव सकाम-कर्म्मयोगवत् यह भी त्याज्य है। इसप्रकार ये तीनों निष्ठाएँ उपादेयमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत हीं हैं। अब क्रमशः-'ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-बुद्धि' नामक चार निष्ठाएँ हमारे सम्मुख आती हैं, जिन का गीता में प्रतिपादन हुआ है। अव्यक्ताक्षरानुगत ज्ञान, अव्यक्ताक्षरानुगत कर्म्म से कायक्लेशात्मिका एवं लोकसंग्रहविच्युता यह ज्ञानयोगनिष्ठा पहिला योग है। जीवाव्ययानुगत ज्ञान (जिसमें अक्षरज्ञान भी जीव सम्बन्ध से अनुस्यूत है), व्यक्त क्षरानुगत कर्म्म से ऋजुभावापन्ना, एवं लोकसंग्रहात्मिका बनी हुई यह कर्म्मयोगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा-पेक्षया श्रेष्ठ है। हृद्य ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान (जिसमें हृदयोपाधिसम्बन्ध से आंशिकरूप से अनेकत्व भी भी विद्यमान है) व्यक्तक्षरानुगत कर्म्म से प्रसादगुणभावापन्न बनी हुई यह भक्तियोगनिष्ठा कर्म्मयोगनिष्ठा-पेक्षया श्रेष्ठ है। व्यापक ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान-कर्म्म से प्रवृत्ति-निवृत्ति-सदसत् आदि यच्चयावत् द्वन्द्वों से एकान्ततः विनिर्मुक्ता, अतएव आत्यन्तिक रूप से व्यवसाय-भावानुगता चौथी बुद्धियोगनिष्ठा भक्तियोग-निष्ठा से भी श्रेष्ठ है, एवं यही अव्ययेश्वर भगवान् का अपना मत है। इसमें भी आगे जाकर दो विवर्त्त होजाते हैं, जिनका 'बुद्धियोगपरीक्षा' खण्ड में विवेचन किया जाएगा।

लोकसंग्रहविच्युता-व्यक्तिस्वार्थमूला-ज्ञानयोगनिष्ठा---ज्ञानिनाम्

लोकसंग्रहात्मिका--समष्टिस्वार्थमूला-कर्म्मयोगनिष्ठा--कर्म्मठानाम्

लोकसंग्रहात्मिका-प्रसादगुणमूला--भक्तियोगनिष्ठा--भक्तानाम्

सर्वसंग्रहात्मिका--सर्वगुणमूला----बुद्धियोगनिष्ठा--योगिनाम्

तस्माद्योगी भवार्जुन !

३२-सर्वधर्म्मपरित्याग लक्षणा सर्वधर्म्मासक्ति का तथ्यपूर्ण समन्वय--

हाँ, तो उक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध होचुका है कि, भक्तियोगनिष्ठात्मिका अनन्यशरणागति के सम्बन्ध में भगवान् ने जिस सर्वधर्म्मपरित्याग का आदेश दिया है, वह केवल धर्म्मासक्तिपरक है। वह अनेकत्वासक्ति

तभी हट सकती है, जबकि जीवात्मा प्रत्येक ऐन्द्रियकर्म्म (धर्म्म) से ममत्त्व हटा कर उसके उत्तरदायित्व का भार हृदयस्थ अन्तर्य्यामी पर डाल दे। अपना उत्तरदायित्व हटा लेना, पहिला मर्म्म है। साथ ही अपने आप को भी अन्तर्य्यामी की ही इच्छा पर ही छोड़ देना दूसरा मर्म्म है। जबतक 'एकम्' की शरणागति नहीं होजाती, तबतक बुद्धि मे स्वाभाविक व्यवसायधर्म्म का उदय नहीं होता। जबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं बन जाती, तब तक सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा सर्वधर्म्मासक्ति से त्राण नहीं होसकता।

३३–'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' से अनुप्राणित सर्वधर्म्मत्याग के विज्ञानसम्मत तथ्य का समन्वयप्रयास, एवं तत्सम्बन्ध में गीताव्याव्याख्याता सर्वश्री अभिनवगुप्ताचार्य्य महाभाग का पुण्य-संस्मरण—

सर्वधर्म्मपरित्याग से सर्वकर्मसंन्यास मानना, साथ ही अर्जुनव्याज से इस आदेश को मुमक्षु अधिकारी परक लगाना सम्भवत: ठीक हो। परन्तु अपनी सामान्य बुद्धि के अनुसार हमें तो ऐसा ही भान होरहा रहा है कि, यह आदेश मुख्यत: अर्जुन को लक्ष्य बना कर ही प्रस्तुत हुआ है। अर्जुन ही आज युद्धप्रसङ्ग सामने देख कर धर्मसंकट में पड़ रहा है। वही आज अपने भोक्तात्मा को लक्ष्य बनाता हुआ-पाप पुण्य के व्यामोह में आसक्त होरहा है। वही आज शोकनिमग्न है। भगवान् 'सर्वधर्म्मान्॰' आदेश से उसे ही धर्म्माधर्म्मों के द्वन्द्व से बचाते हुए शोकसमुद्र से उबार रहे हैं। जो भगवान् उसी अर्जुन को पदे पदे युद्ध–कर्म्म में प्रवृत्त होने का आदेश दे रहे हैं, वे ही उसे सर्वकर्म्मपरित्याग का आदेश देने लगेंगे, यह सर्वथा लक्ष्यविरोध होगा। भगवान् अर्जुन से कहना यह चाहते हैं कि, तू अपने आपको [जीवात्मा को] इस युद्ध का कर्त्ता मान रहा है, और यही तेरे अनुशोक का कारण है। भूलता है। तू कुछ नहीं करता, कर सकता। हृदयस्थ अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से ही सब कुछ होता है, होगा। तू अपना उत्तरदायित्व हटा कर-यच्चयावत् कर्मों से अपना कर्तृत्वहटाकर हृदयस्थ अन्तर्य्यामी पर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व डाल दे। कभी शोक का प्रसङ्ग ही न आवेगा। सर्वश्री अभिनवगुप्ताचार्य्य नामक प्राचीन व्याख्याता ने सौभाग्य से इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं कि–"यदिदं युद्धकरणे प्रासङ्गिक बन्धुवधादि, तस्य सर्वस्याहं कर्त्तृत्वात्मधर्म्मतां परित्यज्य, तथाचार्य्यादिहननक्रियानिषेधे ममाधर्म्मो भविष्यतीति मनसा विहाय मामेवैकं सर्वकर्त्तारं परमेश्वरं स्वतन्त्रं शरणं सर्वस्वभावाधिष्ठायकतया व्रज। मा शुचः-किंकर्त्तव्यतामोहं मा गाः" (अभिनवगुप्ताचार्य्याः)।

३४–ईश्वरार्पितानन्य भावनापूर्वक शास्त्रसिद्धकर्म्मानुगत्य का अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोगत्व एव यच्चयावत् कर्म्मकलापों में "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इति भगवद्वचन व्याकृत, अभ्यास साधित, दुःखादि द्वन्द्वाक्रमणनिवर्तक आत्मसमर्पणभाव —

आदेश वास्तव में अनुभवप्रसिद्ध, तथा प्राकृतिक है। हम प्रत्येक कर्म्म में यह मान बैठते हैं कि, इसकी सफलता–विफलता हमारी ही शक्ति पर निभर है। हम इस मोह में पड़कर यह भूल जाते हैं कि वास्तव में हम तो उस महातन्त्रायी ईश्वर की अव्यर्थ प्रेरणा के निमित्त मात्र हैं। वह जैसी जो प्रेरणा करता है,

हमें उसी का विवश बनकर अनुगमन करना पड़ता है। महायन्त्र में लगे हुए छोटे छोटे यन्त्रों का परिभ्रमण महायन्त्र-परिभ्रमण पर अवलम्बित है। ठीक यही स्थिति यहाँ है। जब अच्छे-बुरे-सभी भावों का सञ्चालक वह है, तो हमें उसका निमित्त बनने का क्या अधिकार है। उस तन्त्रायी की उस प्राकृतिक इच्छा का विश्लेषण जिन महर्षियों के आप्त वचनों द्वारा हुआ है, वह आप्तवचन संग्रह ही शास्त्र है। क्षत्रियवर्ग के लिए ईश्वर की यही इच्छा है कि, वह धर्म्मयुद्ध से कभी विमुख न हो। फलतः अर्जुन का युद्ध से विमुख होना ईश्वरेच्छा से विमुख होना है। और ऐसा करना अपने आपको पतनोन्मुख करना है। शास्त्रसिद्ध श्रौत-स्मार्त्त-कर्म्म ईश्वरेच्छानुगत हैं। इनका अनुष्ठान ही निःश्रेयसकर है। ईश्वरार्पितानन्यभावनापूर्वक शास्त्रसिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहना ही सर्वधर्म्मपरित्यागात्मक अनन्यशरणागति लक्षण भक्तियोग है, जिसका पूर्वपरिच्छेद में-'जो हुकुम' रूप से विश्लेषण हुआ है। कहने सुनने की बात नहीं है, अनुभव का विषय है। आप अपना उत्तरदायित्व अन्तर्य्यामी पर डाल कर देखिए तो सही, कैसी शान्ति मिलती है। खाते-पीते-उठते-सोते-जगते-अपने यत्त्ययावत् कर्म्मकलापों में यह अनुभव करते जाइए कि, अच्छा-बुरा जो कुछ होरहा है, सब उसी की इच्छा से उसी की प्रेरणा से। निश्चयेन इस अभ्यासवृद्धि के साथ साथ ही आपकी अन्तःशान्ति में भी वृद्धि होती जाएगी। एवं जिस दिन यह अभ्यास दृढमूल बन जाएगा, उस दिन आप पराशान्ति में ओत-प्रोत होजाएँगे। जो होना होगा, होकर रहेगा, होने दीजिए। आपत्तियाँ सामने आती हैं, आने दीजिए। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का आक्रमण होता है, होने दीजिए। बस होने दीजिए। आपतो निमित्तमात्र बने रहिए। लीलाधार की लीला के दर्शक बनिए, समालोचक मत बनिए। यही गीता शास्त्र की अनन्यशरणागति है, यही गीता का 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' लक्षण ज्ञानकर्म्मोभयात्मक भक्तियोग है, जिसे प्रसादगुणाधिक्य से निष्काम-कर्म्मयोग की तुलना में उच्चासन प्रदान किया जासकता है। एवं जिस भक्तियोग का विश्लेषण-'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य०' से हुआ है ॥ १ ॥

३५ इन्द्रियानुगति समुद्भूत "उन्मनस्त्व" एवं तज्जन्य शोकक्षोभ अथ च अव्ययानुगतिसमुपलब्ध "मन्मनस्त्व" भाव समधिगत पराशान्ति और भक्तियोगानुबन्धी इसी मनोभाव का "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु"-पदेन समाधान—

जबतक आप का मन इन्द्रियों के वश में है, तबतक आप उक्त आदेश को कार्य्यरूप में परिणत नहीं कर सकते। बुद्धियुक्त मन इन्द्रियाराम बना रहे, यह एक पक्ष है, आत्माराम बना रहे, यह दूसरा पक्ष है। आप अपने मन में यह भावना ही क्यों करते हैं कि, हम इन्द्रियधर्म्मों के सञ्चालक हैं। इसी भावना का उपयोग आपको ईश्वरानुगति में करना चाहिए। यह भावना करनी चाहिए कि, मल्लक्षण ईश्वराव्ययात्मक श्वोवसीयस मन जैसी कामना करता है, उसी का मैं द्वार बनता हूं। यही मन का मन्मनस्त्व है। इन्द्रियानुगति जहाँ उन्मनस्त्व की प्रवर्त्तिका बनती हुई शोक-क्षोभ की जननी है, वहाँ अव्ययानुगति मन्मनस्त्व की प्रवर्त्तिका बनती हुई आत्मसाक्षात्कार द्वारा पराशान्ति की जननी है। भक्तियोगानुबन्धी इसी मन्मनोभाव का 'मन्मना भव०' इत्यादि द्वितीय श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २ ॥

३६–इहलोक-परलोक-धर्म्म-आत्मा-ईश्वरादिपरक जातिसंस्कारबाधित धार्म्मिक व्यक्ति-सामान्य द्वारा व्यवहृत "सब गोविन्द करते हैं" इत्यात्मक आस्तिक्यभाव, इत्थं-भूत आस्तिक्य–भाव का असार्वत्रिक-सम्पृक्तिसमुत्थ–त्रुटिमत्त्व, भक्तराजों का भगवन्नाम संकीतनात्मक उद्बोध एवम् सदसद्द्वन्द्वसमत्वात्मिक शरणागतिलभ्य अव्ययात्मप्रसादविकास तथा "तमेव शरणं गच्छ" श्लोकेन सर्वतोभाव का स्पष्टीकरण—

परलोक–धर्म्म–आत्मा–ईश्वर आदि भावों की सत्ता पर जातीयसंस्कारवश यथाकथंचित् विश्वास रखने वाले धार्म्मिक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य–कर्म्मों के सम्बन्ध में यह सम्पुट लगाया करते हैं कि–'सब भगवान् की इच्छा से ही होरहा है । सब गोविन्द करते हैं' । सम्पुट अच्छा है, लाभकर भी । परन्तु, कब ? जब सर्वतोभावेन यह संकल्प होता है । यदि हम किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं, हमारे हाथों किसी का अपकार हो–जाता है, तो हम इश्वरेच्छा को मध्यस्थ बना डालते हैं । सत्कर्म्मप्रवृत्तियों में अहंकृतत्त्वाभिमान सुरक्षित रखते हैं । कहते अवश्य हैं कि–अजी हम क्या कर सकते हैं । सब भगवान् ही की कृपा का फल है । परन्तु इस कथन में भाषा दूसरी होती है, भावना और रहती है । हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा मन्तव्य है कि, जो वास्तव में ईश्वरभक्ति परायण हैं, वे कभी सत्कर्म्मों का अपनी वाणी से अभिनय नहीं करते । असत् कर्म्म में दोष अवश्य स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु पुण्यकर्म्मों में मौन धारण कर लेते हैं । जो भक्तराज रात–दिन अपने कामों में भगवन्नाम का उद्घोष किया करते हैं, माला फेरा करते हैं, क्षमा करेंगे दयालुपाठक, ९९ प्रतिशत ऐसे भक्तराज भक्तियोग के वास्तविक स्वरूप से परा:परावृत्त ही हैं । कर्त्तव्य कर्म्मनिष्ठभक्त को निरर्थक समय ही कहाँ मिलता है, जिसमें वह अपनी आध्यात्मिक भावना का उद्घोष करता फिरे । भगवान् कहते हैं–पराशान्ति भक्तियोग से, अनन्यशरणागति से मिलती अवश्य है । परन्तु–व्याज से, छल से, दम्भ से नहीं । अपितु–सर्वतोभावेन शरणागति से । यदि अच्छा होगया तो उसकी इच्छा । बुरा हो गया तो उसकी इच्छा । यही सर्वतोभाव है । सदसत् द्वन्द्व में समता प्राप्त करना ही सर्वतोभावात्मिका शरणागति है । ऐसी शरणागति से ही समत्त्वलक्षण बुद्धियोग का कालान्तर में उदय होता है, जो बुद्धियोग मत्प्रसाद (अव्ययात्म–प्रसाद–विकास) का मूलकारण माना गया है, एवं जिस प्रसादलक्षण अव्यय–विकास से पराशान्ति मिला करती है । 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि तृतीय श्लोक ने इसी सर्वतो–भाव का स्पष्टीकरण किया है ॥३॥

३७–अवसरप्राप्त विपन्निवारणार्थ हनूमद्–भैरव–दुर्गा–पितृदेवताप्रभृति ईश्वरभक्तियों का कामानुबन्धिसमर्चन, इस अनन्यनिष्ठावश्चित अन्यताधर्मावच्छिन्न बहुदेवताकसमर्चन का व्यभिचारित्व अथ च "एकत्व ममृतम्" सूत्रानुवर्तिनी अनन्ययोगान्विता अव्ययात्मानुगता भक्ति का अव्यभिचारित्व एवम् अनन्यनिष्ठया लक्ष्यभूत शास्त्रीय-कर्म्मानुष्ठान के प्रति एकान्त प्रेम—

देवतानुगामिनी आस्तिक प्रजा समय प्राप्त संकटों से त्राण पाने के लिए समय समय पर हनुमान्, भैरव, दुर्गा, पितृदेवता, आदि विविध ईश्वर भक्तियों की भक्ति किया करती है । ऐसी देवताभक्ति

ही सकामभक्ति कहलाई है। इन्द्रियधर्म्मवत् यह विविधदेवतानुगत भक्तिमार्ग भी तत्त्वतः अनन्यनिष्ठा से वञ्चित ही है। इसी अन्यता-धर्म्म से यह सकामभक्ति (बहुदेवताभक्ति) व्यभिचारिणी कहलाई है। अनेक देवतानुगमनत्त्व ही इस भक्ति का व्यभिचारधर्म्म है। अवश्य ही इस भक्ति से भी हमारे क्षणिक कार्य्य सिद्ध होते हैं। * परन्तु इस से पराशान्ति नहीं मिल सकती। पराशान्ति प्रवर्तिका तो वही भक्ति है; जिसमें एक धर्म्मानुगत अव्ययात्मा का ही समाश्रय है। ऐसी अनन्ययोगात्मिका एकयोगात्मिका-अव्ययात्मानुगता भक्ति ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहलाई है। एकात्मानुगतत्त्व ही इस भक्ति का अव्यभिचार धर्म्म है। नानाभाव अशान्ति प्रवर्त्तक है; फलतः नानादेवतानुगतव्यभिचारभावापन्न भक्तिमार्ग में उसका आत्यन्तिक अभाव है। एकत्त्व ही अमृत है; यही पराशान्ति है। एकदेवतानुगत भक्तिमार्ग में ही वह प्राप्त होसकती है। हमारा भक्त समाज समझता होगा कि, यह भक्तियोग झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-वादनपुरःसर महा समारम्भ में पुष्पित पल्लवित होता है। परन्तु, भगवान् कहते हैं-अनन्यभक्तियोग प्राप्ति के लिए तुम्हें पहिले स्वयं भी अनन्य बनना पड़ेगा। जनसम्पर्क से बचना पड़ेगा, एकान्त में रहना पड़ेगा। क्या जनसमाज में आना जाना छोड़ दिया जाय? नहीं, जासकते हो, जाना चाहिए। तभी तो लोकसंग्रह रक्षा होगी। परन्तु जनसमाज में फंसो मत। सबसे सहयोग रक्खो, परन्तु आसक्ति मत रक्खो-**'अरतिर्जनसंसदि'**। साथ ही अपने लक्ष्य-भूत शास्त्रीयकर्म्मानुष्ठान के लिए एकान्त प्रेमी भी बनो। तुम्हारा कोई काम प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनना चाहिए। जनता तुम्हारे कर्म्मफल से ही लाभ उठावे, कर्म्म का उसे पता भी न लगे। विविक्तदेशों में अनन्यनिष्ठा से काम करते जाओ, ईश्वरभाव में निष्ठा सुरक्षित रक्खो; यही प्रस्तुत भक्तिमार्ग की सफलता की कुञ्जी है, जिसका—**'मयि चानन्ययोगेन०'** इत्यादि चतुर्थश्लोक में स्पष्टीकरण हुआ है ॥४॥

३८-इन्द्रियधर्म्मप्रवृत्त जीवात्मा द्वारा ईश्वराव्यय को उत्तरदायित्त्व निर्वहणार्थ अनन्याश्रयभाव से स्वसमर्पण एवं न्यस्तकर्म्म किन्तु, कर्म्मासक्तिमूढ मिथ्याचार के लक्षणों का "कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य" द्वारा विवेचन—

'सर्वधर्म्मानपरित्यज्य' का समन्वय करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, जीवात्मा इन्द्रियधर्म्मों (कर्म्मों) में प्रवृत्त अवश्य रहे, परन्तु इनका उत्तरदायित्त्व हृदयस्थ ईश्वराव्यय पर डालदे। यही सर्वधर्म्म-परित्याग है। सम्भव है-इस समन्वय पर अभी पाठकों की पूरी निष्ठा न हुई हो, एवं वे अब भी सर्वकर्म्म-त्यागलक्षणा कल्पित ज्ञाननिष्ठा को ही श्रेयःपन्था मान रहे हो। अवश्य ही-**'मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य'** श्लोक से इस मान्यता का एकान्ततः मूलोच्छेद होजाएगा। कर्म्म का परित्याग दो प्रकार से सम्भव है, पहिले यह लक्ष्य बना लीजिए। जीवनसाधक-आवश्यकतम-शारीरिक कर्म्मों के अतिरिक्त हमने दुराग्रह-वश अन्य श्रौतस्मार्त्त-लोकसंग्रहादि कर्म्मों का तो परित्याग कर दिया। परन्तु, मानसिक आसक्ति अभी बनी हुई है। रह रह कर ये भाव उठते हैं कि, अमुक-कर्म्म करते तो अमुक लाभ होगा। अमुक काम छोड़ देने से वञ्चित रहगए। यही कर्म्मत्याग का एक दृष्टिकोण है, जो भगवान् के ही शब्दों में केवल मिथ्याचार (ढोंग) है। यदि कर्म्म छोड़ दिया, परन्तु कर्म्मासक्ति बनी रही, तो यह कैसा त्याग! भगवान् कहते हैं--

---

***-कांक्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ॥ गी० ४।१२।

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ गी० ३।६।

३९–कामनाविरहित कर्म्मसंस्कारों का निर्बन्धनत्व एवं निष्कामकर्म्म का कर्म्मत्याग संवेदिलक्षण—

ठीक इसके विपरीत यदि कामत्यागपूर्वक–इन्द्रियसंयम द्वारा लोकसंग्रहभाव से यदि आप कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त हैं, तो निश्चयेन आपने संन्यासनिष्ठा प्राप्त करली। कर्म्मपरिग्रह और कामनात्याग, यही वास्तविक त्याग है। एवं यही कर्म्मत्याग का दूसरा दृष्टिकोण है। कामना से ही तो कर्म्मसंस्कार बन्धन के प्रवर्त्तक बनते हैं। जब कामना नहीं तो रहता हुआ भी कर्म्म बन्धन का प्रवर्त्तक नहीं बन सकता। अतएव ऐसा निष्काम कर्म्म एकप्रकार का कर्म्मत्याग ही माना जाएगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में समर्थन हुआ है–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ गी० ३।७।

तस्मात्—
असक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ गीता ३।१९।

४०–लोकसंग्रहात्मक विश्वस्थिति प्रतिष्ठापक सर्वहुतयज्ञ के संरक्षणनिमित्तकृत निष्काम-कर्म्म में प्रवृत्त कर्म्मठ व्यक्ति का कर्म्मबन्धनविमोक एवं भगवद्वचनों द्वारा तादृश कामनात्याग की परिभाषाएँ—

सिद्धान्त है कि, कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। अपितु कर्म्मकामना–कर्म्मफलवासना ही बन्धन–प्रवर्त्तक हैं। आसक्ति रहने पर कर्म्म छोड़ दिया, तो सब कुछ व्यर्थ है। आसक्ति छोड़कर कर्म्म किया, तो सब कुछ सिद्ध है। जो व्यक्ति यह समझता है कि, कर्म्म का प्रेरक कोई और ही है, फल भी अन्याधीन है, ऐसा निःस्पृह व्यक्ति उस अव्ययात्मतत्त्व को जानता हुआ सतत कर्म्म करता हुआ भी कर्म्म लेप से पृथक् रहता है। जिस व्यक्ति के कर्म्म कामसंकल्प वर्जित हैं, उस के इन निष्काम कर्म्मों से ज्ञान का उदय होजाता है, एवं यह ज्ञानाग्नि उसके सञ्चित कर्म्मों को भस्मसात् कर उसे मुक्त कर देता है। कर्म्म–फलासक्ति परित्यागपूर्वक कर्म्म करता हुआ व्यक्ति सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं कर रहा। लोक–संग्रहात्मक विश्वस्थिति प्रतिष्ठापक सर्वहुतयज्ञ की स्वरूप रक्षा के लिए निष्कामभाव से कर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला कर्म्मठ कर्म्मबन्धन से एकान्ततः विमुक्त है। इसप्रकार अनेकधा बलपूर्वक कहा जासकता है कि, कामत्यागपूर्वक कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहना ही श्रेयःपन्था है। एवं यही वास्तविक त्याग है। निम्नलिखित भगवद्वचन त्याग की उक्त परिभाषाएं ही हमारे सम्मुख रख रहे हैं।

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्म फले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभि र्न स बध्यते ॥ ४।१४।
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४।१९।
त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते। ४२३।
योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४।४१।
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्व भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५।७।
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
प्रलपन्–विसृजन्–गृह्णन्–उन्मिषन्–निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ गी० ५।८,९,१०।
युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२।
सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देहे नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ ५।१३।
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ ६।१।
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ६।२।
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८।२।

४१–कर्म्मत्यागलक्षणसंन्यास, कामना (फलासक्ति) परित्यागलक्षणत्याग अथ च ईश्वराव्यय का एकमात्र कर्म्मतन्त्र–प्रवर्तकत्व और "मयि सर्वाणि कर्म्माणि" का "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य" इस पूर्वोच्चरित मीमांसा से समन्वय-समतुलन—

अर्जुन को ही, हाँ वास्तव में केवल अर्जुन को ही लक्ष्य बना कर कर्म्मत्याग की कामत्यागभावना को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् कह रहे हैं–(अर्जुन ! –तू मुझ में समस्तकर्म्मों का आध्यात्मिक चित्त से परित्याग करदे । आशापाश का एकान्ततः परित्याग करनेवाला, एवं ममत्व (आसक्ति) विरहित होकर शोकसन्ताप का परित्याग करता हुआ युद्ध कर । भगवान् एक ओर कर्म्मसंन्यास का आदेश देरहे हैं, साथ ही युद्धकर्म्म में अर्जुन को प्रवृत्त भी कर रहे हैं । दोनों आदेश एक साथ, और उसी अर्जुन के प्रति, जो व्याख्याताओं की दृष्टि में कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का अधिकार ही नहीं रख रहा । कैसी समस्या है ! क्या व्याख्याता, वे व्याख्याता–जो 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' को अन्याधिकारिपरक लगाते हुए कर्म्मत्याग का उद्घोष कर रहे हैं,–इस समस्या का गीता शब्दों के आधार पर प्रयत्नसहस्रों से भी निराकरण कर सकेंगे ? यदि नहीं, तो यह दुराग्रह क्यों ? भगवान् का अभिप्राय स्पष्ट है कि, कर्म्मत्याग असम्भव है । केवल कामना–फलासक्तिपरित्याग ही त्याग से अभिप्रेत है । अर्जुन आज दुःखी इसलिए होरहा है, इसलिए शोकसन्ताप ज्वर से पीड़ित है कि, उसने अपने आप को (जीवात्मा को) युद्धकर्त्ता मान रक्खा है, जैसे सभी कर्म्मठ अपने कर्म्मों के कर्त्ता स्वयं को मान कर सुख-दुःखादिद्वन्द्वों में निमग्न रहते हैं । भगवान् कहते हैं–भूल कर रहा है अर्जुन ! ईश्वराव्यय ही कर्म्मतन्त्र का प्रवर्त्तक है । जिसदिन तू उस पर सब कर्म्मों का भार छोड़ देगा, शोक का लेश भी न रहेगा । कर्म्मत्याग की इसी वास्तविक परिभाषा का–**'मयि सर्वाणि कर्म्माणि०'** इत्यादि पञ्चम श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है, जो स्पष्टीकरण **'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य०'** की पूर्वोक्त मीमांसा से सर्वथा समतुलित है ॥ ५ ॥

४२–दृढ़मूल ईश्वराव्ययार्पणभाव का क्षणकाल के लिए भी अविस्मरण एवं नित्ययुक्त का स्वरूप—

मदाश्रयभाव, ईश्वराव्ययार्पणभाव वैसा दृढमूल होना चाहिए, जैसे हम अपने व्यावहारिक कार्य्यों में दृढमूल बने रहते हैं । 'भोजन से पेट अवश्य भरजाता है, इस निष्ठा से हमें कोई च्युत नहीं कर सकता । तथैव ईश्वरार्पण में भी यही दृढ प्रत्यय होना चाहिए कि, जो कुछ हम करते हैं, वह उसी की प्रेरणा है । कहना और बात है, समझना और बात है । समझना ही तत्त्व है । समझना भी यदा–कदा के लिए नहीं, अपितु सदा के लिए । स्वप्न में भी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि, अमुक काम तो हमारे पुरुषार्थ से सिद्ध हो गया । आवेशपूर्वक अपने आप को ईश्वराव्यय के आश्रित करदेना चाहिए, एवं इस ईश्वरार्पणभाव को सदा अवधानपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिए । यदि प्रज्ञापराधवश कभी इस नित्ययुक्तता में विच्छेद भी होजाय, तो तत्काल उसे –'यह भी उसी की प्रेरणा थी' भावनाद्वारा संभलजाना चाहिए ।

४३-बलान्नियोजित आत्मार्पणाङ्गीकार का भक्तियोगबाह्यत्व एवं श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-पञ्चात्मक प्रेमाभक्तियों में श्रद्धानिस्यूत शरणागतिलक्षणा भक्ति का ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोपोद्बलनत्व तथा "मय्यावेश्य मनो ये माम्"-गीतावचन की सङ्गति—

हम जानते हैं-राजदण्ड के भय से विवश होकर राजाज्ञा के प्रति हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। वैसी स्वीकृति का इस भक्तियोग में कोई मूल्य नहीं है। इच्छापूर्वक होने वाला आत्मसमर्पण ही वास्तव में आत्मसमर्पण है, जिसे श्रद्धात्मिका शरणागति कहा जाता है। इसी परम श्रद्धा से युक्त ईश्वराव्ययशरणापन्न भक्तयोगी आत्मदृष्टि से युक्ततम माने गए हैं। तात्पर्य्य-अनन्यात्मशरणागति में, श्रद्धा-वात्सल्यस्नेह-काम-रति, इन पाँचों प्रेमा भक्तियों में से श्रद्धात्मिका भक्ति ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की उपोद्बलिका मानी गई है, जिसका 'मय्यावेश्य मनो ये माम्०' इत्यादि षष्ठ श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ६ ॥

४४-भौतिक पदार्थासक्त मनबुद्धि का स्वयंकर्तृत्वाभिमान, तज्जन्य विषयानुगत बौद्धिक विचार-विषयानुगत मानस संकल्प-प्रभावाच्छन्न जीवात्मा द्वारा ईश्वराव्यय के प्रति समर्पणलक्षणा भक्ति का अभाव एवं अभ्यासपूर्वक आत्मसमर्पण और "मय्येव मन आधत्स्व" की फलश्रुति—

उक्त ईश्वराव्ययात्मसमर्पणलक्षणा भक्ति प्राप्त कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। ऐन्द्रियक कर्म्मों का सञ्चालन प्रज्ञान मन के द्वारा होता है, मन का सञ्चालन बुद्धि के द्वारा होता है। भौतिक जगत् में आसक्त बुद्धि, और मन, दोनों के द्वारा भूतात्मा में स्वयंकर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है। यही अभिमान बुद्धि और मन को मत्पर ईश्वराव्यय पर) नहीं बनने देता। 'हम विचार पूर्वक करते हैं' इस प्रकार की बुद्धिमानी, और मनस्विता ही एक ऐसी दीवार है, जो मनोयुक्ता बुद्धि का ईश्वराव्यय के साथ योग नहीं होने देती। फलस्वरूप बुद्धि के विषयानुगत विचारों, एवं मन के विषयानुगत संकल्पों के प्रभाव में पड़े हुए जीवात्मा की ईश्वराव्यय के प्रति न तो समर्पण बुद्धि ही हो पाती है, न तदनुरूप संकल्प ही होपाता है। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का यही उपाय है कि, हमें अपने प्रत्येक कार्य्य में बार बार अवधान पूर्वक यह अभ्यास करना चाहिए कि-मेरे विचार वास्तव में उसके विचार हैं, मेरा संकल्प उसका संकल्प है। मन-बुद्धि तो उसके संकल्प-विचारों के केवल निर्गमन द्वार हैं। अवश्य ही इस सतत अभ्यास से कालान्तर में मनो-बुद्धि के द्वारा जीवात्मा का ईश्वराव्यय मे समर्पण हो जाएगा। अभ्यास करने की देर है। साथ ही अभ्यास को दृढमूल बनाने की भी। निःसन्देह आत्मसमर्पण निश्चित है। भक्तियोगसाफल्य के इसी उपाय का-'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि सप्तमश्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ७ ॥

४५-योगमायावच्छिन्न भी जीवात्मा का मनोबुद्धि-चिराभ्यस्त-अनन्यनिष्ठा द्वारा अव्ययात्मानुबन्धी ब्रह्मसम्पत्ति अधिकारित्व, गुणत्रयोर्जस्वित द्वन्द्वाघातों से निष्कृति एवं "मां च योऽव्यभिचारेण" द्वारा अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोग के स्वरूप का निदर्शन—

इसप्रकार चिरकालिक अभ्यास से जिस का मनोबुद्धियुक्त जीवात्मा अनन्यनिष्ठा से, पूर्वप्रतिपादिता अव्यभिचारिणी भक्ति के बल से ईश्वराव्यय में अपने आपको अर्पित करदेता है, वह जीवात्मा स्व-

योगमायावच्छिन्न रहता हुआ भी योगमायानुबन्धी त्रिगुणभाव से अतीत होकर निर्गुण अनादि अव्ययात्मा (ईश्वराव्यय *) नुबन्धी नित्य ब्रह्मसम्पत्ति का अधिकारी बनजाता है, शाश्वतब्रह्म (अव्ययब्रह्म) की पराशान्ति का सत्पात्र बनजाता है। उस दशा में पहुँचे बाद गुणत्रय से सम्बन्ध रखने वाले किसी द्वन्द्व का इस द्वन्द्वातीत भक्त पर आक्रमण नहीं होने पाता। अपितु यह गुणातीत ईश्वराव्ययवत् सुख-दुःख, भाव-अभावादि यच्चयावत् द्वन्द्वों में एकरस बना रहता है। अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोग के इसी प्राकृतिक फल का-'मां च योऽव्यभिचारेण०' इत्यादि अष्टम श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ८ ॥

४६-धर्म्म--ज्ञान--वैराग्य-ऐश्वर्य्य-सम्पत्ति--मूलस्रोत ईश्वराव्यय द्वारा भक्तप्रवर नरसी--प्रह्लाद आदि के योगक्षेम का निर्वहण एवं बुद्धियोगनिष्ठाविच्युत स्वपुरुषार्थाश्रयपरायण, अहर्निश हरिनाम संकीर्तन व्यसनयुक्त भी अशन-वसन-चिन्ता चक्रारूढ़, लोकायतिक आडम्बर-ग्राहियों की विचलित आस्तिक्यनिष्ठा और 'अनन्या श्चिन्तयन्तो माम्' के स्वरूप का उपबृंहण—

श्रद्धा-विश्वासात्मिका उक्तलक्षण अनन्यात्मशरणागति, किंवा प्रपत्ति के अनुगामी भक्त की दृष्टि में यद्यपि योग-क्षेम की चिन्ता का कोई महत्त्व नहीं है, तथापि इस मार्ग में प्रवेश करनेवाले प्रपत्ति-मार्गानुयायियों के सम्बन्ध में आरम्भ दशा में यह अवश्य ही कहा जासकता है कि, उन्हें यदाकदा योग-क्षेम की भी चिन्ता हो पड़ती है। जब तक अभ्यास दृढ़मूल नहीं होजाता, तब तक मनबुद्धि में अव्ययात्मानन्यता उत्पन्न नहीं होती। एवं तब तक यदाकदा सांसारिक द्वन्द्वों को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। फलस्वरूप जीवात्मा की दृष्टि यदाकदा अपने पुरुषार्थ पर चली जाती है और इसप्रकार यदाकदा वह योग-क्षेम की चिन्ता में निमग्न होजाता है। आरुरुक्षु ऐसे भक्तों की इस चिन्ता की आत्यन्तिक निवृत्ति करते हुए भगवान् कहते हैं कि-अवश्य ही जब तक शरणागतिमार्गारूढ व्यक्ति में अनन्यता नहीं आजाती, तब तक उसे योग-क्षेम की चिन्ता होगी। परन्तु जिस दिन उस की यह प्रपत्ति अनन्य होजाएगी, सदा सर्वदा के लिए उसका यह विश्वास दृढ होजाएगा कि- 'ईश्वराव्ययेच्छा ही सर्वकर्म्मसञ्चालिका है, तो उस अवस्था में स्वयं ईश्वरीयबल से ही भक्तवर नरसी, प्रह्लाद आदि की भाँति उसकी सब आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी एवं उसे स्वयं को योगक्षेम की चिन्ता न करनी पड़ेगी। सिद्धान्त केवल अन्धश्रद्धानुगामी नहीं है, अपितु तात्त्विक है, सत्य है। ईश्वराव्यय सर्वज्ञ है, पूर्ण है, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य सम्पत्तियों का मूलस्रोत है। जीवात्मा अल्पज्ञ है, अपूर्ण है, बुद्धियोगनिष्ठाविच्युति से धर्मादि चारों सम्पत्तियों से वञ्चित है। जब तक इसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा है, तबतक योगक्षेम की चिन्ता दुर्निवार है। जिस दिन यह अनन्य भाव से अपने आप को उस पूर्णेश्वर में समर्पित कर देता है, उसी क्षण उसकी पूर्ण विभूतियों का इस अपूर्ण में समावेश होजाता है। उस दशा में योग-क्षेम की तो क्या कथा, विश्व की कोई भी विभूति ऐसी नहीं बच रहती, जिसे यह प्राप्त न कर सकता हो। जो लोग अहोरात्र ईश्वर का उद्घोष करते हुए भी, हरिनामसंकीर्त्तन में

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ (गीता १३।३१)

मत्त रहते हुए भी खाने-पीने की चिन्ता से संत्रस्त रहते हैं, विश्वास कीजिए-उनका यह उद्घोष केवल बाह्याडम्बर है। भक्तिमार्ग उनके स्वार्थ साधन के लिए एक बहाना है। भोले समाज की दृष्टि में भले बन कर वे उस से अनुचित लाभ उठाने के लिए ही यह आडम्बर कर रहे हैं। ऐसे आडम्बरियों से, ईश्वरभक्तों से तो वे कहीं श्रेष्ठ माने जाएँगे, जो ईश्वर को न मान कर अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करते हैं। कम से कम वे लोकायतिक अपने आप को और अपने समाज को तो धोका नहीं देते। आस्तिक भारतवर्ष की आस्तिक प्रजा आज ६६ प्रतिशत इसी योग-क्षेम की चिन्ता में निमग्न है। बड़े से बड़े नेता, सामान्य से सामान्य व्यक्ति, सभी के सामने आज अन्न-वस्त्र का महद्भय समुपस्थित है। प्रतिक्षण उसके सम्मुख-क्या होगा, क्या करेंगे, क्या खाएँगे की चिन्ताएँ नृत्य कर रही हैं। क्या यही ईश्वरनिष्ठा है, क्या इसी को अस्तिकता कहते हैं, क्या यही सनातन धर्म्म है, क्या ऐसे सनातन धर्म्मियों से ही २० करोड़ संख्या की पूर्ति समझी जारही है? हम समझते हैं-यह ईश्वर सत्ता का विशुद्ध दुरुपयोग है। ऐसे आस्तिकों की तुलना में तो नास्तिकवर्ग कहीं श्रेष्ठ है, जो अपने समय का आडम्बर में दुरुपयोग न कर लौकिक-पुरुषार्थ तो कर रहा है। जो वास्तव में प्रपन्न है, शरणागत है, ईश्वरनिष्ठ है, उसके सामने कभी योग-क्षेम का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होसकता। मानवस्वभावसुलभ इसी स्वाभाविक चिन्ता का मूलोत्पाटन करते हुए भगवान् ने शरणागति-मार्ग की निष्कण्टकता का विश्लेषण किया है, जिसका-**'अनन्याश्चिन्तयन्तोमाम्०'** इत्यादि नवमश्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है। ६।

४७-'तत्राखिलामरमयो हरि राविरासीत्'' गजेन्द्रमोक्ष के इस प्रत्ययसूत्र से अपरिचितों के आरम्भिक आस्तिक्य की उत्तरकाल में नास्तिक भावोपपन्नता एवं तन्निरसन प्रयास—

यह कहते सुनते देखा गया है कि-''क्या करें, हम तो उसे कभी नहीं भूलते, परन्तु, देखते हैं-आपत्तियों से पीछा ही नहीं छूटता। उसे कभी नहीं भूलते, फिर भी समय पर वह हमारी रक्षा करने नहीं 'आता'। कभी कभी तो यह अविश्वास इस सीमा पर पहुँच जाता है कि, अपनी पूर्वदशा में ईश्वरपरायण आस्तिक भी उत्तर दशा में घोर नास्तिक बन जाता है और श्रेणिविभागापेक्षया ऐसे अविश्वस्त समुदाय में यह प्रवाद चल पड़ता है कि-''ईश्वर नाम का कोई तत्त्व प्रथम तो है ही नहीं और यदि है भी तो उसे सरलता से प्राप्त कर लेना असम्भव है। यहाँ रात दिन परिश्रम करते करते भी पेट नहीं भरता, तुम कहते हो, उसका स्मरण करो। समय कहाँ से आवे। फिर-''भूखे भजन न होइ गुसाईं'' भी तो कुछ तथ्य रखता है। जाने भी दो, ऐसे दुःसाध्य साध्य को सिद्ध-प्रसन्न करने के लिए प्रयास करना व्यर्थ है''। भक्तिमार्ग की इसी विप्रतिपत्ति का, जो कभी कभी ह ईश्वरनिष्ठा से च्युत कर दिया करती है-निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि, भूलते हो।

४८-नित्य आत्मयुक्त के लिए सर्वथा सुलभ अव्ययेश्वर एवं कर्तव्यकर्म्मों के साथ ईश्वरीय भावना का अनन्ययोग सम्पादन—

कौन कहता है-तुम्हें समय नहीं मिलता। कौन कहता है-तुम परिश्रम करना छोड़ दो। कौन कहता है-अपने जीवनौपयिक कर्त्तव्यकर्म्मों को छोड़ कर ईश्वरस्मरण के लिए पृथक् समय निकालो। जो कुछ

तुम कर रहे हो, करते जाओ। केवल उस कर्त्तव्य कर्म्म के साथ ईश्वरीय भावना का अनन्ययोग करते जाओ। करो सब कुछ, भावना यह रक्खो कि, उसी की प्रेरणा से होरहा है, वही कर रहा है। विश्वास करो-नित्य आत्मयुक्त ऐसे योगी के लिए वह अव्ययेश्वर सर्वथा सुलभ है। मार्ग में पैर तो रक्खो, तुम देखोगे-जिसे तुमने दुष्प्राप्य मान रक्खा है, वह कैसा सुलभ है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए-जिन्हें तुम सुलभ मान रहे हो-फिर भी इतस्ततः तुम्हें दौड़ना पड़ता है। परन्तु वह तो केवल भावनामात्र से प्राप्त किया जासकता है। प्राप्त क्या किया जासकता है, वह तो सदा सर्वदा प्राप्त ही है। केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। जिस दिन तुम अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों के साथ तद्भावना का अनन्य भाव से योग करदोगे, उसी दिन तुम उस हृदयस्थ ब्रह्म के दर्शन करलोगे और इसप्रकार बड़ी सुगमता से, किन्तु थोड़े मनोयोग से वह सर्वथा सुलभ बन जायगा। 'अनन्यचेताः-सततं०' इत्यादि दशम श्लोक से इसी भाव का विश्लेषण हुआ है। १०।

४९-'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवत्प्रतिज्ञात अनन्यशरणयत्व, एवं अव्यक्तज्ञान-कर्म्मात्मक ज्ञानबुद्धियोगानुगत ज्ञानयुक्त और जीवात्मज्ञानक्षरकर्म्मात्मक धर्म्मबुद्धियोगानुगत कर्म्मयुक्त, उभयापेक्षया द्वन्द्वमुक्त, अव्ययपरक भक्त्यनुगामी भक्त पर अव्ययेश्वर का प्रियभाव—

'न मे भक्तः प्रणश्यति, यो मे भक्तः स मे प्रियः' इत्यादि भगवत्-प्रतिज्ञाओं के अनुसार अनन्य शरणागत ऐसा प्रपन्न भक्त कभी म्लान नहीं हो सकता। पूर्व में बतलाए गए सतत अव्ययात्म-भावना जनसम्पर्कारति विविक्तदेश-सेवित्व आदि उपायों को अग्रणी बना कर जो अव्ययेश्वर की उपासना करते हैं, परमश्रद्धा से युक्त वैसे भक्त निश्चयेन अपने सगुण-जीवात्मभाव से विमुक्त होकर निर्गुण अव्ययात्मभाव में परिणत होते हुए द्वन्द्वविमुक्त बन जाते हैं, एवं यही उन भक्तों की मत्परता (अव्ययपरता) है। ऐसे भक्त, ऐसी भक्ति के अनुगामी अव्यक्तज्ञानकर्म्मात्मक ज्ञानबुद्धियोगानुगत ज्ञानयोगियों की अपेक्षा, तथा जीवात्म-ज्ञान-क्षरकर्म्मात्मक धर्म्मबुद्धियोगानुगत कर्म्मयोगियों की अपेक्षा अव्ययात्मा के निकटतम हैं, एवं यही इनका उसके लिए प्रियभाव है, जिसका—'ये तु धर्म्यामृतमिदम्०' इत्यादि एकादशश्लोक से स्पष्टी-करण हुआ है ॥११॥

५०-वैज्ञानिक श्रीकृष्ण का हृदयस्थ ईश्वराव्ययत्व, तदुपास्यतापरक विनियोग, धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थानोपशमनार्थ तदंशावतार एवम् अव्ययात्महृदयावच्छिन्न निर्गुणोपासनानिःशक्त-सामान्याधिकारियों के निःश्रेयसार्थ आचार्य्यों द्वारा लोकसंग्रहधिया शास्त्रविहित श्रौतस्मार्तकर्म्म प्रति निष्ठापूर्वक गुरु--अवतार--प्रतिमादि की उपासना का स्वरूप निरूपण—

उक्त वचनों की मीमांसा से हमें निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, गीता में जिस उपासनातत्त्व का विश्लेषण हुआ है, उसकी मूलप्रतिष्ठा हृदयस्थ ईश्वराव्यय ही है, जिसे वैज्ञानिक श्रीकृष्ण कहा जाता है। तत्त्वात्मक निर्गुण यही अव्ययकृष्ण वास्तव में उपास्य है। यह ही उपास्य है, जिसका समय २ पर धर्म्मग्लानि-

उपशम के लिए अंशावतार हुआ करता है। जो सामान्याधिकारी अव्ययात्मा के इस हृदयावच्छिन्न निर्गुण अव्ययात्मा की उपासना करने में असमर्थ हैं, उनके कल्याण के लिए साम्प्रदायिक आचार्य्यों ने अवतार, गुरु अवतारप्रतिमा आदि को मध्यस्थ बनाते हुए आरम्भ में इन माध्यमों की उपासना का आदेश दिया है, जो आदेश लोकसंग्रहदृष्टि से संग्राह्य कहा जासकता है। तत्त्वतः गीता की उपासना का यही चरम लक्ष्य है कि, शास्त्रविहित-श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों में आरुढ रहते हुए प्रत्येक कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से अव्ययात्मभावना का अनुगमन करते रहना चाहिए।

५१- सामान्यजनों के लिए निरूपित सगुणोपासना, तद्द्वारा निर्गुणाव्ययभक्त्यधिकारित्वप्राप्ति, शास्त्रोक्त वर्णाश्रमाचारादि का एकान्तपक्षपातित्व, एवं अद्यतन भक्तिमार्ग का तत्प्रातीप्य अथापि लोकैषणा वित्तैषणा निमग्न सम्प्रदायवाद का झञ्झा-ताल-मृदङ्गाश्रयीभूत भूतोपासन एवं आवरणवेष्टित पङ्क प्रक्षालनव्यर्थ प्रयासानुबन्धि-गाङ्गवारि-उदाहरणोपक्रम—

जो अव्ययात्मभावनानुगमन में असमर्थ हैं, उन्हें सुविधानुसार समय निकाल कर सगुणोपासना का अनुगमन करना चाहिए, जिस की इतिकर्त्तव्यता में अवतारादि प्रतिमापूजन, भगवन्नाम-संस्मरण, भगवत्भक्तसेवा, आदि कर्त्तव्य समाविष्ट हैं। ये सब बाह्यउपाय उस मध्यावरण को हटाने मात्र में उपयोगी हैं, जिन से अव्ययात्मनिष्ठा प्राप्त नहीं होरही। इन उपायों से आत्मविशोधन होता है, सत्त्वगुणातिरेक होता है। कालान्तर में शनैः शनैः ऐसा सगुणोपासक उस गीतालक्ष्यभूत निगुर्णाव्ययभक्ति का अधिकारी बन जाता है, जो भक्ति भक्त का परम पुरुषार्थ माना गया है। इस प्रकार लोकप्रचलित प्रतिमापूजन-नामसंकीर्त्तनादिलक्षण भक्तिमार्ग गीतादृष्टि से साधन कोटि में ही प्रतिष्ठित है। इस साधन दशा में भी यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, कहीं हम श्रौत-स्मार्त्त शास्त्रीय कर्म्मों में तो उपेक्षा नहीं कर रहे। शास्त्रोक्त-वर्णाश्रमाचार-धर्म्मानुगत कर्म्ममार्ग पर आरुढ रहने वाले के लिए ही उक्त साधन लक्ष्य पर पहुँचाने में समर्थ होते हैं। इस विषय पर बल इस लिए दिया जारहा है कि, आज भक्तिमार्ग का अतिशयरूप से दुरुपयोग किया जारहा है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न मानी जाएगी कि-वर्त्तमान भक्तिमार्ग वर्णाश्रम धर्म्म का विरोधी बन रहा है। यह देखा गया है कि, श्राद्धकर्म्म में जिन योग्य ब्राह्मणों को भोजन कराने का विधान हुआ है, साम्प्रदायिक जगत् में उस शास्त्रविधि की उपेक्षा कर उसे निमन्त्रित किया जाता है, जो उस सम्प्रदाय में दीक्षित है। एक श्रौत-स्मार्त्त धर्म्मपरायण ब्राह्मण की उपेक्षा की जाती है, एवं नाममात्र के शूद्र-वैष्णव को श्राद्धभोजी मान लिया जाता है। एक शूद्र उनके लिए व्यवहार्य्य है जिसने गले में कण्ठी पहनली हो। परन्तु, वह सदाचारी-विद्वान् ब्राह्मण भी उन के लिए अव्यवहार्य्य है, जिस ने सम्प्रदायाचार्य्य से कान में न मन्त्र सुना, न कण्ठी धारण की। समय विशेषों में प्रादुर्भूत भारतीय सम्प्रदायों का जन्म जिस वेदशास्त्र को मूलाधार बनाकर सामयिक परिस्थिति को संभालने के लिए हुआ था, वही सम्प्रदायवाद व्यक्ति प्रतिष्ठामूलक स्वार्थों की रक्षा-लिप्सा में पड़कर अपने उस मूलाधार को छोड़ चुका है, यह वर्त्तमान संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होरहा है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस भक्तिमार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, वह आध्यात्मिक

भक्तिमार्ग वर्त्तमान साम्प्रदायिक आचार्यों की लोकैषणा, तथा वित्तैषणा से विशुद्ध भूतवाद बन गया है। प्रात: काल से सायंकाल पर्य्यन्त ही क्यों, चौबीसों घन्टों हम वित्तैषणा में निमग्न रहते हैं। प्रतिक्षण-प्रतिपल हमारी बुद्धि-मन भौतिक-सम्पत्ति संग्रह के उपाय खोजने में लगे रहते हैं। और अपने इस अर्थकाण्ड को छिपाने के लिए झञ्झा-ताल-मृदङ्ग का सहारा लेकर नामसंकीर्त्तन द्वारा भक्तिमार्ग का आश्रय ढूंढा करते हैं। हम मानते हैं पवित्र गाङ्गेय में दूषित कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति है, और पर्य्याप्त मात्रा में हैं। परन्तु, साथ ही यह भी जानते हैं कि, यदि एक काच की बोतल में कीचड़ भर कर उस का मुख दृढरूप से बन्द कर उसे गङ्गाप्रवाह में डाल भी दिया जाता है, तब भी आवरण वेष्टित कीचड़ की पवित्रता असम्भव है। ठीक इसी भांति नामसंस्मरण में सभी कुछ शक्तियाँ विद्यमान हैं, यह मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि, जिन की वृत्तियाँ भूतोपासनाओं में संलग्न हैं, जो अपने व्यावहारिक जगत् में अपने पुरुषार्थ को ही प्रधानता दे रहे हैं, उन का यह नामस्मरण कभी उन्हें भक्ति के लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता।

५२-ज्ञानकर्म्ममार्गापेक्षया भक्तिपथ का आपातसारल्य, तद्द्वारा सर्वधर्म्मपरित्याग पूर्वक अनन्यनिष्ठात्वेन अव्ययात्मप्रपत्त्यर्थ शरणागतिलक्षण आत्मार्पण एवं प्रकरणोपात्त उपासनालक्षण निरुक्तिप्रक्रम—

ज्ञान और कर्म्म की अपेक्षा भक्तिमार्ग सरल है, यह माना जासकता है, परन्तु जब हम इस मान्यता का विश्लेषण करने चलते हैं, तो कहना पड़ता है कि, सर्वथा सरल प्रतीयमान यह भक्तिमार्ग एक दृष्टि कोण से ज्ञान-कर्म्म की अपेक्षा भी कहीं जटिल पथ है। अनन्यनिष्ठा से आत्म समर्पण ही वह दृष्टि कोण है, जिसे प्राप्त कर लेना बालक्रीड़ा नहीं है। नामसंकीर्त्तन करने वाले भक्तों में से कितने ऐसे भक्त मिलेंगे, जिन्हें सर्वधर्म्मपरित्याग पूर्वक अनन्यनिष्ठा से अव्ययात्मप्रपत्ति प्राप्त होगई है ? मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए, और फिर इस राजमार्ग के तथ्यातथ्य का निष्कर्ष निकालिए। हमारा तो इस सम्बन्ध में केवल यही निवेदन है कि, गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग श्रौत-स्मार्त्त-शास्त्रीय आदेशोपदेशों को मूलाधार बनाकर ही प्रवृत्त हुआ है। वर्णाश्रमधर्म्म ही भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा है। इस की उपेक्षा कर कोई भी सम्प्रदाय भारतीय वैध भक्तिमार्ग की-जिसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहा गया है—रक्षा नहीं कर सकता। फलतः वर्णाश्रमधर्म्मानुगत भक्तिमार्ग ही गीता का वास्तविक भक्तिमार्ग है, एवं यही आत्मप्रपत्तिलक्षणा अनन्यशरणागति है, जिस का विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से समन्वय किया है। प्रसङ्गोपात्त गीता-सम्भव शरणागति का दिग्दर्शन कराया गया। अब प्रकरणोपात्त उपासना-लक्षणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

५३-भारतीयपरिभाषापद्धति में लक्षणनिर्वचन का महत्त्वपूर्ण परीक्षाङ्गत्व एवं अद्वैत-निष्ठ भगवान् शङ्कराचार्य्य निरुक्त उपासनालक्षण निर्वचन, अपिच मीमांसाधिया तल्लक्षणों का यथासंख्य दिग्दर्शन—

प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है-उपासनालक्षणनिर्वचन। लक्षण से लक्ष्यीभूत तत्त्व का भली-भांति विश्लेषण होजाता है, अतएव लक्षणपरीक्षा को भारतीयपरिभाषा में एक महत्त्वपूर्ण परीक्षाङ्ग माना गया

है। अद्वैतनिष्ठ भगवान् शङ्कराचार्य्य, विशिष्टाद्वैतनिष्ठ भगवान् रामानुजाचार्य्य, शुद्धाद्वैतनिष्ठ भगवान् वल्लभाचार्य्य, आदि सम्प्रदायाचार्य्यों ने उपासना के जिन जिन लक्षणों का उद्घाटन किया है, उन सबकी मीमांसा का न तो प्रकृत में अवसर ही है, एवं न विशेष उपयोग ही। यहाँ केवल श्रीशङ्कराचार्य्यसम्मत लक्षण की मीमांसा ही पर्य्याप्त होगी। क्योंकि, भगवान् शङ्कर ने उपासना का जो लक्षण किया है, अन्य साम्प्रदायिकों के लक्षणों की तुलना में वही विशेषरूप से विज्ञानभित्ति पर प्रतिष्ठित है। शङ्करसम्मत लक्षण के अतिरिक्त संगृहीत अन्य शास्त्रसम्मत लक्षण भी प्रामाणिक माने जासकेंगे। उन सब लक्षणों की यहाँ मीमांसाक्रम से तालिका उद्धृत कर दी जाती है, जिनका उसी संख्याक्रम से दिग्दर्शन कराया जाएगा—

१—"उपासनं नाम—समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शाङ्कर भाष्य ४।१।७।)

२—"निर्भ्रान्तज्ञानसहयोगेनान्यस्मिन्नन्यभावनाबुद्धिरुपासनम्"।

३—"लक्ष्यान्तरसिद्ध्यर्थमन्यलक्ष्यस्थितिरुपासनम्"।

४—विश्वासगर्भितश्रद्धा—सूत्रसहयोगेन लक्ष्ये मनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्"।,

५—"उपास्यदेवताभक्तिप्राप्त्यर्थमनुष्ठीयमानकर्म्मानुगमनमुपासनम्"।

६—"जीवात्मनः परमात्मभक्तिकरणमुपासनम्"।

७—"उपास्यवृत्त्यनुकूलवृत्तिधारणमुपासनम्"।

८—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवदपेक्षाबुद्धिसहकृताया भावनाबुद्ध्यास्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वमुपासनम्"।

९—"आधिभौतिके कस्मिंश्चिदर्थे बाह्यदृष्टिं विन्यस्य तन्मूलकमसंनिकृष्टे कस्मिंश्चिदाधिदैविकेऽर्थान्तरे मनोदृष्टिसमुन्नयनमुपासनम्"।

१०—"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षेऽर्थे प्रत्ययप्रवाहसम्पादनमुपासनम्"।

११—"बुद्धिसंनिकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थ-प्रत्ययधारणमुपासनम्"।

१२—"विजिज्ञासितस्य भावस्य यत्किञ्चित्—रूपं प्रतिपद्य तत्र सत्यत्वेनास्था—धारणं श्रद्धानम्। श्रद्धानपारवश्यात् तदनुकूला वैज्ञानिकी परिचर्य्या ध्यानादिरूपा बुद्धियोगस्तदुपासनम्"।

१३—"अयमीश्वरोऽस्तीति विश्वासभाजां दृढ़प्रत्ययेन सूर्य्ये, उद्गीथे, गुरौ, अवतारपुरुषे, तत्प्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणमुपासनम्"।

१४—"मनसा धार्य्यमाणेऽर्थे मनःसंयमेन बुद्धिस्थैर्य्यमुपासनम्"।

इत्यादि—

५४–समानप्रत्ययप्रवाहकरणलक्षणात्मिका उपासना, अन्तःकरण–अन्तःकरणवृत्ति–विषय-त्रिकावच्छिन्न चैतन्यसमन्वयी 'प्रत्यय', ज्ञातृ–ज्ञानसाधन–ज्ञेय–त्रिचैतन्य-धारा–समन्वित-विषयप्रत्यक्ष, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' नुसारी पदार्थेन्द्रियवर्ग भौतिकविषयों का ब्रह्मात्मकत्व एवं 'घटमहं जानामि' प्रत्यय में पदार्थेन्द्रिय भौतिकविषयत्रयी की समन्विति—

भगवान् शङ्कर का कहना है कि, "ज्ञान का जो समानप्रवाह है, वही उपासना है, वही उपासना है"। शङ्करलक्षण में प्रथमलक्षणसमन्वय 'प्रत्यय' की समानप्रवाहता का उल्लेख हुआ है। वेदान्तपरिभाषानुसार 'प्रत्यय' उस ज्ञान का नाम है, जिसमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्य–वच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन तीन चैतन्यों का समन्वय रहता है। ज्ञाता, ज्ञानसाधन, ज्ञेय, तीनों की चैतन्य (ज्ञान धारा के समन्वय से ही ज्ञान (विषयज्ञान–विषयप्रत्यक्ष) का उदय होता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञाता 'अहं' पदार्थ भी ब्रह्मात्मा (ज्ञानात्मक) है, ज्ञानसाधन इन्द्रियवर्ग भी ब्रह्मात्मक है, एवं ज्ञेय भौतिक विषय भी ब्रह्मात्मक ही हैं। इन तीनों का जबतक एकत्र समन्वय नहीं होजाता, जबतक प्रत्यय (विषयप्रत्यक्ष) नहीं होसकता। उदाहरण के लिए 'घटमहं जानामि' इस घट प्रत्यय को ही लक्ष्य बनाइए। आपके सामने घट रक्खा हुआ है। पुरोऽवस्थित इस घट के आधार पर आपको–'मैं घड़े को जानता हूं' यह प्रत्यय होता है। इस घटज्ञान में द्रष्टा आत्मा का ज्ञान, दृश्य घट का ज्ञान, दर्शनसाधक इन्द्रियज्ञान, तीनों का समन्वय हो रहा है।

५५–त्रिधारासमन्वित 'त्रिपुटीज्ञान', 'घटमहं जानामि' इत्यात्मक पूर्वोक्त उदाहरण के –'चक्षुरिन्द्रिय घट पर जाती है अथवा चक्षुरिन्द्रिय पर घटाकार उपस्थित होता है'-प्रश्नात्मक शङ्काशङ्कु का निरसन एवं तेजोमण्डपरिधिगामी चक्षुर्व्यापार का अप्राप्यकारित्व—

उक्त घटज्ञान में क्योंकि, तीन ज्ञानधाराओं का समन्वय हो रहा है, अतएव यह प्रत्यय 'त्रिपुटी ज्ञान' नाम में व्यवहृत हुआ है। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, घटविषय पर हमारी चक्षुरिन्द्रिय जाती है, अथवा घटाकार चक्षुरिन्द्रिय पर आता है? सर्वसाधारण की प्रत्यभिज्ञा के अनुसार यद्यपि इस प्रश्न का यही उत्तर होता है कि, विषयों पर हमारी दृष्टि जाती है। तथापि विज्ञानदृष्ट्या यह उत्तर इसलिए असमीचीन है कि, अपने आध्यात्मिक मण्डल को छोड़ कर किसी भी इन्द्रिय का विषय पर जाना सम्भव नहीं है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय पर आता है, रस रसनेन्द्रिय पर आता है, स्पर्श त्वगिन्द्रिय पर आता है। एवमेव रूप (आकार) भी चक्षुरिन्द्रिय पर आता है, न कि चक्षुरिन्द्रिय विषयाकार पर जाती है। कारण स्पष्ट है। अप्राप्यकारित्व सर्वेन्द्रियवर्ग का सामान्य धर्म्म माना गया है। जिस स्थान पर घट रक्खा हुआ है, एवं जिस स्थान पर हम खड़े–अथवा बैठे हैं, उसके मध्य में केश–सूक्ष्मतन्तु–आदि अन्य विषय भी, मान लीजिए, पड़े हुए हैं। हम घड़ा तो देख लेते हैं, परन्तु घट की अपेक्षा समीपस्थ केशादि सूक्ष्मपदार्थों को देखने में असमर्थ होजाते हैं। यदि हमारी आँख ही घट पर जाती, तो मध्यस्थ

केशादि का भी वह अवश्य प्रत्यक्ष कर लेती। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव मनना पड़ता है कि, श्रोत्रेन्द्रियादि अन्य इन्द्रियों की भाँति चक्षुरिन्द्रिय भी अप्राप्यकारी ही है। यदि किसी दार्शनिक ने चक्षु को प्राप्यकारी माना है, तो इसका तात्पर्य्य केवल चक्षुर्मण्डल से सम्बन्ध रख सकता है। तेजोभावशून्य इन्द्रियों का जहाँ मण्डल नहीं बनता वहां तेजोघन आदित्यप्राण से निर्म्मित चक्षुःप्राण का एक तेजोमण्डल बना करता है। इस तेजोमण्डल की परिधितक चक्षुर्व्यापार की व्याप्ति रहती है। जो वस्तु इस मण्डल में आजाएगी, चक्षुरिन्द्रिय उसी का प्रत्यक्ष कर सकेगी।

५६–चाक्षुष प्राण एवं क्षरकूटात्मक भौतिक विषयपिण्ड के स्वस्थान त्याग की असंभाव्यता एवं अप्राप्यकारी चक्षुरिन्द्रिय से विदूरस्थ घटाकार में लघुमहत्तारतम्यानुभूति आधारेण पक्ष स्थापन—

उक्त कथन से कुछ ऐसा भान हो रहा है कि, मन्तव्यानुसार चक्षुरिन्द्रिय तो विषय पर नहीं जाती, किन्तु विषय अवश्य इन्द्रियमण्डल में प्रविष्ट होता है। क्या यह मन्तव्य ग्राह्य है ? नहीं। जिसप्रकार चाक्षुषप्राण का स्वस्थान त्याग असम्भव है, एवमेव क्षरकूटात्मक भौतिक विषय पिण्ड का स्थान त्याग भी असम्भव ही है। जिस हेतु से चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, उसी हेतु से यच्चयावत् पाञ्चभौतिक विषय भी अप्राप्यकारी ही हैं। पुरोऽवस्थित घट–पटादि के परमाणु यदि आंख पर आने लगें, तो परमाणु–संख्यासम दर्शकों की उपस्थिति में घट–पटादि की विलुप्ति हो जानी चाहिए। परन्तु देखते हैं, असंख्य दर्शकों के घटप्रत्यक्ष करने पर भी घट-का स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। यही क्यों, देखने वाले अनन्त, दृश्य घट सभी दर्शकों को दृश्यस्थान पर प्रतीत। यदि घट आंख पर आता, तो उस का दृश्यस्थान पर प्रत्यक्ष न होकर चक्षुःपटल पर प्रत्यक्ष होता। इस के अतिरिक्त यह भी प्रत्यक्ष है कि, घट प्रदेश के समीप खड़े–बैठे रहने वालों की अपेक्षा घटप्रदेश के विदूर खड़े-बैठे रहने वालों को घटाकार स्वल्प दिखलाई देने लगता है। यदि विषय का आंख पर आना मान लिया जाता है, तो दृष्टि के इस आकार–तारतम्य का समन्वय असम्भव हो जाता है। इन्हीं सब कारणों से मानना पड़ता है कि, यदि आंख विषय पर नहीं जाती, तो विषय भी आंख पर नहीं आता।

५७–'गायत्रीमात्रिक' सौर तात्विक वेद की विषयप्रत्यक्षमूलात्मता, 'सैषात्रयी विद्या तपति' प्रभृति श्रौतनिरुक्तिनिर्वचन तथा अग्नि वायु सूर्य्य प्राणात्मिका पार्थिवान्तरिक्ष्य दिव्य लोकावच्छिन्ना ऋग्-यजुः–साम त्रयी विद्या का संवत्सरयज्ञ जननोत्व एवं स्मार्तवचनों का संस्मरण—

आंख जाती नहीं, विषय आता नहीं, परन्तु चाक्षुष–प्रत्यक्ष सर्वानुभूत है। कैसे इस जटिल समस्या का समन्वय किया जाय। वैज्ञानिक समन्वय करते हुए समाधान करते हैं कि, 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध सौर तात्विक वेद ही इस विषय प्रत्यक्ष की मूलप्रतिष्ठा है। 'सैषा त्रयी विद्यातपति' (शतपथ)–"त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" (स्मृतिः) इत्यादि श्रुति–स्मृति के अनुसार सूर्य्य वेदघन है। ज्योतिर्म्मय यही सौरवेद स्वसावित्र तेज के प्रतिफलित गायत्र तेजोभाव के सम्बन्ध से 'गायत्रीमात्रिक' कहलाया है, एवं यही चक्षु, तथा विषय दोनों का अनुग्राहक बनता हुआ विषयप्रत्यक्ष का कारण बनता है।

'सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत' (तै० ब्रा०) के अनुसार वस्तुपिण्ड को केन्द्र बना कर एक-विंशअहर्गणपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखनेवाला रथन्तरसाम तेजोमय बहिर्म्मण्डल माना गया है। पिण्ड (मूर्त्ति) सम्पादक ऋग्वेद का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। यही–'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' के अनुसार भौतिक पिण्ड का स्वरूपसमर्पक है। गतिभाव सम्पादक यजुर्वेद का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। यही–'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्' के अनुसार पिण्ड–अण्डान्तर्गत गतिभाव का प्रवर्त्तक है। एवं तेजोमण्डलात्मक सामवेद का द्युलोक से सम्बन्ध है। यही बहिर्म्मण्डल का स्वरूप सम्पादक है। पिण्डानुग्राहक पार्थिव ऋग्वेद आग्नेय है, गत्यनुग्राहक आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद वायव्य है, एवं मण्डलानुग्राहक दिव्य सामवेद सौर है। अग्नि–वायु–रवि–प्राणात्मिका पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–दिव्यलोकावच्छिन्ना ऋग्–यजुः–सामात्मिका त्रयी विद्या ही संवत्सरयज्ञ की जननी है। सम्वत्सरयज्ञ ही स्वावयवभूत ऋतुपर्वों से अग्नीषोमद्वारा–अग्नि–सोम के अन्तर्य्याम सम्बन्धात्मक याग द्वारा त्रैलोक्यभुक्त चराचरपदार्थों का जनक बनता है, जैसा कि–'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम्' (मनु०)–"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" (गीता) इत्यादि स्मार्त्तवचनों से प्रमाणित है।

५८–"पुरुष एवेदं सर्वम्" मंत्रानुगत यावत्पदार्थों का ऋक्सामावच्छिन्न यजुः पुरुषात्मभाव, ऋङ्मय वस्तुपिण्ड-साममय तेजोमण्डल-उभयसम्बन्ध परिणामि-मूर्त्तिमण्डलावच्छिन्न वस्तुतत्त्वप्रत्यक्षाधिगम और अग्नि, विद्युत्, तारकादि भूतज्योतियों का सौरज्योति में अन्तर्भाव—

उक्त वेदत्रयी में से ऋक्-साम का एक स्वतन्त्र विभाग है। ऋक् वस्तुपिण्डात्मक आकार का अनुग्राहक है, साम वस्तुमण्डलात्मक आकार का अनुग्राहक है। पिण्डाकार, मण्डलाकार, दोनों से आकारितस्थितिगर्भित गतिभाव ही वस्तुतत्त्व है, यही यत्–जू लक्षण यज्जूर्वेद है, यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यजुर्वेद है, जिसे ऋक्-सामात्मक स्पृश्य–दृश्यपुरों से सीमित रहने के कारण 'पुरुष' कहा जाता है (देखिए–शतपथ)। 'पुरुष एवेद सर्वम्' (यजुः संहिता) इत्यादि मन्त्रवर्णानानुसार सम्पूर्ण पदार्थ ऋक्सामावच्छिन्न यजुःपुरुषात्मक माने गए हैं। ऋङ्मय वस्तुपिण्ड के साथ जब तक साममय तेजोमण्डल का सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक मूर्त्ति–मण्डलावच्छिन्न वस्तुतत्त्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वस्तुपिण्ड केवल ऋक्सम्बन्ध से स्पृश्य है यही सामसम्बन्ध से दृश्य बना करता है। एवं इसी दृष्टिकोण से प्रत्येक भौतिक पिण्ड के स्पृश्य–दृश्य भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। जिस का हम स्पर्श करते हैं, उसे देख नहीं सकते। जिसे देखते हैं, उस का स्पर्श नहीं कर सकते हैं। स्पृश्यभाव पिण्डात्मक है, दृश्यभाव मण्डलात्मक है। मण्डलात्मक इस दृश्यभाव का अनुग्राहक सौरज्योतिर्म्मय गायत्रीमात्रिक सामवेद ही माना गया है। अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, तारक, इत्यादि यच्चयावत् भूतज्योतियों का सौरज्योति में ही अन्तर्भाव है। अतएव वस्तु के रथन्तरसामात्मक दृश्यमण्डल के प्रत्यक्ष में उक्त भूतज्योतियों में से किसी न किसी भूतज्योति का सहयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। ज्योति प्राणतत्त्व है, अतएव अधामच्छद है, स्थान नहीं रोकने वाला तत्त्व है। इस प्राणात्मक ज्योतिर्भाव का सम्बन्ध हमारे चाक्षुषमण्डल से भी होता है, पुरोऽवस्थित वस्तुमण्डल से भी होता है। मण्डलाकार वस्तुपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) के तारतम्य से बृहल्लघु होता है। तदनुरूप ही ज्योति का विस्तार होता है। एवं तदनुरूप ही प्रत्यय का उदय होता है।

५९- सौरसामानुग्रहावच्छिन्न "सामातिमान" का वस्तुप्रत्यक्ष निदानत्व, एवं वस्तुपिण्ड के बृहल्लघुभाव में विदूरसामीप्य-सापेक्ष कारणता—

पुरोऽवस्थित घट स्पृश्यपिण्ड है। इस के साथ सौरसाम का सम्बन्ध हुआ, चक्षु के ऊपर भी सौर-साम का अनुग्रह हुआ। दोनों वस्तुपिण्डों के ज्योतिर्म्मयमण्डलों का परस्पर अतिमान हुआ, जो कि सम्बन्ध-'**सामातिमान**' नाम से प्रसिद्ध है। यही सामातिमान वस्तुप्रत्यक्ष का कारण है। न आंख घट पर जाती, न घट आंख पर आता है। अपितु, चक्षु के तेजोमण्डल में घट के तेजोमण्डल का समावेश होता है। ज्योतिर्म्मय घटाकार चक्षुर्म्मण्डल में प्रविष्ट होता है। घट प्रत्यय हो जाता है। साममण्डल के उत्तरोत्तर बृहत् होने से वस्त्वाकार उत्तरोत्तर लघु होता जाता है। यही कारण है कि, हम ज्यों ज्यों वस्तुपिण्ड से विदूर होते जाते हैं, त्यों त्यों आकार प्रतीति लघु होती जाती है। एवं ज्यों ज्यों वस्तुपिण्ड के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों वस्त्वाकार बृहद् रूप से प्रतीत होने लगता है। इसप्रकार ज्योतिर्म्मय सौरसामवेद के अनुग्रह से वस्तु के बहिर्म्मण्डल का प्रत्यक्ष हुआ करता है। चक्षु और घट के मध्य में प्रतिष्ठित केश का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि, केश का ज्यतिर्म्मय मण्डल अपने वस्तुपिण्ड की लघिमा से चक्षुर्म्मण्डल में प्रविष्ट नहीं होने पाता। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, वस्तुप्रत्यक्ष में सौर सामवेद ही प्रधान कारण है। एवं इसी के उभयानुग्रह से अप्राप्य का चक्षु अप्राप्यकारी वस्तुपिण्ड का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है।

६०—सम्पूर्ण विश्व के द्रष्टा जीव और ईश्वर, सापेक्ष अन्तर-बहिर्जगत् परिच्छिन्नजीव और व्यापक ईश्वर, जीवदृष्ट सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-ग्रह-नक्षत्रादि का विश्वभुक्त सत्तात्मक सूर्य्यचन्द्रादि से असम्बन्ध एवं श्रीगुरु (मधुसूदन ओझा) प्रणीत संशयोच्छेदवाद—ग्रन्थ में "प्रत्ययैक सत्योपनिषत्" नामा सिद्धान्त का प्रतिपादन—

इस प्रत्यक्षज्ञान में तीन ज्ञानधाराओं का समन्वय होता है, जैसा कि परिच्छेदारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रत्यक्षज्ञान हमारा (द्रष्टा का) है। इस का तात्पर्य्य यह हुआ कि, प्रतीत होने वाले पदार्थ, किंवा ज्ञानीय पदार्थ द्रष्टा की प्रातिस्विक वस्तु हैं। इसी आधार पर तो द्रष्टा के दृश्य जगत् को विज्ञानभाषा में '**अन्तर्जगत्**' कहा जाता है। सम्पूर्ण विश्व में ईश्वर, जीव नामक दो द्रष्टा हैं। ईश्वर द्रष्टा महामायावच्छिन्न विश्व का एक द्रष्टा है। सप्तव्याहृत्यात्मक, किंवा पञ्चपुण्डीरात्मक महाविश्व का उस के ज्ञानीयधरातल पर वितान हुआ है। अतएव उस महाविश्व को हम उस एक ईश्वर द्रष्टा का अन्तर्जगत् कह सकते हैं। जो कि अन्तर्जगत्—लक्षण महाविश्व जीवद्रष्टाओं से परोक्ष रहता हुआ सर्वथा अप्रत्यक्ष रहता है। क्योंकि, ईश्वरीय अन्तर्जगत् (विश्व) जीवज्ञान सीमा से बहिर्भूत है, अतएव उसे जीवापेक्षया हम 'बहिर्जगत्' कह सकते हैं, ईश्वर व्यापक है, एक है। जीव परिच्छिन्न है, नाना है। अतएव जीवसर्ग से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानीय अन्तर्जगत् भी नाना, तथा परिच्छिन्न हैं, साथ ही हैं ईश्वरीय अन्तर्जगत् के गर्भ में समाविष्ट। ईश्वरीयज्ञान के लिए जीवान्तर्जगत् जहां अन्तर्जगत् ही है, वहाँ जीव ज्ञान के लिए ईश्वरीय अन्तर्जगत् सर्वथा बहिर्जगत् है। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों विश्लेषण किया जा सकता है कि, सूर्य्य—चन्द्र—पृथिवी-ग्रह—नक्षत्र-पर्वत—पशु—पक्षी--आदि जितने भी चराचर पदार्थ हम (जीव) देखते हैं, वे सब हमारे ज्ञान के बनाए हुए हैं। ईश्वरीय विश्वभुक्त सत्तात्मक सूर्य्यचन्द्रादि से हमारे इन दृश्य सूर्य्य--चन्द्रादि का कोई सम्बन्ध नहीं

हैं। सत्तासिद्ध ईश्वरीय दृश्य पदार्थों के आधार पर सौर सामवेद के द्वारा जीवज्ञान अपने ज्ञानीय धरातल पर सर्वथा अपूर्व दृश्यों का आविर्भाव करता है। तभी तो ज्ञान को त्रिपुटी कहना अन्वर्थ बनता है। इसी--आधार पर--'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नामक सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिस का श्रीगुरुप्रणीत संशयोच्छेदवाद नामक वादग्रन्थ में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

६१-हृदयस्थ ज्ञानकन्दल आत्मा पर प्रमाता-प्रमाण-प्रमितित्रिक के एकत्र समन्वय से "घटमहं जानामि" इत्यात्मक घट ज्ञान का उदय, अन्तःकरण-अन्तःकरणवृत्ति-विषय-त्रिकावच्छिन्न चैतन्यज्ञान-कृतरूप-घटप्रत्यय का "आधिदैविक" रूप एवं भौतिक-सत्तात्मक घटाधारेण समानप्रत्ययप्रवाहकरणात्मिका 'उपासना" की उभयात्मिकता—

ईश्वरीयअन्तर्जगत्--जो जीवदृष्ट्या बहिर्जगत् है--के आधार पर सामवदेद्वारा जीवज्ञानधरातल पर जो ज्ञानीय घट उत्पन्न होता है, उसी के लिए 'घटमहंजानामि' यह प्रयोग होता है। जिस घट के लिए 'अहं जानामि' वाक्य का अभिनय होता है, विश्वास कीजिए, उस घट ज्ञान का, किंवा ज्ञानीय घट का सत्तासिद्ध भौतिक ईश्वरीय घट से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जीव का अपना प्रातिस्विक ज्ञान है, प्रातिस्विक ज्ञानीय घट है, जिस ज्ञानीय घट के ज्ञाता--ज्ञानसाधन--ज्ञेय भेद से तीन पर्व माने जा सकते हैं। हृदयस्थ आत्मा ज्ञानकन्दल है, यही ज्ञाता है, यही प्रमाता है। इन्द्रियवर्ग ज्ञानसाधन हैं, प्रमाण हैं। एवं बहिजगत् के आधार पर सामवेदद्वारा प्रादुर्भूत इन्द्रियस्थानों में प्रतिष्ठित विषय ज्ञेय हैं, ये ही प्रमेय हैं। प्रमाता--प्रमाण-प्रमिति, तीनों के एकत्र समन्वय से ही--घटमहंजानामि' इस घट ज्ञान का उदय हुआ है, जिसे 'प्रमा' कहा जाता है। प्रत्येक विषय यथार्थ ज्ञान 'प्रमा' है, प्रत्यय है। एवं प्रत्येक प्रमात्मक प्रत्यय में प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय (आत्मा-इन्द्रिय-विषयाकार) तीनों का समन्वय है। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य (ज्ञाता) अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य (ज्ञानसाधन), विषयावच्छिन्न चैतन्य (ज्ञेय), तीनों ज्ञानों से कृतरूप घटप्रत्यय विशुद्ध ज्ञानात्मक है। इस घट प्रत्यय से भौतिक घट का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव जीवानुगत इस घट प्रत्यय को हम 'आधिदैविक घट' ही कहने के लिए सन्नद्ध हैं। यह ठीक है कि, घटप्रत्यय विशुद्ध-ज्ञानीय होने से आधिदैविक है। तथापि इस का उदय क्योंकि भौतिक-सत्तात्मक घट के आधार पर हुआ है, अतएव समानप्रत्ययप्रवाहकरणात्मिका उपासना को हम उभयात्मिका ही कहेंगे। कैसा ही प्रत्ययप्रवाह हो, बिना आधिभौतिक को मध्यस्थ बनाए उस का उदय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में भौतिक विषय को आधार बनाए बिना उपासना लक्षण का समन्वय नहीं किया जासकता। प्रत्यय प्रत्ययरूप से अवश्य आधिदैविक है। परन्तु इस का आधार आधिभौतिक ही है, जो कि एकप्रकार से साधनकोटि में प्रविष्ट है। इसीलिए तो उपासना के लक्षण का विश्लेषण करते हुए यह कहा जाता है कि–**"जिस में साधन आधिभौतिक हो, साध्य आधिदैविक हो, वही कर्म्मकलाप उपासना है"**।

६२-पूर्वोक्त "प्रत्ययत्रिपुटीभाव" निरूपक कारणता का दिग्दर्शन एवं अधिभूताधारेणैव आधिदैविक घटप्रत्ययोपपत्ति निर्वचन—

प्रत्यय का समान प्रवाह ही उपासना है, लक्षण के आधार पर अविचारितरमणीय भक्त यह कह दिया करते हैं कि,—"उपासना में भौतिक पदार्थ के माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यय ज्ञान है, उस

का नैरन्तर्य्य ही उपासना है। फलत: उपासना का विशुद्ध आधिदैविकत्व अक्षुण्ण रह जाता है। भौतिक माध्यम उपासनाकाण्ड में सर्वथा अनपेक्षित है" । इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमें प्रत्यय के त्रिपुटीभाव का स्पष्टीकरण करना पड़ा है। यह ठीक है कि, ज्ञानत्रयसमन्वय से उत्पन्न प्रत्यय तथा' उसका समानप्रवाह, दोनों स्वस्वरूप से विशुद्ध आधिदैविक ही हैं। परन्तु, इस आधिदैविक प्रत्यय की उत्पत्ति होती है-आधिभौतिक के आधार पर ही। यदि सत्तासिद्ध आधिभौतिक घट न हो, तो आधिदैविक घटप्रत्यय सर्वथा असम्भव है, मानना पड़ेगा कि-समानप्रत्ययप्रवाहलक्षणा उपासना आधिभौतिक को आधार बना कर ही उपपन्न है।

६३-"समानप्रत्ययप्रवाह करणम्" इस शाङ्कर सूत्रानुवर्तिनी उपासना के "समानत्व" का द्रढीकार एवं सूर्य्यचन्द्रशिवादि अवयव-देवताओं में से किसी एक का सातत्येन अनुवर्तित्वस्वीकार तत्र च मुहुर्मुहु देवपरिवर्तन कामिचाञ्चल्य क्लृप्त-गौणमुख्य-संप्रत्ययात् उपासनातत्त्व-विलुप्ति भय—

निष्कर्ष यह निकला कि, आधिभौतिक पदार्थ के माध्यम से उत्पन्न त्रिपुटीज्ञान का धारावाहिक अनुगमन करना ही उपासना है। हमने किसी भी भगवत् प्रतिमा के दर्शन किए। भगवत्-प्रतिमा आधि-भौतिक है, पाषाणमयी है। इसके आधार से हमारे मानस पटल पर भगवत्प्रतिमा का ज्ञानीय आकार खचित होगया। अब सोते खाते पीते उठते बैठते चलते फिरते अहर्निश उस आकार का, उसी प्रत्यय का निरन्तर ध्यान होरहा है। भगवत्प्रतिमाधारेण उत्पन्न भगवत् स्वरूपात्मक प्रत्यय का यह समान प्रवाह ही उपासना है। शाङ्करलक्षण में केवल **'प्रत्ययप्रवाहकरणम्'** नहीं कहा गया है, अपितु-**'समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्'** कहा गया है। प्रत्यय के समानत्व पर ही उपासनासिद्धि अवलम्बित है। अवयवोपासना, अवयवी उपासना, दोनों दृष्टिकोणों में महान् अन्तर है। यह ठीक है कि, उपासना अवयव की ही होती है। क्योंकि, जिस किसी भी भौतिक पदार्थ के माध्यम से तदनुरूप प्रत्यय उत्पन्न होगा, वह अवयवप्रत्यय ही होगा। समष्टिलक्षण महाविश्व का एककालावच्छेदेन प्रत्यय इसलिए असम्भव है कि, सीमित इन्द्रियवर्ग एककालावच्छेदेन समष्टि को माध्यम बनाने में असमर्थ है। परन्तु, जिस अवयव को एकबार उपास्य बना लिया, कालान्तर में उसे छोड़कर अन्य अवयव को उपास्य बना लेने से प्रत्यय का समानत्व उच्छिन्न होजाता है, उपासनाधार क्रम टूट जाता है। अतएव आवश्यक है कि, ईश्वप्रतीकलक्षण जिस किसी भी अवयव के आधार पर तदनुरूप जो भी अवयव प्रत्यय एकबार मानसधरातल पर खचित होजाय, सदा उसी को अवयवी बुद्धया लक्ष्य में रक्खा जाय। यही प्रत्यय का समानप्रवाहत्व है, एवं यही उपासना का वास्तविक तथ्य है। सूर्य्य, शिव शक्ति, गणपति, आदि अवयव देवताओं में से जिस किसी एक को उपास्य मान लिया जाय, सदा उसी को उपास्य मान लिया जाय, सदा उसी को सर्वस्व माना जाय। यही अनन्यता है, यही मन:संयम है, यही संयम उपासना का वीज है। अन्यथा बार बार प्रत्यय परिवर्त्तन से मन में चाञ्चल्य का उदय होजाता है, प्रत्ययभेद से उपास्य देवताओं में गौण-मुख्य भाव का समावेश होजाता है, उपासनातत्त्व विलुप्त होजाता है। फिर तो वह उपासना एक बालप्रेम की भाँति मोह की जननी बनती हुई हमें किंकर्त्तव्यविमूढ बना देती है।

६४–उपासना में प्रत्ययोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरकाल से भूतालम्बन परित्याग एवं "बालदृष्टान्त" द्वारा मानसशान्तिकर्षि चाञ्चल्यमूलक समान प्रत्यय प्रवाह–विक्षेप-निरूपण —

अथवा अन्यदृष्टि से समानत्त्व का समन्वय कीजिए। प्रत्यय का समानत्त्व एक प्रकार की निर्गुण उपासना है, जिस में केवल ज्ञान ही प्रधान है। सगुणोपासना में प्रत्यय रहता है, परन्तु वहाँ पदे पदे भौतिक द्रव्य को लक्ष्य बनाना पड़ता है। सगुणोपासना की सर्वारम्भ भूमिका में तो अवश्य ही भौतिक आलम्बन की अपेक्षा रहती है। परन्तु, प्रत्ययोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरकाल से ही भूतालम्बन का परित्याग कर दिया जाता है। भूतानुगता सगुणोपासना में प्रत्यय का असमानत्त्व भी आरम्भ दशा में सामान्याधिकारी की सामान्य–योग्यतादृष्टि से जहाँ क्षम्य मान लिया गया है, वहाँ भूतविरहिता ज्ञानयोगसमतुलिता निर्गुणोपासना में प्रत्यय का समानत्त्व ही प्रत्येक दशा में आवश्यक माना गया है। समन्वय के लिए उसी बालदृष्टान्त पर ध्यान देना सामयिक होगा। किसी व्यक्ति के मानस धरातल पर किसी बालक की स्मृति खचित है। उसे अहर्निश वही दिखलाई देता है। कभी बच्चे की हंसी पर, कभी घुंघराले केशों पर, कभी तुतलाती वाणीपर, कभी ठुनक–ठुनक कर चलने पर, इस प्रकार उस के प्रत्येक प्रत्यय पर बालप्रेमी का मन थिरकता रहता है। यहाँ प्रत्येक प्रत्यय में भूतालम्बन है। अतएव प्रत्यय के समानत्त्व का अभाव है। असमानत्त्वलक्षण प्रत्यय का परिणाम यह होता है कि, बालप्रेमी केवल प्रत्यय से ही सन्तुष्ट न होकर प्रत्ययालम्बनभूत बालक को सामने रहने देना चाहते हैं। बालसम्मुख्य में इस के पतनादि भय से मन चञ्चल रहता है, बालसाम्मुख्याभाव में प्रत्ययालम्बन के हट जाने से मन चञ्चल रहता है। इस प्रकार प्रत्यय की इस असमानता में उभयथा मनोयोगलक्षण शान्ति का अभाव ही बना रहता है, जो कि उपासना का एक मुख्य फल मानागया है। एकमात्र इसी मनोयोग सम्पत्ति को लक्ष्य में रखते हुए, आचार्य्यने प्रत्यय का समान प्रवाहत्त्व अनिवार्य्य माना है।

६५–समान प्रत्यय प्रवाहरूपा उपासना की फलश्रुति, उपासनारम्भदशा में अपेक्षित भी भूतालम्बन का निर्गुणोपासना से अवरत्व एवं समत्वलयपक्षपाती आचार्य्य द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा की उपादेयता स्वीकारोक्ति—

लक्षण समन्वय की मीमांसा समाप्त हुई। अब प्रश्नान्तर यह है कि, समानप्रत्ययप्रवाहरूपा इस उपासना से उपासक में क्या अतिशय उत्पन्न होजाता है, क्या फल मिलता है? इस उपासना से उपासक उपास्य में लीन होजाता है। जो फल सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग का है, प्रायः वही फल इस समान–प्रत्ययप्रवाहलक्षण निर्गुणोपासना का है। 'प्रायः' इस लिए कहना पड़ता है कि, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में जहाँ भूतानुरक्ति का ऐकान्तिक अभाव है, वहाँ समानप्रत्ययप्रवाह लक्षण उपासना में आरम्भ दशा में भूतालम्बन अपेक्षित है। भक्ति के परिगणित सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्य, इन चार फलों में से सायुज्यफल इसी निर्गुणोपासना का है, जो फल ज्ञानयोगैकसाध्य **समत्वलयफल** से अवर कोटि का ही माना गया है। अतएव शाङ्कर सिद्धान्तानुसार जीव का परमपुरुषार्थ तो ज्ञानयोग ही माना गया है। उपासना की उपास्यरूप में परिणति, उपासक में उपास्य धर्म्मों का समानप्रवाह, यही उस उपासना का चरमफल

है । जो फल अपने निःसीम भाव में पहुँच कर कर्म्मात्यन्तविमोक का परम्परया कारण बनता हुआ परम्परया ज्ञानयोगात्मक बनकर समवलय का भी कारण बन सकता है। अतएव समवलय-पक्षपाती आचार्य्यने ऐसी उपासना की भी अपनी कर्म्मत्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा में उपादेयता स्वीकार करली है ।

६६-प्रतीकमात्र में से किसी भी एक में समानप्रत्ययप्रवाह-साधना का उपासनाकोटि-अन्तर्भुक्तत्व, आध्यात्मिक-वैदिक-शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-भक्ति की लौकिक--पारमार्थिक-भेदद्वयी एवम् इन उभय योगत्रय-विवर्त्तों का उपासनात्व-निदर्शन—

ईश्वर, गुरु, देव, द्विज आदि किसी के भी प्रतीक को प्रथमालम्बन बनाकर तत्प्रत्यय के समान-प्रवाह से जो उपासना की जाएगी, सब का फल समान होगा । उपास्य में उपासक लीन होजाएगा, तत्सम-धर्म्मा बन जाएगा । अतएव आचार्य्य ने उपास्य-विशेष का नामोल्लेख न कर सामान्यरूप से उपासना का **'समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्'** यही लक्षण किया है । अवश्य ही इस सामान्यलक्षण के अनुसार विश्व के यच्चयावत् प्रत्ययों का समानप्रवाहत्त्व उपासना-कोटि में अन्तर्भुक्त होजाता है । दूसरे शब्दों में समान-प्रत्ययप्रवाह सम्बन्ध से उपासना में ही ज्ञानयोग, तथा कर्म्मयोग दोनों का अन्तर्भाव मान लिया जासकता है । ज्ञानयोग में तो प्रत्यय (ज्ञान) का समानप्रवाहत्त्व स्वत एव सिद्ध है ही । कर्म्मयोग में भी तत्तत् कर्म्मस्वरूप सम्पादक भूतों के आधार पर उत्पन्न तत्तत् प्रत्ययविशेषों का दीर्घकाल-आदर-नैरन्तर्य्य लक्षण समानप्रवाह ही कर्म्मस्वरूप का साधक बनता है । कर्म्मानुगत प्रत्यय के इसी समानप्रवाह के आधार पर कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक विधिग्रन्थों । (ब्राह्मणग्रन्थों में) **"अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य पत्नीः संयाजयति, उपास्तऽएव प्रतिप्रस्थाता'** (श०२।५।२।४५) इत्यादि रूप से ऋत्विक्-कर्म्मों के सम्बन्ध में भी उपासना शब्द का प्रयोग होता है, जैसाकि—**'उपासनालक्षणजिज्ञासा'** परिच्छेद में अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जाचुका है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, तीनों के पारमार्थिक, लौकिक, दो दो रूप हैं । आध्यात्मिक ज्ञान, (जिसके लिए गीता में-'अध्यात्मज्ञाननित्यत्त्वम्, प्रयुक्त हुआ है), वैदिक कर्म्म-काण्ड, (जिसके लिए गीता में-**'यज्ञ-दान-तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्'** प्रयुक्त हुआ है), एवं शास्त्रीय भक्तिकाण्ड, (जिसके लिए गीता में-**'सततं कीर्त्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'** प्रयुक्त हुआ है, ये तीनों योग पारमार्थिक हैं । एवं लौकिकज्ञान भूतविद्या है, लौकिककर्म्म शिल्प-कला-वाणिज्यादि है, लौकिक भक्ति स्वार्थानुगता सेवा है । लौकिक योगत्रयी हो, अथवा तो शास्त्रीय योगत्रयी, मनोयोग का समानप्रवाह सर्वत्र अपेक्षित है । और इसी दृष्टि से इन दोनों ही योगत्रय विवर्त्तों को **'उपासना'** कहा भी जासकता है ।

६७-"अर्चनं वन्दनं विष्णोः" इत्यात्मक लोकविश्रुत नवधा भक्ति का आरम्भिक आश्रयण, एवम् भूतानुगत सकाम निष्काम सेवावृत्ति का क्रमशः उपासना और काम्यकर्म्मयोगात्मक रूपोपसंक्रमण—

आरम्भदशा में लक्ष्यीभूत उपासनाकाण्ड में सेवा, उपासना दोनों का अनुगमन करना पड़ता है । भौतिकसहयोग सेवाभाव है, आध्यात्मिक सहयोग उपासनाभाव है । शारीरिकश्रम सेवाभाव है, मनोयोग उपासनाभाव है । मनोयोग की समान प्रत्ययप्रवाहात्मिका स्थिरता के लिए आरम्भ में (अभ्यासकाल में)

किसी भौतिक आलम्बन (प्रतिमादिरूप) की परिचर्य्या करनी पड़ती है । यही अर्चन-बन्दन-पादसेवनादि-लक्षणा सुप्रसिद्ध नवधाभक्ति है, जिसके दास्य-सख्य-आत्म-निवेदनादि अवयव माने गए हैं। दास्यभावात्मिका सेवा का शारीरिकश्रम से प्रधान सम्बन्ध है । यही कालान्तर में मनोयोगात्मिका उपासना की स्वरूप-समर्पिका बन जाती है । परन्तु, यह ध्यान रखना होगा कि, यदि भूतानुगत सेवाभाव (साम्प्रदायिक भक्ति-मार्ग) निष्काम है, तभी यह उपासना का द्वार बन सकता है । यदि यही सेवा सकाम है, तो काम्य कर्म्मयोग में ही इसका अन्तर्भाव मानना पड़ेगा । यही उपासना, तथा भक्ति का प्रधान अन्तर है । सकामभक्ति भक्ति है, निष्कामभक्ति कालान्तर में सायुज्यभाव की प्रवर्त्तिका बनती हुई उपासना है । सेवा भक्ति है, आत्मसमर्पणानुगत मनोयोग उपासना है । शरीर निवेदन भक्ति है, आत्मनिवेदन उपासना है । भक्ति-मार्ग सकाम कर्म्मयोग में अन्तर्भूत है, उपासनामार्ग निष्काम ज्ञानयोग का समर्थक है । इसप्रकार मध्यस्था भक्ति सकामभाव से कर्म्मयोगात्मिका बनजाती है, निष्कामभाव से ज्ञानयोगात्मिका बनजाती है । इसी भेद को लक्ष्य बनाकर हमें शेषलक्षणों का समन्वय करना चाहिए ।

६८-बाह्याभ्यन्तर परिचर्य्याओं का क्रियायोग मनोयोगात्मक सेवोपासनात्व, तदनुवर्ती विश्व का यच्चयावत् प्राणिवर्ग, "शिष्यो गुरु मुपास्ते" "विद्यार्थी विद्यामुपास्ते" की व्याख्या, स्वाण्डपोषणपरायण तिर्यक् चटका का सेवात्व, एतद्विषयक लोकव्याहृति एवं ऐहिक फलार्थिनी और आमुष्मिक निःश्रेयसानुगता पत्नी के सेवोपासनामाध्यम से सेवा-उपासना-कर्म्म-ज्ञान-काण्ड-निष्कर्ष का निरूपण—

जो अन्तर उपासना और भक्ति में है, वही अन्तर उपासना और कर्म्म में है । एक सेवक राजा की सेवा करता है । यदि सेवक का यह सेवाभाव **'परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'** के अनुसार कर्त्तव्यबुद्ध्या है, तब तो इस भौतिकसेवा (भक्ति-अथवा कर्म्म) द्वारा सेवक का मनोयोग अव्ययब्रह्म से है, एवं उस दशा में उसकी यह सेवावृत्ति कालान्तर में उपासना की स्वरूपसमर्पिका है । यदि यही सेवा कर्त्तव्यबुद्धि से वञ्चित रहती हुई, केवल धनलोभ से सञ्चालित है, तो उस दशा में यही कर्म्मयोग की स्वरूप समर्पिका बन जाती है । उपासना और कर्म्म में यही तारतम्य है । सेवा का क्रिया से सम्बन्ध है, उपासना का मनोयोग से । बाह्यपरिचर्य्या सेवा है, आभ्यन्तरपरिचर्य्या उपासना है । सेवा तन से होती है, उपासना मन से होती है । साध्यदशा में दोनों भाव प्रक्रान्त रहते हैं । गुरु की तन मन से सेवा उपासना करने वाला-**'शिष्यो गुरुमुपास्ते'** । अहोरात्र तनमन से विद्याव्यसन में लीन रहने वाला-**'विद्यार्थी विद्यामुपास्ते'** । विश्व के सभी तो प्राणी इस प्राकृतिक उपासनामार्ग पर आरूढ हैं । सर्वत्र सभी कर्म्मों में तन-मन दोनों का योग अपेक्षित है । यदि मन बहिर्मुख है, तो ऐसा तनमनयोग सेवाभाव है । यदि मन अन्तर्मुख है, तो ऐसा तनमन योग उपासना है स्वाण्ड का पोषण करने वाली चिड़िया अण्डे के प्रति पूर्ण मनोयोग रखती है । परन्तु, इसका यह मनोयोग बहिर्मुख है । अतएव इस योग को उपासना न कह कर सेवा कहा जाएगा । लोक में-'चिड़िया अण्डा सेती है' यही व्यवहार प्रसिद्ध है । 'सेती' शब्द 'सेवाभाव' का ही स्वरूप समर्पक है । ज्ञानप्रधान मानव समाज को छोड कर शेष समस्त प्राणिवर्ग, मानवसमाज में भी फलकामुक मानववर्ग केवल सेवाभाव का ही अधिकारी है । ऐहलौकिक फलकामुका

पत्नी पति की सेवा कर रही है। पारलौकिक निःश्रेयसानुगता पत्नी पति की जगत्पति भावना से सेवा करती हुई उपासना कर रही है। सामने आधिभौतिक पति है, लक्ष्य पतिद्वारा ब्रह्म बन रहा है। पति में ही ब्रह्मभावना का समावेश है। **दृष्टि भूत पर, मन आत्मापर, यही तो उपासना निष्कर्ष है। दृष्टि भी भूत पर, मन भी भूतपर, यही कर्म्मकाण्ड निष्कर्ष है। दृष्टि भी आत्मा पर, मन भी आत्मा-पर, यही ज्ञानकाण्ड-निष्कर्ष है।**

६९–आधिदैविक, आत्मविकासार्थ-आचरित पारलौकिककर्म्म का उपासनात्व, ऐहिक-आधिभौतिक-फलावाप्ति-निमित्त-कृत कर्म्म का कर्म्मत्व एवं साध्यसाधन उपलब्धियों के निदर्शन से एतादृश उपासना की कर्म्मयोगात्मक व्याहृति—

पारलौकिक आधिदैविक आत्मविकासार्थ किया हुआ कर्म्म उपासना है, ऐहलौकिक आधिभौतिक फल-प्राप्त्यर्थ कृत कर्म्म कर्म्म है। साधन-साध्यों की आधिभौतिकता कर्म्ममार्ग है। सेवक राजा की सेवा करता है। सम्पूर्ण परिचर्य्या आधिभौतिक है, सभी साधन आधिभौतिक हैं। इस सेवा से प्रसन्न राजा उसे पर्य्याप्त धन-वस्त्रादि देता है। यह सब फल भी–साध्य भी–आधिभौतिक ही हैं। वैद्य रोगी की सेवा करता है–ओषधि से। सम्पूर्ण परिचर्य्या आधिभौतिक है। सेवा के बदले रोगी से मिलने वाला धन भी आधिभौतिक है। भौतिक-विवर्त्त कर्म्मप्रधान है। सेवा में साधन-साध्य, उभयथा भौतिकजगत् का ही प्राधान्य है, अतएव ऐसी सेवा, ऐसी उपासना कर्म्मयोग ही मानी जाएगी।

७०–लौकिक जीवतन्त्र परिच्छिन्न नृप-चिकित्सक-न्यायाधिपति प्रभृति उपाधियों का अधिभूतभाव, निरुपाधिक ईश्वरतन्त्र-परिच्छिन्न आत्मतत्त्व का अधिदेवात्मक स्वरूप, ईश-जीव-भावानुगति, विकास क्रमेण तत्परिणाम, एवम् उपासना-कर्म्म-ज्ञान-काण्ड-निरूपक सूत्रवचन—

राजा रोगी आदि मानवमात्र में ईश्वर–जीव नामक दो दो तन्त्रायी प्रतिष्ठित हैं। राजा, डॉक्टर वैद्य, न्यायाधीश, आदि उपाधियाँ जीवतन्त्र से सम्बन्ध रखती हुई आधिभौतिक हैं। निरुपाधिक आत्मभाव ईश्वरतन्त्र से सम्बन्ध रखता हुआ आधिदैविक है। मानवमात्र में ही क्यों, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के अनु-सार चर–अचर–यच्चयावत् पदार्थों में ईश्वरतन्त्र भी प्रतिष्ठित है, साथ ही भेदक विशेषभावानुगत जीवतन्त्र भी प्रतिष्ठित है। ईशभावानुगति उपासना का द्वार है, जीवभावानुगति कर्म्म का द्वार है। राजा को राजा समझ कर सेवा करने वाला स्वार्थी सेवक राजा से उसकी राजोपाधि–समतुलित धनादि के अतिरिक्त और क्या प्राप्त कर सकता है। यदि सेवक राजा को ईश्वर समझकर सेवा करता है, कर्त्तव्यबुद्धया परिचर्य्या करता है, तो राजोपाधि के गर्भ में प्रतिष्ठित ईश्वरतन्त्र अवश्य ही सेवक के आत्मविकास का कारण बन जाता है। केवल समझमात्र का अन्तर है। भावना में तारतम्य है। निष्कर्षतः **निःस्वार्थभाव से ईश्वर-बुद्धया किया हुआ कर्म्म उपासना है, स्वार्थभाव से मानवबुद्धया किया हुआ कर्म्म कर्म्मकाण्ड है, एकान्ततः कर्म्मपरित्याग–भावना ज्ञानकाण्ड है।**

७१–"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" उक्ति-निर्वचन, श्रद्धावान् और श्रद्धेय, श्रद्धा का उपासनामूल प्रतिष्ठात्व, श्रद्धा से श्रद्धेय (आचार्य्य, मूर्त्ति इत्यादि) गत परोक्षतत्व का प्रत्यक्ष परिणमन, एक और एक केवल दो नहीं, एकादश भी, सर्वत्र सर्वतत्वोपस्थिति, एवं शतपथ ब्राह्मण का "ब्रह्मविद्यया ह वै" इत्यात्मक संशयोच्छेदी उद्घोष—

सब सब हैं, प्रत्येक में सर्वस्व के दर्शन सम्भव हैं। जिस सर्वदर्शन की मूलप्रतिष्ठा है–विश्वगर्भिता श्रद्धा। श्रद्धा ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है। श्रद्धा के बल पर विष में अमृत की भावना सफल होसकती है. पाषाण में ईश्वरीयभावना सफल बन सकती है। तत्त्व यही है कि, श्रद्धेय में भी सबकुछ तत्त्वविद्यमान हैं। जिस तत्त्व का अधिकमात्रा में विकास रहता है, तत् तत्त्वानुगत भाव प्रस्फुटित रहता है, शेष अन्तर्मुख बने रहते हैं। एवमेव श्रद्धालु में भी सब तत्त्व विद्यमान हैं। वह अपने श्रद्धामय मन में श्रद्धेय के प्रति जिस भी किसी परोक्ष तत्त्व की भावना करने लगता है, कालान्तर में दृढ़निष्ठा द्वारा अवश्यमेव श्रद्धेय के उस परोक्ष–तत्त्व को प्रत्यक्ष बनना पड़ता है। **'दो एवं दो चार ही होते हैं'** दृष्टान्त को उपन्यस्त करते हुए जो महानुभाव प्रतिमापूजन का मिथ्यात्व घोषित करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि, दो और दो चार नहीं, २२ भी होसकते हैं, सबकुछ होसकते हैं। श्रद्धा का तारतम्य सब कुछ सम्भव कर सकता है। तत्त्वतः एक संख्या ही मौलिक संख्या है। इतर यच्चयावत् संख्याएँ एक ही का विकास है। जिसे २–४–६–८ आदि कहा जाता है, सब–**'अयमेकः अयमेकः'** भाव से एक एक भी हैं। २-२ का समसन्निवेश २२ भी है। २–२ का व्यूहन अनेक भी है, सब कुछ है। सर्वत्र सब तत्त्व समविष्ट हैं। तत्त्ववेत्ता तत्त्वपरिवर्त्तन के आधार पर सबको सब रूपों मे परिणत कर सकते हैं। इसी आधार पर श्रुति का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है कि–**'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते (मनुष्याः)" (शतपथ ब्राह्मण)।**

७२–सर्वव्यापक, त्रिकालाबाधित श्रद्धेय ब्रह्म का सर्वत्र सर्वरूपेण अवस्थान, विश्वास-विजृम्भित श्रद्धानिष्ठा से तप्त लौहस्तम्भ का परमभागवत प्रह्लाद के लिए नृसिंह रूपेण प्रस्फुटन एवं श्रद्धावान् के समान प्रत्यय प्रवाह से पाषाणगर्भित भगवत् स्वरूप का उन्मीलन—

सर्वव्यापक ब्रह्म के सर्वत्र सबरूपों में दर्शन किए जासकते हैं। जैसी हमारी विश्वासानुगता श्रद्धा–होगी, श्रद्धेय को उसी तत्त्व रूप से प्रस्फुटित होना पड़ेगा। श्रद्धालु की श्रद्धा पाषाण को भगवत्स्वरूप में परिणत नहीं करती अपितु श्रद्धालु के भगवत्–स्वरूपानुगत समान प्रत्यय प्रवाह से पाषाणगर्भित सद्रूप भगवत्स्वरूप प्रस्फुटितमात्र होजाता है। **'तं यथायथा उपासते, तथैव भवति'** (छां० उप०) **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** (गीता०) इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त प्रमाणानुसार अवश्यमेव श्रद्धेय को श्रद्धानुरूप प्रस्फुटित होना पड़ता है। इसी सत्यानुगता श्रद्धा के बल पर एक तप्त स्तम्भ को प्रह्लाद के लिए प्रह्लाद की भावना के अनुरूप नृसिंहरूप में परिणत होना पड़ता है। इसी अनन्य श्रद्धा के आकर्षण से विदूरस्थ अवतार पुरुष की योगमाया द्वारा द्रौपदी का वस्त्रवितान सम्भव है। इसी अनन्य

सख्य--प्रेमाकर्षण से रासमहोत्सव द्वारा व्रजगोपियाँ भगवत्सायुज्य प्राप्त कर सकती हैं। **'न खलु गोपिका नन्दनो भगवान्–(अपितु)–अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** (भागवत) की भावना से आज भी श्रद्धालु वह पद प्राप्त कर सकते हैं। इसी श्रद्धानुगता उपासना के बल पर गिरिधर--गोपाल को रिझानेवाली भक्त-प्रवरा मीरा के लिए विष अमृतरूप में परिणत होसकता है। हमारे अभिजन--प्रान्त में इसी सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सूक्ति प्रचलित है कि--**'मानो तो देव नहीं भाटा का लेव'**। तात्पर्य्य सूक्ति का यही है कि, यदि श्रद्धाविश्वास है, तो पाषाण--प्रतिमा प्रत्यक्ष देव है। अन्यथा नहीं मानने वाले श्रद्धाशून्य कुतर्कियों के लिए तो पाषाण है ही। यदि श्रद्धाविश्वासपूर्वक दृष्टिविषयिणी प्रतिमा, अथवा तो अन्य किसी भूतालम्बन के आधार पर मानसपटल पर खचित उपास्यदेव का जो प्रत्ययात्मक (ज्ञानात्मक) स्वरूप है, अहर्निश उसी उत्पन्न प्रत्यय में लीन रहना ही उपासना का तात्त्विक लक्षण है। उपास्यविषयिणी बुद्धि, तत्स्वरूप--विज्ञान-प्राप्ति, तत्--अनुगति ही प्रत्यय है। इस प्रत्यय का अनन्य प्रवाह ही उपासना है। एवं निम्नलिखित शाङ्कर--लक्षण से इसी उपासनातत्त्व का स्पष्टीकरण हुआ है—

"समानप्रत्ययप्रवाहकरणं नाम उपासनम्" (अद्वैताचार्याः)

—१—

—*—

७३-वस्त्वन्तर में वस्त्वन्तर-क्लृप्तिशीला भावना के ज्ञानाज्ञानात्मक दो भेद, "शुक्तौ रजतम्" "रज्जौ सर्पः" इत्याकारक अज्ञानात्मक ज्ञान का मिथ्यामतित्व, पाषाण-प्रतिमा में उपास्येष्टदेवात्मक भावना का ज्ञानात्मत्व एवं रज्जुगत-सर्प पाषाण-निष्ठ उपास्य-निस्यूत-ज्ञानाज्ञानात्मकभिदा का तात्त्विक निरूपण—

अब क्रमप्राप्त लक्षणत्रयोदशी में पठित द्वितीय लक्षण की ओर उपासकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसकी भाषामात्र में अन्तर होगा, वस्तुतत्त्व वही होगा, जिसका प्रथम लक्षण में स्पष्टीकरण हुआ है। अन्यवस्तु में अन्यवस्तु की भावना के अज्ञानात्मिका, ज्ञानात्मिका, भेद से दो विभाग किए जासकते हैं। रज्जु में सर्प की भावना, मृगमरीचिका में जल की भावना, शुक्ति में रजत की भावना, स्थाणु में पुरुष की भावना, अज्ञानात्मिका है, मोहात्मिका है। इसे ही मिथ्याज्ञानात्मिका भ्रान्ति कहा गया है। पाषाण प्रतिमा में उपास्य देवभावना, गुरु में ब्रह्म भावना, पति में ईश्वरभावना, कार्य्यसहयोगी में दक्षिणभुजभावना, पद्म में पृथिवीभावना, कृष्णमृग में त्रयीवेद की भावना, रुक्म (सुवर्णभूषणविशेष) में सूर्य्य भावना, कूर्म्म में कश्यप भावना, आदि आदि नैदानिक भावनाएं ज्ञानात्मिका भावनाएं हैं। जिसप्रकार रज्जु को सर्प समझते हुए हमें रज्जु का बोध नहीं रहता, वैसे प्रतिमा में उपास्य भावना रखते हुए हमें प्रतिमा का बोध न होता हो, यह बात नहीं है। अवश्य उक्त ज्ञानात्मिका भावनाओं में उपास्यदेव, ब्रह्म, ईश्वर, दक्षिणभुज, पृथिवी, त्रयीवेद, सूर्य्य, कश्यप, आदि भावनाओं के साथ साथ ही प्रतिमा, गुरु, पति, सहयोगी, पद्म, कृष्णमृग, रुक्म, कूर्म्म आदि का भी बोध बना रहता है। अतएव इस भावना को हम ज्ञानात्मिका भावना कहते हैं, मिथ्याज्ञानात्मिका भ्रान्ति से सर्वथा विभिन्न सत्यभावना है। जान–बूझ कर अन्य में अन्य की भावना करना ही ज्ञानात्मिका भावना है। एवं यही भावना उपासना की (सगुणोपासना की) मूलप्रतिष्ठा है।

७४-विशुद्ध प्रात्ययिका ज्ञानान्विता उपासना का निर्गुणोपासनात्त्व-स्वीकार—

समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका उपासना में आरम्भ में यद्यपि अवश्य ही भूतालम्बन की अपेक्षा रहती है। उस समय किसी अन्य भौतिक द्रव्य में अन्य (उपास्य) आधिदैविक की भावना की जाती है। तथापि भावनान्तर आलम्बन छोड़ दिया जाता है। केवल तत्प्रत्यय का योग बच रहता है। विशुद्ध प्रत्ययात्मिका यही उपासना ज्ञानप्रधान किंवा ज्ञानात्मिका बनती हुई निर्गुणोपासना ही मानी गई है।

७५-अज्ञानात्मक भावना के अविधामूला, भ्रान्तिमूला दो अवान्तर भेद, बाह्यदोष-कारणवती भ्रान्ति, आभ्यन्तर दोष हैतुकी "अविधामूला" एवम् "एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्ध नानाकोटयवगाहि" संशय ज्ञान का स्फुटीकरण—

बतलाया गया है कि, अज्ञानात्मिका भावना का प्रकृत उपासना में कोई सम्बन्ध नहीं है। एक प्रासङ्गिक और अज्ञानात्मिका भावना के ही आगे जाकर अविधामूला, भ्रान्तिमूला, भेद से दो अवान्तर भेद हो जाते हैं। पर्य्याप्त प्रकाशाभाव, चाक्षुषदोष, आदि कारणों से पुरोऽवस्थित स्थाणु में पुरुष-प्रतीति होने लगती है। यह अज्ञानात्मिका भावना भ्रान्तिमूला भावना है। कोई व्यक्ति है न्यायधीश, परन्तु पूरी जानकारी न होने से हम उसे साधारण चपरासी समझ बैठते है। यही अविधामूला भावना है। भ्रान्तिमूला भावना में बाह्यदोष प्रधान कारण है, अविधामूला भावना में आभ्यन्तर दोष प्रधान कारण हैं। इसप्रकार सूक्ष्मविचार करने पर यद्यपि दोनों स्थलों में भेदप्रतीति स्पष्ट है। तथापि समन्वय व्यवहार में दोनों 'भ्रम' ही कहलाते हैं। एकमात्र इसी आधार पर पूर्व में हमने अज्ञानात्मिका भावना को भ्रान्तिमूला कह दिया है। जानकारी न होने से जो अन्य में अन्य की प्रतीति होने लगती है, इसमें हमारा ही दोष है। रज्जु में सर्पप्रतीति होना प्रकृति का भी दोष है। अन्धकार में पड़ी रज्जु यदि सर्पवत् प्रतीत होने लगे, तो यह केवल हमारा ही दोष नहीं माना जासकता। अपिच, भ्रान्ति में अनेक धर्म्मों का समावेश है। पुरोऽवस्थित स्थाणु में कभी स्थाणु धर्म्म प्रतीत होने लगता है, तो कभी पुरुषधर्म्म। **'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोटयवगाहि ज्ञानं संशयः'** लक्षणानुसार 'स्थाणुर्वा-पुरुषो वा' इत्याकारक संशयरूप भ्रम हो पड़ता है। उधर अविधामूला भावना में संशय नहीं रहता है। वहाँ केवल अधिकारी आलम्बन रहता है। निःसंदिग्ध होकर मान बैठते हैं कि अमुक तो अमुक है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से अज्ञानात्मिका भावना की अविधामूल-भ्रममूला भावनाओं का पार्थक्य देखा जासकता है।

७६-भूतदृष्टि-अनपेक्षिता ज्ञानमुख्या निर्गुणोपासना, दृष्टि अनपेक्षिता नैदानिकोपासना, अथ च सगुणोपासना का आत्मसाक्षात्कार नैमित्य, एवम् निर्गुणोपासना का साक्षात् अव्ययेश्वर प्रसादपरक कारणत्व—

समानप्रत्यय प्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना में जैसे भूतदृष्टि अनपेक्षित है, एवमेव इस नैदानिक उपासना में भी दृष्टि अनपेक्षित ही मानी जाएगी। दोनों में प्रत्ययत्त्वेन समानता है। केवल प्रत्ययप्रवाह में अन्तर है। समानप्रत्ययात्मिका निर्गुणोपासना का अनुयायी गुणातीत बना रहता है, एवं प्रत्ययानुगता सगुणोपासना का अनुयायी त्रैगुण्य में भी अनुगत रहता है। एक दूसरा भेद-समानप्रत्ययानुगता निर्गुणोपासना में भूतालम्बन कहने भर को है, किन्तु अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना में भूतालम्बन की प्रधानता है। अपिच

निर्गुणोपासना जहाँ ज्ञान प्रधाना है, वहाँ सगुणोपासना कर्म्म को भी प्रधानता देरही है। अन्यच्च-निर्गुणोपासना जहाँ अव्ययप्रसाद का साक्षात्‌रूप से कारण है, वहाँ सगुणोपासना परम्परया आत्मसाक्षात्कार का निमित्त है। निर्गुणोपासना जहाँ उच्चाधिकारी के लिए विहित है, वहाँ सगुणोपासना मध्यमाधिकारी के लिए विशेषतः उपयोगिनी है। निर्गुणोपासना में जहाँ विशुद्ध प्रत्यय अपेक्षित है, वहाँ सगुणोपासना में निदानालम्बन आवश्यक है।

७७-समान-प्रत्यय-प्रवाहात्मिका-विशुद्धज्ञानगुर्वी-''निर्विकल्प समतुलिता'' अन्यत्रान्यभावनात्मिका-ज्ञानकर्म्मसमतुलिता 'निरञ्जनात्मिका' एवं अन्यत्रान्य भावनात्मिका मर्म्ममयी ''साञ्जनात्मिका'' क्रमेण उत्तममध्यमसामान्याधिकारिसम्मता 'उपासना' के विवर्तत्रय का स्फुटीकरण—

अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना के अधिकारी भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। वह सगुणोपासना, जिसमें प्रत्ययालम्बन परोक्ष हो, अथवा प्रत्यक्ष, उच्चश्रेणि की सगुणोपासना कहलाएगी। एवं जिसमें प्रत्यक्षात्मक प्रत्ययालम्बन अपेक्षित हो, वह सगुणोपासना सामान्य कहलाएगी। इसके अतिरिक्त वह उपासना उच्च कही जाएगी, जिसमें दृष्टि की स्थिति अपेक्षित न हो। एवं वह सगुणोपासना सामान्य कहलाएगी, जिसमें दृष्टिस्थैर्य्य अनिवार्य्य होगा। इस प्रकार दृष्टिकोण भेद से उपासना के तीन विवर्त्त होजाएँगे, जिन्हें उच्च-मध्यम-सामान्य अधिकारी भेद से व्यवस्थित माना जाएगा--

१-समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका विशुद्धज्ञानमयी उपासना---निर्गुणोपासना निर्विकल्पसमतुलिता

२-अन्यत्रान्यत्रभावनात्मिका ज्ञानकर्म्मसमतुलिता उपासना-सगुणोपासना निरञ्जना

३-अन्यत्रान्यत्रभावनात्मिका मर्म्ममयी उपासना-----सगुणोपासना साञ्जना

७८-परोक्षप्रत्यक्षभूतालम्बनसंग्राहिणी ''ज्ञानकर्म्मसमतुलिता'' अन्यत्रान्यत्र भावनात्मिका 'निरञ्जना' सगुणोपासना का लौकिक उदाहरण द्वारा समन्वय एवं ''यजमानः शिष्यं गुरुवदुपास्ते'' सूत्रानुवर्ती प्रत्यय के चिराभ्यास का उपास्यप्राप्ति कारणत्व—

उक्त तीनों विवर्त्तों में से प्रथम विवर्त का पूर्वपरिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। तीसरे का स्पष्टीकरण अगले परिच्छेद में किया जाएगा। प्रक्रान्त है-दूसरा परिच्छेद, जिसमें कि भूतालम्बन तो अवश्य अपेक्षित है, परन्तु तृतीय क्षेत्रवत् दृष्टि-स्थिरता की अपेक्षा नहीं है। साथ ही माध्यम की परोक्षता-अपरोक्षता भी दोनों ही संग्राह्य हैं, जब कि तृतीय क्षेत्र में माध्यम की अपरोक्षता अनिवार्य्य है। लौकिक उदाहरण से लक्षण का समन्वय कीजिए। स्वपुत्रजन्मोत्सव में आप किसी भद्र का आमन्त्रण करते हैं। आने की स्वीकृति मिल जाती है। परन्तु, समय पर उनका आगमन नहीं होता। आप स्वयं दुबारा पहुँच कर आग्रह प्रकट करते हैं। उनके द्वारा विवशता प्रकट करने पर आप कहने लगते हैं-यदि कार्य्यवश आप नहीं पधार सकते, तो कुमार को ही भेज दीजिए। हमारे लिए तो इनका पधारना आपका ही पधारना है। यही अन्यत्रान्य-

भावनात्मिका सगुणोपासना का लौकिक उदाहरण है। कुलपुरोहित का शिष्य भी यजमान द्वारा गुरुवत् सम्मानित किया जाता है। "यजमानः शिष्य गुरुवदुपास्ते"। पुत्र में पिता की भावना करना, सहकर्त्ता (सेक्रेट्री) में दक्षिणभुज की भावना करना भी इसीके लौकिक उदाहरण हैं। इन सभी उदाहरणों में दृष्टि अनपेक्षित है, केवल समझना ही समझना है। यह समझ (प्रत्यय) ही चिरकालिक अभ्यास के अनन्तर उपास्य प्राप्ति का कारण बन जाती है।

७९–व्यास-कपिल-कणादादि परोक्षमहर्षिमाध्यम से भगवदुपासना के साकल्य का उद्बोधन, "वस्तुशून्यो विकल्पः" इति वैयासिक्यादिसम्मत-सिद्धान्तानुसार आधिभौतिक भी व्यासादि द्वारा "अन्यस्मिन्नन्यभावना" परिकल्पित आधिदैविक ईश्वर की भ्रमाज्ञानराहित्येन उपासना—

भगवान् व्यास, कपिल, कणाद, आदि महर्षि आज हमारे लिए परोक्ष हैं। सर्वथा परोक्ष इन माध्यमों में हम भगवद्भावना कर सकते हैं, एवं तद्द्वारा हमारा उपासना काण्ड सफल बन सकता है। परोक्ष व्यासादि की 'वस्तुशून्यो विकल्पः' सिद्धान्तानुसार कल्पना कर उनमें ईश्वरभावना द्वारा उपासना सम्भव है। माध्यम व्यासादि आधिभौतिक हैं, अन्यभावनात्मक ईश्वर आधिदैविक है। दोनों का समन्वय ही उपासना है। निष्कर्ष वक्तव्य का यही है कि, भ्रमज्ञानराहित्येन अन्य में अन्य भावना बुद्धि दृढ बनाना भी उपासना का एक श्रेयःपथ है। निम्नलिखित लक्षण सगुणोपासना के इसी लक्षण का समर्थन कर रहा है—

२–निर्भ्रान्तज्ञानसहयोगेनान्यस्मिन्नन्यभावनाबुद्धिरुपासनम्

—२—

—— * ——

८०–मन्दिरभक्त साम्प्रतिक भारतीय प्रजा में सविशेष प्रचलित अपरोक्ष भूतालम्बनात्मक, अवतार–प्रतिमाधार–निर्भर, लक्ष्यान्तरसिद्ध्यर्थ अन्यलक्ष्याश्रयीभूत-उपासना प्रकार एवं कालान्तर में इन मन्दिर-मूर्त्ति-शुश्रूषुओं के विशुद्धप्रत्ययानुवर्ति मानस की सिद्धावस्था में परिणति—

पूर्वोक्त द्वितीयलक्षणसमन्वय में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सगुणोपासना का मध्यमाधिकारी वह उपासक माना जाएगा, जो परोक्ष–अपरोक्ष–किसी भी व्यासादि, भगवत्प्रतिमादि आधिभौतिक माध्यमों में उपास्यभावना कर तत्प्रत्यय का (अपनी व्यवहारनिष्ठा से यथानुरूप अनुगमन करता हुआ) अभ्यासी बना रहेगा। अब कुछ एक ऐसे भी अधिकारी बच रहते हैं, जिन का मन तबतक आधिदैविक उपास्य पर दृढ नहीं होसकता, जबतक कि, उन की दृष्टि (चक्षु) के सामने अपरोक्ष भूतालम्बन प्रतिष्ठित न रहे। अवश्य ही अपने आध्यात्मिक प्रत्यय को दृढमूल बनाने के लिए इन तृतीयश्रेणिके अधिकारियों को किसी न किसी अवतारप्रतिमा–देवप्रतिमा–गुरु–आदि भूतों में से एक को दृष्टि का आधार बनाना पड़ेगा। लक्ष्य होगा इन का सर्वथा परोक्ष आधिदैविक तत्त्व ही। परन्तु उस परोक्ष लक्ष्य के साथ मनोयोग करने

के लिए इन्हें आधिभौतिक लक्ष्य में उस परोक्ष आ० दै० लक्ष्य की भावना करते हुए इस पर दृष्टि रखनी पड़ेगी। लक्ष्यान्तर सिद्धयर्थ अन्यलक्ष्य की उपासना करनी पड़ेगी। इस- अभ्यास से ज्यों ज्यों इन का मन उस पर दृढनिष्ठ बनता जाएगा, त्यों त्यों भूतसाधन शिथिल होता जाएगा। कालान्तर में पूर्वोक्त सगुणोपासना एवं समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना की भाँति इन का भी मन विशुद्ध प्रत्ययानुगामी बनता हुआ सिद्धावस्था में परिणत होजाएगा। यही उपासना का तीसरा दृष्टिकोण है, जो कि मन्दिर भक्त वर्त्तमान भारतीय प्रजा में विशेषरूप से प्रचलित है।

८१-लक्ष्या स्वतन्त्रता, धरना वैदेशिक वस्तुओं की दूकानों पर, ध्येय स्वराज्य, साधन कारागार-इत्यात्मक कार्य्यकारणभिन्न देशतानुबन्धि "असंगति" निदर्शक अन्यत्र-दृष्टिपरक भिन्नफलावाप्तिमूलक आधिदैविकफलोपासना का दृष्टान्तधिया निरूपण —

प्रस्तुत दृष्टिकोण में दृष्टि-स्थिरता ही पूर्व के दोनों दृष्टिकोणों की अपेक्षा प्रधान है, यही इस का उन दोनों से पार्थक्य है, जिस के सम्बन्ध में दो एक लौकिक दृष्टान्त उद्धृत कर देना भी असामयिक नहोगा। लक्ष्य है—स्वतन्त्रता, परन्तु धरना देते हैं, विदेशी वस्तुओं की दूकानों पर ध्येय है-स्वराज्य, साधन है, कारागार। फल भिन्न है, तत्प्राप्त्यर्थ दृष्टि अन्य लक्ष्य पर है। दक्षिणभुजा, गुरु, आदि मान लेने भर से यहाँ लक्ष्यसिद्धि कथमपि सम्भव नहीं है। केवल समझ लेने से काम नहीं चल सकता। यहाँ तो उन साधनों पर स्थिर दृष्टि रखनी पड़ेगी। तभी लक्ष्यीभूत स्वतन्त्रता मिल सकेगी। हम जानते हैं, दुकानें स्वयं परतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति में स्वतन्त्ररूप से इन का कोई उपयोग नहीं है। तथापि घातक-परराष्ट्र चक्र के आर्थिक पतन द्वारा परम्परया इन्हें भी स्वतन्त्रता का द्वार माना जासकता है। सन्धा यह है कि, उपासनासूत्र विच्छिन्न न होने पाए। असुर बल हमारे इन साधनों पर घातक आक्रमण करेगा। परन्तु, हमें लक्ष्यसिद्धि पर्य्यन्त इन माध्यम साधनों पर दृढ रूप से दृष्टि-स्थिति रखनी पड़ेगी। विजय निश्चित है। इस प्रकार परसत्ताओं द्वारा छीनी गई लक्ष्यीभूत स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए वर्त्तमान समय के भारतीय राष्ट्रीयदल की मान्यता के अनुसार प्रस्तुत दृष्टान्त उपासना का अनुगामी बन सकता है। राष्ट्रीयदल की दृष्टि में यह उपासना परम्पया आधिदैविक-फल की भी साधिका बन रही है। परतन्त्रराष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं, धर्म्माचरण बिना ईश्वर प्राप्ति असम्भव। स्वतन्त्रता धर्म्माचरण का साधक है, धर्म्माचरण ईश्वर प्राप्ति द्वार है। फलतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उपास्य माध्यमों का परम्परया आधिदैविक--फलजनकत्त्व भी सिद्ध होजाता है।

८२-पुरोऽवस्थित भगवत् प्रतिमा का पाषाणत्व, दृष्टिस्थैर्यसम्भूत उपास्यप्राप्ति में तत्साहाय्य एवं साध्यदशा में चञ्चलवृत्तिमन् मन का सापेक्ष्य, अतएव प्रतिमाऽर्चन का आलम्बन सार्थक्य और श्री अद्वैताचार्य्य के "लक्ष्यान्तरसिद्धयर्थ मन्यलक्ष्यस्थिति रुपासनम्" इस तृतीय लक्षण की अन्विति—

हम जानते और मानते भी हैं कि, पुरोऽवस्थित भगवत् प्रतिमा पाषाण है। परन्तु, दृष्टिस्थिरता द्वारा मनोयोग की साधिका बनती हुई यही पाषाणप्रतिमा उपास्य प्राप्ति का द्वार बन रही है। लक्ष्य है-ईशप्राप्ति, तदर्थ अपेक्षित है मनोयोग। चञ्चलमन भूतों का आत्यन्तिक परित्याग कर परोक्ष

आधिदैविक परोक्षतत्त्व के साथ योग करले, यह तबतक असम्भव है, जबतक कि, इसमें किसी भूताधार द्वारा स्थिरता उत्पन्न न करली जाय। तदर्थ ही भगवत्प्रतिमा आदि को आलम्बन बनाया जाता है। दृष्टि रहेगी प्रतिमा पर, मन रहेगा सर्वव्यापक उपास्य की ओर। दृष्ट्यनुगता प्रतिमा आधिभौतिक है, मनोऽनुगत उपास्य आधिदैविक है। यहाँ दोनों का समन्वय है। अतएव अवश्य ही इस दृष्टिकोण को भी उपासना कहा जासकता है। निम्नलिखित लक्षण इसी दृष्टिकोण का विश्लेषण कर रहा है—

लक्ष्यान्तरसिद्धयर्थमन्यलक्ष्यस्थितिरुपासनम्

३

—— * ——

८३-ज्ञानयोग-कर्म्मयोग-भक्तियोग का आलम्बनभूत विशुद्धसत्वानुगत-रजोमिश्रित-तमोगुणानुगत-सत्वतमोऽनुगृहीत उभयात्मक रजोगुणानुगत-मनोयोग, रागात्मक रजोगुण का निरूपण, राग के परिणामस्वरूप मन की वस्तु पर आसक्ति, अनुकूल और प्रतिकूल राग के दो भेद एवं उनका कामक्रोध-उत्पादकत्व—

पूर्व के तीन परिच्छेदों में उत्तम-मध्यम-सामान्य अधिकारी भेद से जिन उपासनामार्गों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन तीनों की ही मूलप्रतिष्ठा है-'श्रद्धासूत्र। समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना हो, अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना हो, अथवा तो अन्यसिद्ध्यर्थान्यत्रदृष्टि स्थितिरूपा सगुणोपासना हो तीनों ही उपासना मार्गों में मनोयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित है। गुणत्रयात्मिका योगमाया के अनुग्रह से अन्नमय चान्द्र मन में सत्त्व-रजस्तमोरूपा गुणत्रयी का समावेश रहता है। विशुद्धसत्त्वानुगत मनोयोग ज्ञानयोग का अनुगामी बनता है, रजोमिश्रित तमोगुणानुगत मनोयोग, कर्म्मयोग का प्रवर्तक बनता है, एवं सत्त्व-तमोऽनुहीत उभयात्मक रजोगुणानुगत मनोयोग भक्तियोग का आलम्बन बनता है। मध्यस्थ रजोगुण ही-**'रजोरागात्मकं विद्धि'** (गी० १४-७) के अनुसार रागप्रवृत्ति का मूलकारण माना गया है। मन का किसी भी वस्तु के साथ बन्धन-सम्बन्ध द्वारा आसक्त होजाना, अनुरक्त होजाना, राग का ही फल है। यह राग अनुकूलराग, प्रतिकूलराग भेद से दो स्वरूपों में परिणत रहता है। अनुकूलराग का सहायक काम (कामना) बनता है, प्रतिकूलराग का सहायक क्रोध बनता है। काम, क्रोध, ये दोनों मानसभाव भी रजोगुण से ही समुद्भूत है-**'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः'** (गी० ३।३०)।

८४-कामसहकृत अनुकूल राग का श्रद्धासूत्रत्व, क्रोधसहकृत प्रतिकूल राग का विद्रोह-सूत्रत्व, अनुकूल प्रतिकूल राग की पराकाष्ठा का परानुरक्तित्व, एवं श्रीमद्भागवत के "काम क्रोधं भयं स्नेहं" श्लोकोपन्यस्त अनुकूल रागानुगति से प्रह्लाद-नारद-मीरां आदि का, प्रतिकूल राग से रावण, कंस, शिशुपालादि का परमपद प्राप्ति निरूपण—

कामसहकृत अनुकूलराग श्रद्धासूत्र है, क्रोधसहकृत प्रतिकूलराग **विद्रोहसूत्र** है। मित्रवत् शत्रु की ओर भी हमारा मनोयोग रहता है। परन्तु, इस योग का आलम्बन बनता है—प्रतिकूलरागात्मक विद्रोहसूत्र। इसी सूत्र के कारण अहर्निश शत्रुभावना हमारे मन पर खचित रहती है। काम नहीं है, क्रोध अवश्य है। चाहते हैं-शत्रु का स्मरण भी न हो। परन्तु विद्रोहसूत्रानुग्रह से न चाहने पर भी वह मानस पटल पर घूमता रहता है।

ऐसा विद्रोहसूत्र उपासना में उपयुक्त नहीं बन सकता है ? बन सकता है । कब ? जब कि विद्रोहसूत्रात्मक यही प्रतिकूलराग सीमा का अतिक्रमण कर जाय । आत्यन्तिक द्रोह विपरीत भाव में परिणत होता हुआ कालान्तर में अनुकूलरागात्मक श्रद्धासूत्ररूप में उसी प्रकार परिणत होजाया करता है, जैसे कि, अग्नि-वायु-आदित्यात्मक अङ्गिरा विशकलन की चरम सीमा पर पहुँचकर अब्-वायु-सोमात्मक भृगुरूप में परिणत होजाया करता है । एवमेव निःसीम अनुकूलराग भी यदा कदा द्वेषभाव में परिणत होता देखा गया है । ईशतत्त्व को छोड़कर प्राणिवर्ग से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेष ससीम हों, अथवा निःसीम, बन्धन के ही कारण बनते हैं । यही राग-द्वेष ईशानुगत बनते हुए भक्तिभाव के कारण बन जाते हैं । सुप्रसिद्ध ईशद्रोही रावण, कंस शिशुपालादिने इसी विद्रोहसूत्र द्वारा परानुरक्ति प्राप्त करते हुए परमपद प्राप्त किया है । प्रह्लाद-नारद-भीष्म-विदुर-मींरा-गोपाङ्गना आदिने श्रद्धासूत्र द्वारा परानुरक्ति प्राप्त की है । अनुकूलरागात्मक राग (प्रेम) हो, अथवा प्रतिकूलरागात्मक द्वेष हो, यदि वह पराकाष्ठापर है, परानुरक्ति है । एवं महर्षि शाण्डिल्य के **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** लक्षणानुसार यह परानुरक्ति ही भक्ति, किंवा उपासना है । निम्नलिखित पुराणवचन भी इसी परानुरक्ति का समर्थन कर रहा है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

—श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध, पू० २६।१५।

८५-मनः प्रात्ययिक श्रद्धा द्वारा उपास्य के साथ स्नेह-बन्धन बुद्धिस्थैर्य से उस का द्रढीकार, एवं 'विश्वास-गर्भित-श्रद्धासूत्र-सहयोगेन' लक्ष्यमनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्" लक्षण का समन्वय—

आत्यन्तिक द्रोहाभाव में श्रद्धासूत्रानुगता अनुकूलरागात्मिका मनःप्रवृत्ति ही उपासना का आधार मानी जाएगी । श्रद्धा जहाँ मन की प्रवणता का कारण है, वहाँ विश्वास बुद्धिप्रवणता का कारण माना गया है । विश्वास बुद्धि का स्वधर्म्म है, श्रद्धा मन का स्वधर्म्म है । सान्द्रसोममय मन से सम्बन्ध रखने वाला श्रद्धातत्त्व स्नेहगुणक, किन्तु चञ्चल है । सौर-सावित्राग्निमयी बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला विश्वास तत्त्व तेजोगुणक, किन्तु स्थिरधर्म्मा है । उपासक उपास्य में आसक्त होना चाहता है, यह काम मनोमयी श्रद्धा पर अवलम्बित है । साथ ही अपनी श्रद्धानुगता इस परानुरक्ति को उपास्य स्थिर भी रखना चाहता है, तभी तो उपासनासिद्धि है । यह काम बुद्धिमय विश्वास पर अवलम्बित है । मन की श्रद्धा से उपास्य के साथ स्नेहबन्धन होता है, बुद्धि की स्थिरता से यह स्नेहबन्धन दृढ बनता है । उपासना में बन्धन, और बन्धन दृढता, दोनों भाव अपेक्षित हैं । अतएव वही श्रद्धासूत्र उपासना का उपोद्बलक माना जाएगा, जिस श्रद्धा का आधार विश्वास होगा । बुद्धिसहकृत मनोयोग ही विश्वासगर्भिता श्रद्धा का योग है । एवं यही योग उपासना सिद्धि का अन्यतम, तथा आवश्यक द्वार है । निम्नलिखित लक्षण इसी सिद्धि-द्वार का समर्थन कर रहा है—

विश्वासगर्भितश्रद्धासूत्रसहयोगेन लक्ष्यमनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्

४

---*---

८६–भक्त्युपासना के साध्य साधन भेद से दो विवर्त्त, दोनों का परस्पर पृथक्त्व, ईश्वर और जीव के मध्य में जीव के प्रज्ञापराधजन्य रागद्वेषस्थिताऽविद्यादि आवरण और साधन भक्ति द्वारा एतद्व्यपोहन, नित्या साध्यभक्ति, ईश्वर में आत्मलीन होजाना जीव का परमकर्तव्य –

भक्ति, किंवा उपासना के साध्य, साधन भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। साध्या भक्ति भिन्न वस्तुतत्त्व है, साधनभक्ति भिन्नवस्तु तत्त्व है। प्रकृत परिच्छेद में इन्हीं दोनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं। बतलाया गया है कि, विश्वासगर्भित श्रद्धासूत्र द्वारा उपास्य में मनोबुद्धि का समर्पण करना ही उपासना है। जिन साधनों से कालान्तर में उपास्य उपासक में लीन होने वाला है, वह साधनावस्था साधनभक्ति है। एवं साधनभक्ति द्वारा प्राप्त समर्पणावस्था साध्यभक्ति है। भक्ति का अर्थ है–भाग, अंश, अवयव। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार यद्यपि जीवमात्र उसके अंश–भाग बने हुए हैं। फलतः सभी जीव प्रकृत्या उसकी भक्ति (अवयव) किंवा भक्त हैं। तथापि आवरणदृष्ट्या यह प्राकृतिक भक्तिभाव मुकुलित बना हुआ है। ईश्वर और जीव के मध्य में जीव के प्रज्ञापराध से उत्पन्न अविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशादि आवरण आए हुए हैं। इन आवरणों से उसके साथ रहने वाला इसका स्वाभाविक भक्तिभाव (अवयवभाव) तिरोहित होरहा है साधनभक्ति द्वारा एकमात्र इसी आवरण को हटाया जाता है। आवरण हटते ही–**'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** के अनुसार स्वतः सिद्ध प्राकृतिक भक्तिभाव उसी प्रकार प्रस्फुटित होजाता है, जैसेकि वायुद्वारा मेघावरण के हटते ही स्वतः सिद्ध पहिले से ही विद्यमान सूर्य्य प्रकट होजाता है। साध्यभक्ति नित्य है। ईश्वरानुग्रहात्मिका है। साधनभक्ति ही जीवव्यापार की अपेक्षा रखती है साधनभक्ति द्वारा आवरण हटातेहुए जीव का स्वतःसिद्ध प्राकृतिक नित्य भक्तिभाव से प्रस्फुटित होजाना ही भक्तिप्राप्ति कहलाती है। एक ओर उपास्य है, दूसरी ओर उपासक है, मध्य में आवरण है। इस प्रतिकूल आवरण रूप माध्यम के रहते हुए परमात्मभक्तिसम्बन्ध का तिरोभाव होरहा है। अब यहाँ जीव को दो काम करने हैं। आवरण हटाना पहिला काम है, एवं अपने आपको दृढ़ प्रत्ययद्वारा अपने भक्तिभाव से उपास्य में लीन कर देना दूसरा काम है। ये दोनों काम जिससे सम्पन्न होते हैं, वही साधनभक्ति कहलाई है। साधनभक्ति ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा उपास्य–उपासक का मध्यावरण भङ्गपूर्वक परस्पर सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध सदा द्विनिष्ठ होता है, दो का होता है। सम्बन्ध कराने वाला तीसरा होता है। उदाहरण देखिए––

८७–उपास्य उपासक की तादात्म्यसम्पादिका साधनभक्ति, नित्यद्विनिष्ठ सम्बन्ध और विच्छेद, वेदनिधि गोप्ता ब्राह्मणों एवं तदितर वर्णों का जातीयकर्म्मत्यागमूलक निमित्त दिग्दर्शन—

एक पत्र का अन्य पत्र के साथ सम्बन्ध कराने वाला तीसरा स्नेहद्रव्य (गोंद–ल्याई आदि) है। उच्चाधिकारी से सामान्य व्यक्ति का परिचय कराने वाला तीसरा परिचायक होता है। वरपाणि का कन्यापाणि से सम्बन्ध करानेवाले तीसरे कुलपुरोहित हैं। औषधि का रोग से सम्बन्ध कराने वाले तीसरे सद्वैद्य हैं। कारागार से स्वतन्त्रता प्रेमियों का सम्बन्ध कराने वाली तीसरी घातक राजनीति है। प्राड्विवाक

(वकील), और न्यायाधीश (जज्) का संघर्ष उत्पन्न करानेवाला तीसरा न्यायग्रन्थ (लॉ) है। भारतीय नरेशों का दासता से गठजोड़ कराने वाला तीसरा रेजिडेन्ट है। ये निदर्शन हैं। सभी सम्बन्धों में तीसरा सहायक अपेक्षित है। न केवल सम्बन्ध कराने में ही, अपितु सम्बन्ध विच्छेद में भी तीसरा ही निमित्त बनता है। वेदनिधि गोप्ता ब्राह्मणों ने वेदसम्बन्ध परित्याग किया आलस्य-परपरिग्रहग्रहणरूप माध्यमों के अनुग्रह से। क्षत्रियों का पुरुषार्थ से सम्बन्ध छूटा कायरता के अनुग्रह, एवं ब्रह्मबल के तिरस्कार से। वैश्यों की अर्थशक्ति का विनाश हुआ ब्रह्मक्षत्र की उदासीनता से। शूद्रों का सेवाभाव से सम्बन्ध विच्छेद हुआ पश्चिमी राष्ट्रों की कूटनीति से। नवयुवकों का भारतीयसंस्कृति-साहित्य-आदर्श से विच्छेद हुआ पश्चिमी शिक्षा से। भारतीय नरेशों ने देशप्रेम खोया विदेशनिवास मोह से।

८८-उपास्य-उपासक-शाश्वतसम्बन्ध-विच्छेदक अविश्वासगर्भित अश्रद्धा-कुतर्क-संशय, निःसंदिग्ध ईश्वर प्रात्ययिका उपासना, उपासक का ईश्वरावयवानुबन्धि भक्तत्व (अवयवत्व), एवं श्रद्धास्नेहन-द्रव्य-माध्यम-प्रयुक्तउभयसायुज्यभाव—

उपास्य-उपासक के शाश्वत सम्बन्ध का विच्छेदक जहाँ अविश्वासगर्भित अश्रद्धा-कुतर्क-संशय हैं, वहाँ दोनों के शाश्वतसम्बन्ध के उत्तेजक हैं विश्वासगर्भिताश्रद्धा, निःसंदिग्धईश्वरप्रत्यय, शास्त्राभ्यास, देव-द्विज-गुरु-उपासना। इन सब में मुख्यसाधन विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही है, जैसा कि पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया जाचुका है। श्रद्धा ही वह स्नेहनद्रव्य है, जिसके माध्यम से दोनों का सायुज्यभाव होजाता है। इस श्रद्धासूत्र द्वारा उपासक उपास्य का वस्तुतः भक्त (अवयव) बन जाता है, वैसे ही, जैसे अङ्गुलि शरीर का भक्त किंवा भक्ति है। हय भक्तभाव, किंवा भक्तिभाव (जिसे कि हम साध्याभक्ति कहेंगे) श्रद्धानुगत जिस अर्चनादि कर्म्म से प्राप्त होता है, वही साधनभक्ति है, जिसे वस्तुतः भक्तिप्राप्त्युपाय कहना समीचीन होगा। भक्तिकरण से भक्तिप्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में भक्तिप्राप्त्युपायभूत कर्म्मों से भक्ति मिलती है।

८९-साध्या भक्ति का प्रवर्त्तक भक्तिकरणकर्म्म (परिचर्या आदि), तत्प्रयुक्त भक्ति-पदप्राप्ति एवं तत्सिद्धिप्राप्ति सम्भूत विमुक्त का निरूपण—

भक्तिकरणकर्म्म क्योंकि साध्याभक्ति का प्रवर्त्तक है, अतएव ताच्छब्द्यन्याय से यह भक्तिकरणकर्म्म भी आगे जाकर 'भक्ति' कहलाने लग गया है। भक्तिकरण कर्म्म स्वयं भक्ति नहीं है, अपितु भक्तिप्राप्ति का सहायक है, निमित्त है। 'हे इष्टदेव। यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो भक्ति प्रदान कीजिए' इसवाक्य का यह अर्थ नहीं है कि, 'मैं आपकी परिचर्य्या करूं'। अपितु अर्थ है इसका यह कि-मैं आपका भक्त-अंश-जुज-बन जाऊं, भगवत् स्वरूप में परिणत होजाऊँ, तद्द्वारा बन्धन से विमुक्त होजाऊँ"। परिचर्य्या-तो भक्तिप्राप्ति का साधन है। परिचर्य्या भक्तिकरणात्मक कर्म्म है, न कि भक्ति। 'भगवान् की भक्ति करो' इसवाक्य में भक्ति से भक्तिकरणकर्म्म अभिप्रेत है। 'अमुक व्यक्ति भगवान् का भक्त है' इसवाक्य में भक्तपद से साध्याभक्ति अभिप्रेत है। 'अमुक व्यक्ति भगवान की बड़ी भक्ति करता है। निरन्तर भगवदर्चन-नामस्मरण में ही लीन रहता है' इसवाक्य में पठित भक्ति शब्द भक्तिकरणकर्म्म का द्योतक है। इस भक्तिकरण कर्म्मरूपा औपचारिकी भक्ति से जिस दिन भक्तिसाधक कर्म्मानुगामी उपासक भक्तिपद प्राप्त कर लेता है, उस दिन तो यह विमुक्त होजाता है। फिर माला जपना, नामसंकीर्त्तन करना-प्रतिमार्चन करना सभी साधन अन्तर्मुख बन जाते हैं।

६०-"उप+आसना"-न्वितार्था "उपासना" एवं तत्प्राप्त्युपायादि का लोकव्यवहार किंवा उपचारधिया भक्त्युपासनात्व—

सामान्य दृष्टया इसी भक्ति का पर्य्याय है-'उपासना'। 'उप' का अर्थ है-'समीप'। 'आसना' का अर्थ है-'प्रतिष्ठा'-'बैठक'। उपास्य का अवयव बन जाना ही उपास्य के समीप बैठना है, यही उपासना है। यह उपासना (भगवत्सान्निध्य) जिन अर्चनादि उपायों से प्राप्त होती है, तत्कर्म्म भी उपासना कहलाने लग गया है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, भक्ति, किंवा उपासना साध्य है, लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए जो अर्चनादिकर्म्म किए जाते हैं, उन्हें ही लोकव्यवहार में उपचारधिया भक्ति, किंवा उपासना कहा जाता है। भक्तिकरणात्मिका उपासना के इसी तात्पर्य्य का निम्न लिखितलक्षण से समन्वय हुआ है—

उपास्यदेवताभक्तिप्राप्त्यर्थमनुष्ठीयमानकर्म्मानुगमन मेवोपचारापदुपासनम्



*

६१-अन्तर्याम सम्बधेन जीवसत्तात्मक द्वैत का विलय, ग्रन्थिबन्धनोपयिक संचरभावानुगत कर्म्मों का क्षय एवम् अद्वैतप्रवर्त्तिका उपासना का ज्ञानयोगत्व—

यद्यपि जीवात्मतत्त्व परमात्वतत्व से व्यवहारतः भिन्नतत्त्व है, तथापि यह भक्तिकरणकर्म्म के माध्यम से परमात्मा में भक्तिभूत बनता हुआ उसके सामीप्य का अधिकार अवश्य प्राप्त कर लेता है। तत्त्वतः उपासना में समवलयलक्षणा परामुक्ति नहीं होती। प्रत्येक दशा में पृथगात्मता ही बनी रहती है। जीवात्मा का परमात्मा से दो प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। अन्तर्य्याम सम्बन्ध से जीव का परमात्मा से युक्त होजाना एक दृष्टिकोण है। जिसप्रकार भोजनद्रव्य उदरसात् होकर रसासृगादिरूप द्वारा शरीररूप में परिणत होजाता है, भोजनद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता उच्छिन्न होजाती है। एवमेव अन्तर्य्याम सम्बन्धेन जीव ईश्वरस्वरूप में परिणत होजाता है, दोनों अभिन्न होजाते हैं, जीवसत्तोच्छेदपूर्वक द्वैतभाव मूलतः विलीन होजाता है। ग्रन्थिबन्धनोपयिक संचर (सृष्टि) भावानुगत कर्म्म का लेश भी शेष नहीं रह जाता। कर्म्मगर्भित विशुद्ध ज्ञान का ही साम्राज्य रह जाता है। अतएव अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मिका अद्वैतभावप्रवर्त्तिका ऐसी निर्गुणोपासना को हम 'ज्ञानयोग' ही कहेंगे। ऐसी निर्गुणोपासना के सम्बन्ध में भगवान् शङ्कराचार्य्य का अद्वैतस्थापन पक्ष सर्वथा प्रमाणिक, एवं उपादेय माना जाएगा।

६२-अपरामुक्तिलक्षण-सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्य-विवर्तचतुष्टय, एवं रामानुज-वल्लभ-निम्बार्क-मध्व-प्रभृति आचार्य्यों के विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतादिभाव प्रेरितोपासनाकाण्डाख्य "भक्तियोग" का निरूपण—

बहिर्य्यामसम्बन्ध से जीव ईश्वर का सान्निध्य (जिसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, भेद से अपरामुक्तिलक्षण चार विवर्त्त माने गए हैं)। मात्र प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मवित ही ब्रह्म बन सकता है,

ब्रह्मोपासक नहीं। भगवान् रामानुज का सगुणब्रह्मवाद इस सगुणोपासनाकाण्ड की दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक तथा उपादेय है। सगुणोपासना में विशिष्टाद्वैत ही मान्य है, निर्गुणोपासना में अद्वैत ही मूलप्रतिष्ठा है। दृष्टिकोण भेद से उभयसम्प्रदायवाद स्व स्व स्थान में अक्षुण्ण है। सगुणोपासना में आधिभौतिक आलम्बन अनिवार्य्य है। निर्गुणभाव में क्योंकि भौतिकालम्बन का ऐकान्तिक अभाव है, अतएव उस पथ को हम विशुद्ध आधिदैविक ही कहेंगे। उपासना का स्वरूप क्योंकि, उभय समन्वय पर निर्भर है, अतएव निर्गुणो--पासना का हम ज्ञानयोग में ही अन्तर्भाव मानेंगे। भगवान् रामानुजवल्लभ--निम्बार्क--माध्वाचार्य्यादि वैष्णवाचार्य्य सम्मत वह सगुणोपासना, जिसमें विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, आदि भावों के कारण भौतिक--दैविक, दोनों का समावेश है--ही उपासनाकाण्ड कहलाएगा, जो कि साम्प्रदायिक भाषा में '**भक्तियोग**' कहलाया है।

९३--उपास्योपासक निर्वचन प्रयुक्त "नृप-सेवक" उदाहरण एवं अनुग्राह्य अनुग्राहक भावोपरति समुत्थाद्वैत-निरूपण--

आहार्य्यारोपविधा, प्रतिकृतिविधा, प्रतीकविधा, इन तीन उपासनाविधाओं के द्वारा, जिनका स्वरूप अगले प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है, जीवात्मा स्वोपास्य की--'उप--आसना' लक्षणा उपासना में सफल होसकता है। 'उपास्ते' का ऋजुतात्पर्य्य है--'**ईशसमीपे आस्ते**'। यह सान्निध्य--**लोकतः, संनिधानतः, शरीरतः, परिमितअधिकारतः,** चार ही भाँति से सम्भव है। अतएव सगुणो--पासनालक्षणा अपरामुक्ति के चार ही विवर्त्त माने गए हैं। एक सेवक राजा की उपासना करता है। प्रसन्न होकर राजा आज्ञा दे देता है कि, आज से तुम शहर में न रह कर हमारे प्रासाद में ही रहा करो। अधिक प्रसन्नता में--'हमारे समीप ही रहा करो' यह कह देता है। और भी अधिक प्रसन्नता में राजा अपना प्रतिष्ठापद (ताजीम) दे देता है। जो प्रतिष्ठा राजा की होती है, वही इस सेवक की भी होने लगती है। आत्यान्तिक प्रसन्नता पर परिगणित अधिकारों के अतिरिक्त राजा अन्य सब अधिकार भी इसे देदेता है। ये ही चारों श्रेणियाँ क्रमशः **सालोक्य (लोकतः) सामीप्य (संनिधानतः), सारूप्य (शरीरतः), सायुज्य (परिमित आधिकारतः),** इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। सेवक सेवा द्वारा सभी कुछ प्राप्त करलेता है। राजा के समान प्रजा इसका शासन भी मानने लगती है। परन्तु, राजा नहीं बन सकता। जिस दिन सेवक राजा भी बन जाएगा, उस दिन तो अनुग्राह्य--अनुग्राहक सम्बन्ध ही न रहेगा। फिर तो उस अद्वैत--सम्पत्ति का समावेश होजाएगा, जो सेवा से नहीं, अपितु समानप्रत्ययप्रवाहात्मक ज्ञानयोग से सम्भव है।

९४ उपासनानन्यधिया उपासक का लोकतः, सन्निधानतः, शरीरतः, परिमित अधि--कारतः ईश्वरसम्बन्धानुबन्ध एवम् अनुष्ठीयमान भक्तिकरणात्मक-कर्म्मानुत्य का उपचारविधा "उपासना" नाम्ना--निरूपण--

यही दृष्टान्त व्यवस्था जीवेश्वर सम्बन्ध में घटित है। उपासना से उपासक जीव 'गोसव' नामक विष्णुधामात्मक ईश्वरलोक में जाता हुआ लोकतः सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है। ३६ अहर्गणस्थित पारमेष्ठय विष्णु के समीप जाता हुआ सन्निधानतः सम्बन्ध प्राप्त करसकता है। पारमेष्ठय व्याप्तिअधि--धर्म्मानुग्रह से तद्रूप में परिणत होता हुआ शरीरतः सम्बन्ध प्राप्त करसकता है। सृष्टिकर्म्मत्त्वादि परि--गणिताधिकारों को छोड़ कर निग्रहानुग्रहादि अन्यान्य अधिकार प्राप्त करता हुआ परिमित अधिकारतः

सम्बन्ध प्राप्त करसकता है । सब कुछ बन सकता है, ईश्ववत् बन सकता है, ईश्वर नहीं बन सकता । यही उपासना का चरम फल है, जिसके लिए जीव को परमात्मा का भक्त (अवयव) बनना आवश्यक है । इस भक्तिभाव प्राप्ति के लिए जीवात्मा भक्तिकरणात्मक जिस साधक कर्म का अनुगमन करेगा, वह साधनात्मक कर्म ही, जिसे कि हम साधानात्मिका भक्ति कहेंगे, उपचारविधा 'उपासना' नाम से व्यवहृत हुआ है । निम्न लिखित लक्षण इसी उपचारविधात्मक भक्तिस्वरूप का समर्थन कररहा है—

"जीवात्मनः परमात्मभक्तिकरणमुपासनम्"

--६--

—*—

९५—उपासक द्वारा उपास्य के धर्म्मों का मन बुद्धि शरीरात्मना सर्वभावेन तादात्म्यीकरण, उपास्य अध्वर्यु, अनुगामी प्रतिप्रस्थाता—ऋत्विक् एवं उसके अन्तर्जगत में अध्वर्यु के इच्छा कर्म्म की सतत चर्वणा के सात्म्य से सम्भूत उपासना—सिद्धि का अन्यतम द्वार —

उपासना के द्वारा उपासक उपास्य के धर्म्मों का क्रमिक अभ्यास द्वारा अपने आप में समावेश करता हुआ उपास्य में तल्लीन होना चाहता है । इस सायुज्यभाव प्राप्ति के लिए उपासक को अवश्य ही आरम्भ में उपास्यधर्म्मों का अनुगमन करना पड़ेगा । उदाहरण के लिए ईश्वर को ही उपास्य मान लीजिए । ईश्वरीय मन सत्यसंकल्प से, प्राण कर्म्म से, वाक् सत्यवाणी से युक्त है । उपासक को मनसा—वाचा—कर्म्मणा इसी सत्य का अभ्यास करना पड़ेगा । उपासक के मन—बुद्धि—इन्द्रियवर्ग—आत्मा—शरीर—सब कुछ आध्यात्मिक पर्व उपास्य ईश्वरधर्म्मों के अनुगामी बने रहेंगे, एवं तभी उपासक लक्ष्य पर पहुँच सकेंगे । पूर्व प्रकरण के—'सहजोपासना' परिच्छेद में इसी धर्म्मसमर्पण को सर्वधर्म्म परित्याग कहा गया है । 'प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युमुपास्ते' इस कर्म्मकाण्डलक्षण के अनुसार प्रतिप्रस्थाता-स्थानीय उपासक को अध्वर्युस्थानीय ईश्वर के प्रति मनबुद्धयादि अर्पित करने पड़ेंगे । याज्याकर्माधिष्ठाता अध्वर्यु जब अपना कर्म्म समाप्त कर लेता है, तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता अपना वह कर्म्म करता है, जिससे अध्वर्यु कर्म्म साङ्गोपाङ्ग बनता है । फलतः जब तक अध्वर्यु स्वकर्म्म करता रहता है, तब तक अनुगामी प्रतिप्रस्थाता को अपना मनोयोग अध्वर्यु के प्रति अनन्य-भाव से समर्पित रखना पड़ता है । उपास्य अध्वर्यु की यह इच्छा है कि, जब तक मैं अपना कर्म्म समाप्त नहीं कर लेता, तब तक तुम प्रतीक्षा करो । अध्वर्यु की इस इच्छा के अनुकूल ही प्रतिप्रस्थाता को अपनी इच्छा बनानी पड़ती है । प्रतिप्रस्थाता का कर्म्म वास्तव में अध्वर्यु का ही कर्म्म है । क्योंकि, अध्वर्यु उतना कर्म्म करने में असमर्थ है, अतएव प्रतिप्रस्थाता—नामक ऋत्विक् सहायक बना दिया जाता है । प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु का प्रातिनिध्य ही करता है । निष्कर्षतः उसकी जो इच्छा, जो कर्म्म है, वही इच्छा, वही कर्म्म इस प्रतिप्रस्थाता का है । प्रतिप्रस्थाता के अन्तर्जगत् में सतत अध्वर्यु की इच्छा—कर्म्म की ही चर्वणा चल रही है । उस की प्रत्येक इच्छा—प्रत्येक कर्म्म इस के लक्ष्य में है और यही उपासना सिद्धि का अन्यतम द्वार है ।

६६–"द्वारदेशस्थितः सेवको राजान मुपास्ते" इत्यात्मक सेवक-मनोबुद्धिलयात्मक वृत्तिधर्म्मावच्छिन्न उपासना स्वरूप का निर्वचन—

राजा किसी उत्सव विशेष में जाते हुए सेवक को यह आदेश दे जाते हैं कि, जब तक हम वापस न लौटें, तब तक तुम यहीं रहना। बस सेवक के मन–बुद्धयादि राजा की आदेश–प्रतीक्षा में तल्लीन होजाते हैं। इतस्ततः ध्यान न बाँटता हुआ सेवक–'अब आते हैं–कब आते हैं' वृत्युन्मुख बनता हुआ सज्जीभूत बन कर राजा की प्रतीक्षा करता रहता है। ऐसी स्थिति के लिए भी हम कह सकते हैं कि–द्वारदेशे स्थितः सेवको राजानमुपास्ते'।

६७–"समितिसभ्या घटिकायन्त्रशब्द मुपासते" इत्यात्मक मनोबुद्धि समाकर्षि-"उपासना" लक्षण निर्वचनम्—

नागदन्त (खूंटी) पर घटिकायन्त्र टंगा हुआ है। हम नीचे खड़े हैं। ठीक दस बजे हम अपनी समिति का कार्य्यारम्भ करने वाले हैं। दस के सान्निध्य में जब घटिका–सूची आनी लगती हैं, तो हम कहते हैं–'जरा शान्त होजाइए। अब दस की टङ्कार होने ही वाली है। सब सभ्यों के मन–बुद्धि उस ध्वनि की ओर आकर्षित होजाते हैं। उपास्यघटिकायन्त्र का भावी शब्द (ध्वनि) सब का लक्ष्य बन रहा है। अन्य–मनस्कता में लक्ष्यच्युति सम्भव है, ध्वनिश्रवण में व्याघात सम्भव है। इसी उदाहरण के लिए 'समिति–सभ्याः–घटिकायन्त्रशब्दमुपासते' कहा जासकता है।

६८–उपास्येच्छावृत्यनुकूलाचरणात्मिका "उपासना" एवं "यवनसाधुर्बकवृत्या पणक मुपास्ते" दृष्टान्त–निरुक्ति—

बक (बगुला) सरोवर में एक पैर से खड़ा रहकर ध्यानमग्न होकर मत्स्य के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। पानी में आघात लगने से मछली भाग सकती है। प्रत्याघात जनित अप्–शब्द मत्स्यागमन का प्रतिबन्धक है, मत्स्यागमनेच्छा के विरुद्ध है। अतएव वस्तुतः उपासक बक मत्स्यागमनवृत्ति के अनुकूल बने रहने से शान्तभाव से खड़ा रहता है और इस ऐकान्तिक ध्यान से वह लक्ष्य पर पहुँच जाता है, मछली मिल जाती है। इसी उदाहरण के लिए कहा जासकता है कि–'ध्यानमग्नो बको मत्स्यागमनमुपास्ते'। सचमुच उपासना में सुप्रसिद्ध 'बकध्यान' ही अपेक्षित माना गया है। यही उपासक का शिक्षक है। ऐका–न्तिक ध्यान कैसे किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर 'बकध्यान' से भली भाँति मिल सकता है।

६९–घटिकायन्त्र–मत्स्य–पणकादि पार्थिवालम्बन सापेक्षा "उपासना" एवम् आधिभौतिकाधिदैविक समन्विति का उपासनालक्षणेन निर्वचन—

यवनसाधु (मुसलमान फकीर) का दृष्टान्त इसलिए उपस्थित करना पड़ रहा है कि, हिन्दू–साधु तो आज इस कर्म्म के भी योग्य नहीं रह गए हैं। एक फकीर राजमार्ग के फटफाथ पर आंखमूंदे बैठा हुआ है। वह जानता है कि, दाता से बलपूर्वक नहीं लिया जासकता। इसके लिए तो बकवृत्ति धारण करना ही आव–श्य है। यदि मैं दाता की इच्छा के विरुद्ध बलप्रयोग करूंगा, तो पैसा न मिलेगा। यह निश्चय कर वह शान्तभाव से एकत्र बैठ जाता है, और कहने लगता है—'दे उसका भी भला, न दे उसका भी भला'। लक्ष्य

पर पैसा चढ़ा हुआ है । पैसा लेना है, इसे दाता से । अतः परम्परया दाता भी उपास्य बन रहे हैं । इस उपास्येच्छावृत्त्यनुकूल आचरण से अवश्य ही यह अपनी उपासना में सफल हो जाता है । इसी उदाहरण के लिए कहा जासकता है कि—'यवनसाधुर्बकवृत्या पणकमुपास्ते' ।

१००-घटिकायन्त्रध्वनि-मत्स्यागमन-पणकप्रतीक्षाऽनुबन्धिनी दृष्टान्तत्रयी के सम्बन्ध में विवक्षित आधिभौतिक आधिदैविक आलम्बन, तन्निष्ठा उपासनासिद्धि एवम् एतद्द्वयी-समन्विति का उपासना-निदानत्व—

घटिकायन्त्रध्वनि, मत्स्यागमन, पणकप्रतीक्षा, उक्त तीनों दृष्टान्तों से हमें उपासना के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है । अतएव ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किए गए हैं । तीनों ही दृष्टान्त ऐसे हैं, जिनमें मन निरालम्ब ठहरा हुआ है । घटिकाशब्द, मत्स्यागम, पणप्राप्ति, अभी भावी गर्भ में हैं । न समितिसभ्यों के सामने ध्वनि है, न बक के सामने मत्स्य है, एवं न साधु के सामने पैसा है । फिर भी तीनों के मन उन भावी आलम्बनों पर दृढ होरहे हैं । इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, आधिभौतिक आलम्बन के बिना उपासना बन सकती है । अवश्य ही प्रत्येक दशा में भौतिक आलम्बन तो अपेक्षित है ही । घटिकाशब्द प्रतीक्षा में घटिकायन्त्र स्वयं भौतिक आलम्बन है । घटिकायन्त्र के अभाव में कभी हमारा मन निरालम्ब-घटिकाशब्द में तल्लीन नहीं होसकता । मत्स्यागमन में आधिभौतिक पानी आलम्बन है । शुष्क सरोवर में बक कभी स्वध्यानवृत्ति-व्याज का अभिनय नहीं करेगा । साधु के लिए पथिक ही आधिभौतिक आलम्बन हैं । वह जानता है कि अमुक मार्ग से जनसमुदाय आता जाता रहता है । वैसे ही जनसमाकुल स्थान में वह स्वोपासनासिद्धि के लिए बैठता भी है । जहाँ जनसमुदाय के गमनागमन का अभाव है, वहां वह कभी न बैठेगा । इस प्रकार तीनों ही भावी आलम्बनों में प्रत्यक्षात्मक भौतिक पदार्थ आलम्बन बन रहे हैं । तभी तो हम इन्हें उपासनादृष्टान्त मान रहे हैं । आधिभौतिक-आधिदैविक, दोनों के समन्वित रूप का ही नाम तो उपासना है ।

१०१-उपासना शब्द गत-उप+आस्ते, तन्निष्ठ आधिदैविक "उप" एवं आधिभौतिक "आस्ते" एवं उपासक-कर्तृक अध्यात्मभाव की अक्षुण्ण आधिभौतिकता का निरूपण—

स्वयं **'उपासना'** शब्द भी इसी उभयसमन्वय का समर्थन कर रहा है । **'उप-आस्ते'** वाक्य में **'आस्ते'** का कर्त्ता भिन्न है, जिसके समीप कर्त्ता बैठता है, यह कर्त्ता से भिन्न है । **'आस्ते'** का कर्त्ता (बैठने वाला) आधिभौतिक है । जिस के समीप यह कर्त्ता बैठता है, वह आधिदैविक है । इस प्रकार--"उपास्ते" का "उप" भाव आधिदैविक भाव का, **"आस्ते"** भाव आधिभौतिक भाव का समर्थक बन रहा है । फलतः **'उपास्ते'** वाक्य दोनों के समन्वित रूप का ही उपासनापरत्व सिद्ध कर रहा है । प्रश्न हो सकता है कि, 'आस्ते' का कर्त्ता उपासक तो आध्यात्मिक है । फिर 'आस्ते' से आधिभौतिक का ग्रहण किस आधार पर किया गया ? उत्तर में कहा जाएगा कि, साधन, कर्त्ता. दो तरह से 'आस्ते' भाव आधिभौतिक का समर्थक बना हुआ है । मान लेते हैं-अस्ति का कर्त्ता उपासक आध्यात्मिक है । परन्तु, जिन साधनों से यह अपना उपासनाकर्तृत्व निभाता है, वे साधन तो आधिभौतिक ही हैं । इन साधनों के प्रति उपासक के आत्मा का ममत्व है । **'यावद्वित्तं तावदात्मा'** इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार साधन भूत परिग्रह उपासक से अभिन्न हैं । एवं इस परम्परा से उपासक की आधिभौतिकता अक्षुण्ण है ।

१०२-अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवतभावानुबन्धी विभिन्न महिमविवर्तों के अनुबन्ध से नाक्षत्रिक संस्थानुगता उपासना के रहस्यात्मक तथ्यों का स्वरूप--समन्वय--प्रयास-

अपिच, उपासक स्वयं भी साक्षात्रूप से ही आधिभौतिक भी माना जा सकता है। शारीरिकसंस्था अध्यात्म विवर्त्त है, पार्थिवसंस्था आधिभौतिक विवर्त्त है, सौरसंस्था आधिदैविक विवर्त्त है। यद्यपि विज्ञान दृष्ट्या (केवल शरीरस्थित आत्मा को छोड़कर) तीनों ही संस्था भौतिक विश्वात्मक होने से आधिदैविक ही हैं, तथापि उपासना-सम्बन्ध से तीनों में अध्यात्मादि की व्यवस्था मान ली गई है । खगोलीयनक्षत्र-मण्डल सौरजगत् में अन्तर्भूत होने के कारण आधिदैविक है। इन नक्षत्रपुञ्जों के राशि-आकार के अनु-रूप मेष-वृष-मिथुन-कर्कादि चित्र कल्पित हुए हैं। इन कल्पित चित्रों को आलम्बन बना कर नक्षत्रपुञ्जों की उपासना ज्योतिः शास्त्र में विहित है। सौरमण्डलान्तर्गतत्त्वेन नक्षत्रपुञ्ज भी आधिदैविक हैं। तत्प्रतिकृ-तियों का तो आधिदैविकत्त्व स्वतः सिद्ध है ही। परन्तु उपासना क्योंकि उभयसमन्वय के बिना बन नहीं सकती अतएव प्रत्यक्षदृष्ट नक्षत्रपुञ्जों को आधिभौतिक मानना पड़ता है, एवं चित्रों को आधिदैविक मानना पड़ता है। नक्षत्रों को आलम्बन बना कर तत्-तत् देवप्राणों की उपासना जाती है। प्रकृत में कहना यह है कि, आत्मविवर्त्त को छोड़ कर पार्थिव शरीर, चान्द्रमन, सौरबुद्धि, अग्निमयीवाक्, वायुमय प्राण, आदित्यात्मक चक्षु, दिक्सोमात्मक श्रोत्र, भास्वरसोमात्मक इन्द्रिय मन, ये पाँचों इन्द्रियाँ, सभी तो आधिभौतिक हैं। मनबुद्धयादि द्वारा ही तो उपासक आत्मा उपास्य प्राप्ति में सफल बनता है। प्रतिमादि जहां बाह्य आधि-भौतिक साधन हैं, वहां मन-बुद्धि-इन्द्रियादि आभ्यन्तर आधिभौतिक साधन हैं। ये-आभ्यन्तर साधन-'आत्मेन्द्रिमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यादि कठोपनिषत् सिद्धान्तानुसार जहां 'आस्ते' के कर्त्ता बनते हुए साक्षात्रूपेण आधिभौतिक हैं, वहां प्रतिमादि साधन साधनात्मकत्त्वेन अधिभौतिक हैं। इसप्रकार उभयथा आस्ते का कर्त्ता उपासक आधिभौतिक बन रहा है । एवं 'उप' भाव आधिदैविक का संग्राहक बन रहा है। फलतः 'उपास्ते' से भौतिकदैविक दोनों का संग्रह हो रहा है। अवश्य ही उपासना-सिद्धि के लिए दोनों भावों का अनुगमन अनिवार्य्य हो जाता है। जहां दोनों आधिदैविक होंगे, वहां एक को आधिभौतिक मानना पड़ेगा, एक को आधिदैविक, जिस का उदाहरण नक्षत्रात्मक है। जहां दोनों आधिभौतिक होंगे, वहां एक को आधिदैविक मानना पड़ेगा, जिस का उदाहरण निम्न लिखित है।

१०३-यच्चयावत् निःस्वार्थभावेन सम्पादित कर्म्म का उपासनात्व, स्वार्थवृत्यनुगा उपासना के अधिदैवततत्त्व की अधिभूततत्त्व में परिणति, एवं स्वार्थराहित्येन विहित कर्म्म के अधिभूततत्त्व का भी अधिदेवत्त्व निरूपण—

सुवर्ण और सुवर्ण की खान, यहां दोनों ही आधिभौतिक हैं। सुवर्णखोदना लक्ष्य है, दूसरे शब्दों में सुवर्णप्राप्त करना लक्ष्य है। दृष्टि खान पर है, मन सुवर्ण पर है। खान साधक है, सुवर्ण लक्ष्य है, आराध्य है, उपास्य है, साथ ही दोनों ही आधिभौतिक हैं। यदि प्राप्तसुवर्ण से परमार्थ कर्म्म अभीष्ट है, तो यही सुवर्ण पारमार्थिक आधिदैविक फल का जनक बनता हुआ स्वरूपतः आधिभौतिक रहता हुआ भी परम्परया आधिदैविक बन जाएगा । और उस दशा में सुवर्णान्वेषक को हम कर्म्मयोगानुयायी कह रहे हैं,
... को दृढमूल नहीं

उपासक कहेंगे। उपासनासिद्धि के लिए आधिभौतिक भी सुवर्ण को आधिदैविक मानना पड़ेगा। मानना क्या पड़ेगा, निःस्वार्थभावनात्मक लक्ष्य से सुवर्ण स्वतः एव आधिदैविक बन जाएगा। निःस्वार्थभावेन संगृहीत सुवर्ण से राष्ट्र का उपकार होगा, विश्वात्मा सन्तुष्ट होंगे, विश्वात्मा के सृष्टिकर्म्मसञ्चालक सर्वहुतयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होगी। कर्म्म और उपासना में इस दृष्टिकोणमात्र का ही तो भेद है। यच्चयावत् उपासनाएँ स्वार्थभाव से कर्म्म बन जाती हैं, फिर भले ही उन में साध्य आधिदैविक ही क्यों न हो। एवमेव यच्चयावत् कर्म्म निःस्वार्थ भाव से उपासना रूप में परिणत हो जाते हैं, फिर भले ही उन कर्म्मों के साध्य-साधन-दोनों आधिभौतिक ही क्यों न हों। स्वार्थानुगता उपासना में जहां आधिदैविक आधिभौतिक बन जाएगा वहां निःस्वार्थ कर्म्म में आधिभौतिक आधिदैविक बन जाएगा। एवं वही कर्म्म, वही उपासना, उपासना कहलाएगी, जिस में आधिदैविक, आधिभौतिक दोनों का समन्वय होगा। बिना उभय-समन्वय के उपासना असम्भव है। उपासना में या तो उभय समन्वय प्रकृत्या रहेगा, नहीं रहेगा तो परम्परया मानना पड़ेगा।

१०४-"उपास्यवृत्यनुकूल वृत्तिधारणमुपासनम्" इत्यात्मक उपासनालक्षण-प्रकरणोपात्त सप्तमलक्षण-निरुक्ति-निर्वचन—

उक्त प्रासङ्गिक चर्चा को विश्राम देते हुए अन्त में इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, उपासना तभी उपासना मानी जाएगी, जब कि उपासक की इच्छा उपास्य की इच्छा में आत्मसमर्पण कर देगी। उपास्यवृत्ति के अनुकूल आचरण करना ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा मानी जाएगी। तभी उपासक में उपास्यधर्म्मों का प्रवाह प्रवाहित होगा। एवं इसी उपास्यधर्म्मप्रवाह से उपासक उपास्य के उप (सामीप्य) भावात्मक उपासनालक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हो सकेगा। निम्नलिखित लक्षण उपासना की इसी मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन करा रहा है—

"उपास्यवृत्यनुकूलवृत्तिधारणमुपासनम्"

७

——*——

१०५-उपासना मूलाधारभूता 'श्रद्धा", तच्छून्यतादशा प्रयुक्त पूजनार्च्चन-प्रणतभावादि का आत्मवञ्चनानिगूढ-वैयर्थ्य, एवम् श्रद्धारससिक्तमनोन्वित दृष्टि-रश्मि-सूत्रप्रोत भावनाबुद्धि का उपास्यनिष्ठ स्थिर-सम्बन्धान्वयी मूलप्रतिष्ठात्व—

सप्तमलक्षण मुग्धभावापन्न है। उपासना की मूलप्रतिष्ठा का उस से, जैसा चाहिए, विश्लेषण नहीं हो रहा, अतएव प्रकारान्तर से उक्तलक्षण का ही रूपान्तर पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। अबतक उपासना के जो भी लक्षण बतलाए गए हैं, उन से क्या फलितार्थ निकला ? प्रकृत आठवाँ

लक्षण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। दूसरे शब्दों में उपासना-मार्ग पर आरुढ उपासक किन किन नियमों, वृत्तियों आदि के अनुगमन-अभ्यास-आचरणादि से लक्ष्य पर पहुँच सकता है, प्रकृत लक्षण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। उपासना का प्रथम, साथ ही सर्वमुख्य बीज है-"श्रद्धा"। यदि श्रद्धा का अभाव है, तो अन्य नियमोपनियम, पूजन-अर्चन-ध्यानादि सब कुछ नितान्त व्यर्थ होजाते हैं। समाज-लज्जा से, वातावरणाकर्षण से, अन्यान्य कारणों से यदि हम भगवत् प्रतिमा के सम्मुख मस्तक नमा भी देते हैं, तो श्रद्धाशून्य इस प्रणत भावना का आत्मवञ्चना के अतिरिक्त और कोई फल नहीं है। श्रद्धामय मन की प्रेरणा से होने वाला प्रणतभाव ही वास्तविक प्रणतभाव है। श्रद्धाशून्य मन का योग, श्रद्धाविरहित भावनाशून्य मनो योगात्मिका चाक्षुषीदृष्टि का सम्बन्ध सर्वथा निरर्थक है। उपास्यधर्म्मानुग्रह के लिए, जिस का 'आत्मप्रसाद' प्राप्ति से श्रद्धालुजन प्रत्यक्ष में अनुभव किया करते हैं, उपासक के मन में उपास्यानुगत श्रद्धा-रस प्रवाहित रहना चाहिए। इस के चक्षु में हृदयावच्छिन्न श्रद्धामयमन से अर्कद्वारा समुस्थित श्रद्धात्मक-प्रसाद भाव रहना चाहिए। श्रद्धारस से ओतप्रोत जो मन है, ऐसे श्रद्धारसात्मक श्रद्धालु मन के साथ युक्ता जो दृष्टि है, श्रद्धारसात्मिका मनोमयी ऐसी दृष्टि के रश्मिसूत्र में प्रोत जो भावना बुद्धि है, श्रद्धारसात्मक मनोयुक्त दृष्टिसूत्रार्पित ऐसी भावानात्मिका बुद्धि का उपास्य के प्रति जो स्थिर सम्बन्ध है, वही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है।

१०६-श्रद्धा-मनोयोग-दृष्टि-दीर्घकाल-नैरन्तर्य्यापेक्षासमूह के अत्रुटिमत्, अव्यवच्छिन्न, धारावलोपकृत रूपानुगत्य का "उपासना" दृढाधारत्त्व एवं योगसूत्रेण तत्समर्थन-

और अधिक स्पष्टीकरण कीजिए। सर्वारम्भ में **श्रद्धा है**, अनन्तर **मनोयोग है**, अनन्तर **दृष्टि है**, अनन्तर स्थिरतालक्षण **दीर्घकाल** है, अनन्तर दृढभाव प्रवर्त्तक **नैरन्तर्य्य** है, सबके साथ, सबको सफल बनाने वाली **अपेक्षा है**। इसप्रकार श्रद्धा, मनोयोग, दृष्टि, दीर्घकाल, नैरन्तर्य्य, अपेक्षा, आदि साधनों के एकलक्ष्य (उपास्य) पर समन्वित होने से ही लक्ष्यप्राप्ति सम्भव है। मान लीजिए, अपने उपास्य के प्रति हमारी पर्य्याप्त श्रद्धा है। श्रद्धावश ही उपास्य हमारे लिए श्रद्धेय, दोषरहित, पूज्य बन रहा है। परन्तु, केवल इस श्रद्धात्मिका भावना मात्र से ही तब तक उपासना नहीं बन सकती, जबतक कि, श्रद्धा के साथ साथ मनोयोगा-नुगता दृष्टि उस उपास्य पर न चली जाय। श्रद्धा भी है, तदनुप्रोता मनोयोगयुक्ता भावनात्मिका दृष्टि भी है, परन्तु, कुछ ही समय के लिए। तब भी कार्य्यसिद्धि सम्भव नहीं है। दृष्टि का दीर्घकालपर्य्यन्त-आलक्ष्यसिद्धि-योग आवश्यक है। मान लीजिए-आप दृष्टि का योग तो बराबर बनाए रखते हैं। परन्तु, प्रमादालस्य लोकव्यवहारासक्तिवश मध्य मध्य में भुलाते रहते हैं। आज उपास्य की ओर दृष्टि लगाई, पुनः दस दिन छोड़दी। इसप्रकार मध्य-मध्य के विराम से दीर्घकाल भी तबतक उपयुक्त नहीं बन सकता, जब तक कि-अव्यवधानपूर्वक-निरन्तर आप उपासना-दृष्टि प्रक्रान्त नहीं रखते। नैरन्तर्य्य ही धारावल का अनुग्राहक बनता हुआ आत्मशक्तिदार्ढ्य का कारण बनता है। यह अनुभूत है कि, चिरकालिक उपासनाबल एक दिन के भी व्यवधान से धारासम्बन्ध से पृथक् होता हुआ निरर्थक बन जाता है। श्रद्धा है, मनोयोग है, दृष्टि है, दीर्घकाल है, नैरन्तर्य्य भी है, परन्तु जबतक अपेक्षाबुद्धि का भी सहकार नहीं होजाता, तबतक भी काम नहीं चल सकता। स्थिरता उत्पन्न करना अपेक्षा बुद्धि का अन्यतम धर्म्म है। 'ध्यान कर तो रहे हैं, और कैसे करें' इस उपेक्षावृत्ति से अनुष्ठीयमाना उपासना कभी उपास्य के प्रति आत्मनिष्ठा को दृढमूल नहीं

होने देती । इसप्रकार श्रद्धागर्भितमनोयोगयुक्ता दीर्घकालानुगता धारावलोपकृता अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिरदृष्टि ही उपासना-साफल्य का अन्यतम द्वार बना करती है, जिसका-'स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ भूमिः' इत्यादि योगसूत्र से भी समर्थन हुआ है ।

१०७-श्रद्धा-मनोयोगादि उपासनौपयिक-उपादान-सम्भार के उपस्थित रहते हुए भी स्वातन्त्र्यापलाप-विनाकृति में लक्ष्य (उपास्य) लय का असम्भवत्व, शिष्य-प्रयुक्त-स्वाचरण-सौविध्यापेक्षावृत्तिकारणता से आचार्यानुकूल परिस्थिति परिकल्पन-अनवसर में कृतपरिचर्य्या का वैयर्थ्य, अपिच अनन्यभाव से ईशिता में आत्मार्पण विधान और एतेनैव नित्याभियुक्त के योगक्षेम निर्वाहण का भगवच्छब्दों में प्रतिज्ञान—

अभी एक निमित्त का सहयोग और अपेक्षित है । श्रद्धादि सब निमित्तों के उपस्थित रहने पर भी सर्वप्रधान वह निमित्त अभी बच रहता है, जिसके बिना लक्ष्यलीनता असम्भव है । वह निमित्त है- 'स्वातन्त्र्यापलापपूर्विका परवशता' । उदाहरण के लिए गुरुसेवा को ही लीजिए । गुरु के प्रति उपासक शिष्य की श्रद्धासूत्रार्पिता मनोयोगयुक्ता अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिर दृष्टि अवश्य है । परन्तु, अस्थिरप्रज्ञ शिष्य इस दृष्टि में अपना स्वातन्त्र्य रखता है । अपनी सुविधा के अनुसार, अपनी अनुकूलता देकर समय निकालता है । श्रद्धेय गुरु की अनुकूल परिस्थिति का कोई ध्यान नहीं, केवल अपनी अनुकूलता अभिप्रेत है । उपास्य की परिस्थिति ने शिष्य की अपेक्षा बुद्धि का निर्म्माण नहीं किया, अपितु उपासक की परिस्थिति ने अपनी अपेक्षाबुद्धि का निर्म्माण किया । ऐसी स्वतन्त्रभावनात्मिका, स्वानुकूलपरिस्थिति-अनुगता परिचर्य्या भी अन्ततोगत्वा इतर साधनों के रहते भी व्यर्थ ही सिद्ध होती देखी गई है । अवश्य ही हमें-यहाँ इतरनिमित्तों के साथ साथ अपने आप को भी सर्वात्मना उपास्यपरिस्थिति के प्रति अर्पित कर देना पड़ेगा । उपासक को उपास्य बन जाना पड़ेगा, उपास्य के प्रत्येक धर्म्म का अनुगमन करना पड़ेगा । उपासक का सोना-उठना-हंसना-बोलना-सबकुछ उपास्य के शयनादि के साथ समतुलित करने पड़ेंगे । यही लक्ष्यसाधिका आत्मप्रपत्ति है, यही सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा भगवच्छरणागति है, जिसका पूर्वप्रकरणान्तर्गग 'सहजोपासना' परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है । जब तक उपासक का यत्किञ्चित् भी स्वातन्त्र्य है, तबतक अन्य निमित्तों के रहते भी उपासना कर्म्मकाण्ड की प्रतिच्छाया से युक्त ही मानी जाएगी । मानव की नित्य-अभियुक्तता ही इस की वास्तविक उपासना कहलाएगी । यह पारतन्त्र्य-उपास्य के प्रति आत्मसमर्पण-परिगणित कतिपय दिवसों का ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु सदा सर्वदा के लिए अनिवार्य्य है । जिस प्रकार अपने अनन्य सेवक के भरण-पोषण का ध्यान राजा को रहता है, एवमेव अनन्य शरणागत, नित्य अभियुक्त उपासक के योगक्षेम का उत्तरदायित्व उपास्य पर ही रहता है । निम्नलिखित गीता वचन इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गीता ९।२२।

१०८-उपास्यानुगत पारवश्याभावेन मनोयोगस्थिरदृष्टि युक्त भी "अभियुक्त" का योगक्षेम चिन्तापरायणता—

उपासक, अभियुक्त, प्रायः योग-क्षेम की चिन्ता में निमग्न देखे जाते हैं। कारण स्पष्ट है। वे उपास्य के प्रति श्रद्धा-मनोयोग-अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिरदृष्टि, सभीकुछ रखते हैं, एवं इन निमित्तों के सम्बन्ध से उन्हें 'अभियुक्त' भी कहा जासकता है। परन्तु, योग-क्षेम चिन्ताग्रस्त ऐसे उपासकों के सम्बन्ध में यह अवश्यही कहा जासकता है कि, उन में उपास्यानुगत पारवश्य का अभाव है। अतएव उनकी उपासना 'परि' भाव से, उनकी अभियुक्तता 'नित्य' भावसे वञ्चित रह जाती है। परिभावात्मिका उपासना 'पर्युपासना' है, नित्यभावात्मिका अभियुक्ति नित्याभियुक्ति है। एवं ऐसे पर्युपासक, तथा नित्याभियुक्त ही योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त रह सकते हैं। 'परि' भाव उपासना के यच्चयावत् निमित्तों का संग्राहक है, 'नित्य' भाव यच्चयावत् निमित्तों का सार्वकालिकत्व सूचित कर रहा है। बिना पारवश्य के 'परितः' भावका अभाव रहता है। अतएव पारवश्य-निमित्त से वञ्चिता उपासना 'पर्युपासना' नहीं बननेपाती। अतएव च केवल उपासकों, अभियुक्तों को योग-क्षेम चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है।

१०९-सर्व-निमित्त-संग्रहात्मिका पर्युपासना के (नित्याभियुक्ति के) उदाहरण वैवस्वतान्वयप्रसूत महाराज दिलीप और एतत् सम्बन्ध में कवि कण्ठीरव कालिदास की सूक्ति का संस्मरण—

उक्त-सर्वनिमित्त संग्रहात्मिका पर्युपासना का, नित्याभियुक्ति का उदाहरण वैवस्वत कुलोद्भव महाराज दिलीप माने जासकते हैं। राष्ट्रीयमर्य्यादा रक्षार्थ सन्तानकामुक सम्राट् दिलीप की गोसेवा-आराधना-इसी 'परि' भाव सम्बन्ध से 'समाराधना' कहलाई है-'सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्'। केवल २१ दिन पर्य्यन्त ही यह पर्युपासना चलती है, दिलीप की अभीष्टसिद्धि होजाती है। पर्युपासना का कैसा स्वरूप है, इस का समाधान करते हुए पर्युपासनासम्मंज्ञ कविकुल गुरु कालिदास कहते हैं—

> स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
> जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ -रघुवंशः

११०-श्रद्धेयानुकूल्यवर्तन-सोपेक्ष उपासक द्वारा प्रयुक्त गन्धाक्षतपुष्पनैवेद्योपायन का वितथत्व, एतादृश यच्चयावत् शास्त्रविधिप्रतीप-व्याजधर्म्मानुगत भ्रान्तजनों का एतद्विषयक आक्षेप एवम् उपासनानिमित्तोपादेयताविश्लेषक "श्रद्धानुयात्रान्वित" लक्षण की निरुक्ति—

हम अपने शरीर से हस्त-पादादि द्वारा जो चेष्टाएँ करते हैं, हमारी छाया उन सब का यथावत् अनुकरण करती है। ठीक इसी भाँति छायावत् उपास्य का अनुगमन करना ही पर्युपासना है। ऐसी उपासना से २१ दिन में जहाँ दिलीप लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, वहाँ आज बर्षों भजन-पूजन करते रहने पर भी

हमारा लक्ष्य पर पहुँचना तो दूर रहा, आत्मशान्ति भी नहीं मिलती। कारण, हमारी उपासना उपासनाभास बनी रहती है। केवल "ड्यूटी" पूरी की जाती है। प्रातःकाल होने वाली ठाकुरसेवा को नौकरी की तरह कर्म्म मान रक्खा है। श्रद्धेय की अनुकूल परिस्थिति का अणुमात्र भी ध्यान नहीं है। जब सुविधा मिली, जैसे बन पड़ा प्रतिमा पर पानी उंडेला, चन्दन के छींटे दिए, अक्षतपुष्प फैंके, नैवेद्य लगाया-न लगाया-पट बन्द कर दिए। इन्हीं व्याज धर्म्मों से भारतीय उपासना स्थान (मन्दिर) आज निस्तत्त्व बन गए हैं, अथवा तो बनते जारहे हैं। उपासना के वास्तविक तत्त्व के लुप्त होजाने से ही आज शास्त्रसिद्ध प्रतिमोपासना पर से धर्म्मप्राण प्रजा की निष्ठा उठती जारही है। साथ ही हमारे इसी दोष से भ्रान्तजन इस पर आक्षेप करने में समर्थ होरहे हैं। आक्षेप का दोष, उत्तरदायित्त्व हम पर है, न कि आक्षेपकर्त्ताओं पर। यदि हमें इन आक्षेपों से बचना है, यदि उपासनाकाण्ड की रक्षा अभीष्ट है, तो जिन श्रद्धादिनिमित्तों के सहयोग से उपासना का पर्युपासन भाव सुरक्षित रहता है, उन्हें अपनाना पड़ेगा। तभी हमारी उपासना लक्ष्यप्राप्ति का निमित्त बन सकेगी, उपासना निमित्त बन सकेगी। उपासनानिमित्तों की इसी आवश्यक उपादेयता का निम्नलिखित लक्षण से विश्लेषण होरहा है—

"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवदपेक्षा-बुद्धिसहकृताया भावनाबुद्ध्यास्तदनुरोधापेक्षित-वृत्तिस्थिरत्त्वमुपासनम्"

— ८ —

———:*:———

१११-पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यबलात्मक पाञ्चभौतिक मायापरिग्रह गृहीत आधिभौतिक उपायों के द्वारा अमृतमय आधिदैविक उपास्य की प्राप्ति, एवं ज्ञानकर्म्मसमन्वय-रूपा, भूतदेवात्मिका (उभयात्मिका) प्रक्रिया का उपासनात्व—

पदे पदे प्रतिपादित हुआ है कि, अधिभूत-अधिदेव-सम्बन्ध से उपासना उभयात्मिका है, यही सर्वलक्षणों का सामान्य स्वरूप है। प्रकृतपरिच्छेद में इसी सामान्यलक्षणात्मक उपासना-धर्म्म के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हैं। उभयात्मिका उपासना में व्यावहारिक कर्मात्मक आधिभौतिक के माध्यम से पारमार्थिक आधिदैविक तत्त्व का संग्रह किया जाता है। आधिभौतिक-पञ्चपुण्डरीप्राजापत्यबलात्मक-पाञ्च-भौतिक-मायापरिग्रहपरिगृहीत-मर्त्यविश्व से सम्बन्ध रखने वाले आधिभौतिक उपायों के द्वारा भूतातीत-विश्वातीत-आधिदैविक-अमृतमय ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाले आधिदैविक उपास्य को प्राप्त किया है। जिस किसी भी प्रकृति रुचि के अनुकूल-आधिभौतिक पदार्थ पर बाह्यदृष्टि लगाकर तन्मूलक परोक्ष आधिदैविकतत्त्व के साथ मन का योग कराना ही उपासना है। उदाहरण के लिए भगवत् प्रतिमा, अथवा तो चित्र दृष्टि के सामने रख लिया गया। दृष्टि आधिभौतिकी प्रतिमा, किंवा चित्र पर रहेगी, मन का योग प्रतिमा-चित्र से लक्ष्यीभूत सर्वव्यापक भगवत्तत्त्व की ओर रहेगा। दृष्टि अन्य [भौतिक] पर, मनोयोग अन्य [आधिदै-

विक] के साथ, यही उपासना मानी जाएगी। प्रतिमा भौतिक है, द्रव्यात्मिका है। क्रियासमष्टि गुण है, गुणकूट ही द्रव्य है। इसप्रकार द्रव्यात्मिका भौतिकी प्रतिमा परम्परया कर्म्मात्मिका बन रही है। उपासनानुगत हमारे यच्चयावत्कर्म्मों का आधार यह कर्म्मात्मिका प्रतिमा ही बनती है। भगवन्निमित्त होने वाला अर्चन-पूजन-नैवेद्यनिवेदन आदि आदि यच्चायावत् कर्म्मों का अभिनय प्रतिमा से ही सम्बन्ध रखता है। है। जानते हैं-प्रतिमा कर्म्मात्मिका है, मर्त्य है, अतएव ब्रह्म नहीं है। प्रतिमाधारेण लक्ष्यीभूत इन्द्रियातीत निगूढ तत्त्व ही उपास्य ब्रह्म है, जोकि ज्ञानात्मक है। ज्ञानमय मन का उसी से योग होरहा है। इसप्रकार हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित आधिभौतिक शरीरानुगत कर्म्मों का आधार तो कर्म्मात्मिका आधिभौतिकी प्रतिमा बन रही है एवं आधिदैविक मनोऽनुगतप्रत्यय [ज्ञान] का आधार प्रतिमा द्वारा लक्ष्यीभूत ज्ञानात्मक आधिदैविक ज्ञान बना हुआ है। भूत का भूत से, देव का देव से, किंवा कर्म्म का कर्म्म से, ज्ञान का ज्ञान से सम्बन्ध होरहा है। ज्ञानकर्म्मसमन्वयस्वरूपा, भूता--देवात्मिका, उभयात्मिका यही प्रक्रिया उपासना है।

११२-वासना--कषायितोदर परिप्लव मन के द्रढीकार में आधिभौतिक आलम्बन का अनिवार्य्यत्व, नृत्यगीतवादित्र सौन्दर्य्यादिपरक गन्धर्वाप्सरस्प्राणविशेष--निर्मित-भौतिक मनस्तत्व की आकारवैशिष्ट्यग्राहिणी प्रवृत्ति और प्रतिमा चित्रादि का उपासना-माध्यमौचित्य—

वस्तुतः आधिदैविक मनःप्रत्यय को आधिदैविक ईशप्रत्यय में प्रवाहित कर देना ही उपासना है, जैसा कि प्रथमलक्षण समन्वय में स्पष्ट किया जाचुका है। परन्तु-देखते हैं कि, चान्द्रसोम भूतभाग से संश्लिष्ट मनःप्रत्यय तब तक उस आधिदैविकप्रत्यय में प्रवाहित नहीं होसकता, जब तक कि, उसके सम्मुख कोई भौतिक लक्ष्य नहीं रख दिया जाता। वासनावासित, अतएव अतिशयरूपेण चञ्चल मन में दार्ढ्य उत्पन्न करने के लिए उपासना तत्त्वज्ञों ने भूमिकारम्भ में आधिभौतिक उस अनुरूप आलम्बन का माध्यम अनिवार्य्य माना है। इसी आधार पर 'आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमृच्छति' कहा गया है। इन्द्रिय-विषयपरायण मन की स्थिरता के लिए ही माध्यम अपेक्षित है। यदि मनःस्थैर्य्य ही अपेक्षित है, तो प्रतिमा-चित्रादि भिम्बों की ही क्या आवश्यकता है ? क्यों नही, जिस किसी भी लोष्ठ-पाषाणादि भूत को आलम्बन बना लिया जाता। प्रश्न के सम्बन्ध में यही उत्तर पर्य्याप्त होगा कि, जिस चान्द्रसोम से मन के भौतिक भाग का निर्म्माण होता है, उस में गन्धर्व-अप्सरा-नामक दो प्राण-विशेष विद्यमान हैं। घन सोममयप्राण गन्धर्व है, तरल सोममय प्राण अप्सरा है, दोनों ही नृत्य-गीत-वाद्य-सौन्दर्य्यादि मनोभावों के प्रवर्त्तक हैं। इन प्राणों से युक्त चान्द्रसोम से अन्नद्वारा समुत्पन्न मन उन प्राणों के सम्बन्ध से स्वभावतः-आकारविशेषों की ओर अनुगत रहता है। बिना आकार-प्रकार-विशेषों के साधारण लोष्ठादि में मन का लगना कठिन है। सात्विक-राजस-तामस सौन्दर्य्य का प्रेमी मन जब तक स्वप्रकृत्यनुकूल अभिरूप बिम्बों को सामने नहीं पा लेता, तब तक उस की स्थिरता अनिश्चित रहती है। एकमात्र मनोराज्य के इस प्राकृतिक विश्लेषण के आधार पर ही तत्त्वज्ञों ने प्रतिमा विशेष, चित्र विशेष का माध्यम आवश्यक माना है।

११३–प्रकृतिभेदानुगत गुणभेद युक्त विभिन्न उपासक–मानव का एकविध प्रतिमाऽकार-सापेक्ष स्थिरत्वाभाव, अतएव काली-दुर्गा-रुद्र-शिव-विष्णु-गणपति-प्रभृति विभिन्न गुणधर्मा रूपों का उपकल्पन एवम् "उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पनम्" सिद्धान्त का निरूपण—

चान्द्रसोम से समुद्भूत मन योगमायानुग्रह से त्रिगुणात्मक है, यह कहा गया है। यद्यपि सभी प्राणियों के मन में तारतम्य से तीनों ही गुण समन्वित रहते हैं, तथापि प्रधानता–अप्रधानता के तारतम्य से तीनों के अवान्तर अनेक विवर्त्त होजाते हैं। सात्विक, सात्विक राजस तामस, तामस आदि प्रकृतिभेद प्रत्यक्षानुभूत हैं। प्रकृतिभेदानुगत गुणभेदयुक्त विभिन्न मन किसी एक ही आकार में स्थिर होजाएँ, यह भी प्रकृतिविरुद्ध होने से असम्भव ही है। अतएव सब के लिए प्रतिमाकार भी समान नहीं होसकते। अवश्य ही उपासक के मनोगुण के अनुरूप सात्विकादि विभिन्न भावानुगत विभिन्न प्रतिमाओं को ही आधार बनाना पड़ेगा। यही तो भारतीय उपासना काण्ड का प्रकृतिसिद्ध वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जिसका अन्यमतवादों में ऐकान्तिक अभाव है। सत्त्वप्रकृति मनुष्य का मन सुन्दर–शान्त आकार का अनुगामी रहता है। ऋषि उसके सम्मुख–'शान्ताकारम्' भावात्मिका विष्णुप्रतिमा रख देते हैं। कोई उग्रप्रकृति उग्रस्वरूपों की वाञ्छा करता है। उस के लिए कर कलित कपाल भैरव प्रतिमा ही उपयुक्त है। उपासक का मन उसी माध्यम पर स्थिर रह सकता है, जिस गुण–प्रकृति का जन्मत: उस में अनुशय विद्यमान रहता है। इसी प्रकृतिभेद के आधार पर उपासक की सिद्धि के लिए एक ही निर्गुण उपास्य ब्रह्म के विष्णु, शिव, गणपति, रुद्र, भैरव, काली आदि सहस्रों रूपों की कल्पना कर डाली गई है–"उपासकानांसिद्धयर्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना" सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है।

११४–"निदानविद्या"–विरहविलुप्त–प्रतिमारहस्य, अनेक देवतावाद–अपरिचित वैदशिकों द्वारा अस्मदुपहास, भारतीयों का वैदेशिक शिक्षा सात्म्येन तदानुगत्य, रुद्र–साम्बसदाशिव–विष्णुनाम प्रभृति प्राणदेवतास्वरूपों की वैदिक निरुक्ति एवं "निदाघ" "लू" शब्दनिष्ठ भावों का दैवीस्वरूप-निर्वचन

दु:ख है कि–'निदानविद्या' के विलुप्त होजाने से आज प्रतिमारहस्य विलुप्त होगया है। अर्द्धदग्ध व्यक्ति आज भारतीय उपासना काण्ड का इसलिए उपहास करते हैं कि, उन्हें निदान का स्वरूप विदित नहीं है। भारतीय–अनेक–देवतावाद के तत्त्वज्ञान से अपरिचित रहने के कारण यदि कोई विदेशी हमें–'देवताओं के गुलाम' बताता है, तो तत्शिक्षादीक्षित भारतीय भी उसका समर्थन करने लगते हैं। और तो और, अपने आप को वैदिक संस्कृति का समुद्धारक माननेवाले भी इसी भ्रान्ति को सत्यज्ञान समझ रहे हैं। अवसर मिला, तो किसी अगले प्रकरण में 'मूर्त्तिनिर्म्माण रहस्य' पर प्रकाश डाला जाएगा। प्रकृत में यही वक्तव्य पर्य्याप्त होगा कि, भारतीयप्रतिमानिर्म्माण का मूलाधार 'निदानभाव' ही है। 'अमुक वस्तु को अमुक समझो' यही निदान का निष्कर्ष है। तत्तत् प्राणदेवताओं के तत्तच्छक्ति विशेषों के (जो कि इन्द्रियातीत हैं)-स्वरूप परिचय के लिए तत्तत्–अनुरूप पदार्थों को सङ्केत मानना ही निदान है। उदाहरण के लिए–पद्म

पृथिवी का, मदिरा मोहनशक्ति का, खड्ग संहार शक्ति का, अभयमुद्रा अभयवृत्ति का, निदान है। विष्णुप्रतिमा के हाथ में पद्म हैं, इस भाव से ऋषि यही सूचित करना चाहते हैं कि—विष्णु तत्त्व का सम्पूर्ण पृथिवी पर आधिपत्य है। आग्नेयप्राणविशेष स्वरुद्रद्रवण धर्म्म से 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ हैं। स्नेहनधर्म्मा सोम सम्बन्ध से संघटित भूतपरमाणुओं के संघटन का उच्छेद कर उसे नष्ट कर देना रुद्र का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी आधार पर इन्हें सर्वसंहारकारक कहा जाता है। सब को खाजाने वाले रुद्राग्नि ही–'सर्वभक्षी' हुताशन हैं। प्राणवायु इन की प्रतिष्ठा है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के तथा सौरसावित्राग्नि के सम्बन्ध से इस वायु के आप्य–आग्नेय ये दो भेद होजाते हैं। आप्यवायु में प्रतिष्ठित रुद्राग्नि शान्त होते हुए शिवस्वरूप में परिणत होजाते हैं, जो कि, शिवतत्त्व (आप्यवाय्वात्मकरुद्राग्नि) उपासक सम्प्रदाय में **'साम्बसदाशिव'** नाम से प्रसिद्ध है। आग्नेय वायु में प्रतिष्ठित रुद्राग्नि और भी अधिक उग्र होजाते है। अतएव इन्हें (आग्नेयवाय्वात्मकरुद्राग्नि को) **'घोर'** कहा जाता है। इसप्रकार आधार भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के शिवशरीर घोरशरीर, ये दो स्वरूप होजाते हैं, जिनका--**'अग्निर्वारुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे–घोरान्याच, शिवान्या च'** इत्यादि श्रुति से विश्लेषण हुआ है। वर्षाऋतु में, विशेषतः श्रावणमास में साम्बसदाशिव तत्त्व का साम्राज्य रहता है। ग्रीष्मऋतु में, विशेषतः फाल्गुन में रुद्रतत्त्व का साम्राज्य रहता है। फाल्गुन में प्रचण्डवेग से प्रवाहित वायु के लिए हमारे प्रान्त में यह प्रसिद्धि है कि--'अब महादेवजी ने जटा बिखेरी है'। फाल्गुन शिवरात्रि वस्तुतः रुद्ररात्रि है, घोररात्रि है। यही उस रुद्रात्मक–रुक्ष आग्नेयतत्त्व का जन्मकाल है, जो आगे जाकर प्रचण्ड रूप में परिणत होता हुआ–निदाघ' [नितरां–दहतीति] भाव में परिणत होकर–'सान्तपन' रूप से अभिव्यक्त होने लगता है। ग्रीष्म में जो प्रचण्ड 'लू' चलती है, वही इस घोररुद्र के भौतिक शरीर के प्रत्यक्ष दर्शन है। इन्हें उद्भव काल में ही शान्त करने के लिए, शिवशरीररूप में परिणत करने के लिए उपासकलोग फाल्गुन शिवरात्रि महोत्सव में जलाभिषेक किया करते हैं। अवश्य ही इस भौतिक–जलसिञ्चन भावना से भूतनाथ शिवस्वरूप में परिणत होजाते हैं। महर्षिगण भी अपने उपासनामन्त्रों द्वारा रुद्र भगवान् के उसी मङ्गलमय शिवशरीरानुग्रह की प्रार्थना किया करते हैं। देखिए–

या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—यजुः संहिता ।

११५–अधिभूताधियज्ञाध्यात्माधिदैवताध्यन्तरिक्ष–पञ्चधाविभक्त रुद्रतत्त्व, उसके पञ्च–पंचाशत् विवर्त्तों का सूर्य्यरश्मिवितानायामेन आनन्त्यपरिगमन एवं वेदमहर्षियों द्वारा उद्गीत इस विभूति का गैतालिकत्व—

उक्तलक्षण रुद्रतत्त्व का, किंवा रुद्रमय वायु तत्त्व के अधिभूत, अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिदैवत अध्यन्तरिक्ष भेद से पञ्चधा प्रसार होता है। पञ्चधा इस की प्रवृत्ति होने से ही इन्हें 'पञ्चमुख' कहा गया। एकादशधा विभक्त रुद्र पाँचों विवर्त्तों में व्याप्त हैं। सम्भूय ५५ विवर्त्त होजाते हैं। आगे जाकर

सूर्य्यरश्मि वितान से त्रैलोक्य में, कण-कण में व्यप्त होते हुए रुद्र अनन्तभाव में परिणत होजाते हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौ-सर्वत्र उनके सहस्र [पूर्ण-अनन्त] भाव व्याप्त हैं। रुद्रदेवता की इसी विभूति का यशोगान कहते हुए वेदमहर्षि करते हैं —

असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।
अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि।
नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवं रुद्रा उपश्रिताः।

११६-द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी-लोकस्थरुद्र प्रवर्तित अप्-वायु-अन्न, प्रज्ञापराधजनित मिथ्याऽति हीन योग द्वारा अब्वाय्वन्न-गतरुद्रतत्व का शिवत्वत्यागपूर्वक संहारक रुद्रतत्व में परिणमन एवं मन्त्रश्रुति का गद्गदभावेन तत्स्मरण—

द्युलोकस्थरुद्र वृष्टिजल द्वारा संहार करते हैं, यहाँ वर्षा इनके संहारक तीर हैं। वर्षाजल प्रकोप से जो रोग समुद्भूत होते हैं, उनकी मूलप्रवृत्ति दिव्य रुद्र से है, यही तात्पर्य्य है। अन्तरिक्षलोकस्थ रुद्र वायुद्वारा संहार करते हैं, यहाँ वायु ही इस के तीर हैं, वायुप्रकोप से उत्पन्न रोगों का उपक्रम स्थान आन्तरिक्ष्य रुद्र ही है, यही तात्पर्य्य है। पृथिवीलोकस्थ रुद्र अन्नद्वारा संहार करते हैं, यहाँ अन्न ही इन के तीर हैं। अन्नदोष से उत्पन्न रोगों के प्रवृत्तिनिमित्त पार्थिव रुद्र ही हैं, यही निष्कर्ष है। अप्-वायु-अन्न [आबोहवादाना] भेद से प्राणिजीवनोपयिक साधन मुख्यतः तीन ही माने गए हैं। तीनों में संहारकरुद्रप्राण है। मानवप्राण का उच्छेद जब भी कभी होता है, तीनों में से किसी एक-दो-तीन के कुपित होने से ही होता है। प्रज्ञापराधजनिक अतियोग, हीनयोग, अयोग, मिथ्यायोग, से अब्-वायु-अन्नगत रुद्रतत्त्व रक्षक शिवभाव को छोड़कर भक्षक रुद्रभाव में परिणत होजाता है। रुद्रतत्त्व के इसी संहार कर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए मन्त्रश्रुति ने कहा है—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि, येषां 'वर्षमिषवः'।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे, येषां 'वातमिषव'।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां, 'येषामन्नमिषवः' ॥ -यजुःसं०

११७-द्यु-आन्तरिक्ष्य-पार्थिव सौरचान्द्राग्नेय ज्योतिस्त्रिक समन्वित "त्रिनेत्र", पञ्चधा विकासभावेन "पञ्चवक्त्र" रुद्र के उपास्य अधिदैवत एकादश विवर्त्तों का निरूपण—

जैसाकि बतलाया गया है अधिभूत--अध्यात्मादिभेद से यह रुद्रतत्त्व पञ्चधाविभक्त होता हुआ द्युलोकस्थ सूर्य्यज्योति, आन्तरिक्ष्य चान्द्रज्योति, पार्थिव आग्नेयज्योति, इन तीन ज्योतियों से युक्त रहता है। पञ्चधाविकास से पञ्चवक्त्र, ज्योतिस्त्रयी सम्बन्ध से त्रिनेत्र बने हुए इसी उपास्य के लिए-'पञ्चवक्त्रं त्रिने-

त्रम्' कहा जाता है । संहार करना पूर्वकथनानुसार रुद्र का प्रातिस्विक धर्म्म है । संहारक द्रव्य ही 'विष' कहलाया है । तद्रूप वायव्यअान्तरिक्ष्य रुद्र अपने इसी विषप्रयोग से मृत्युभाव का उत्तेजक बनता है। उपास्य अधिदैवत रुद्र के एकादश विवर्त्त निम्नलिखित नामों, एवं पर्य्याप्त शब्दों से व्यवहृत हुए हैं--

सैषा-आधिदैविक-रुद्रैकादशी—

१-विरूपाक्षः——त्वष्टा——अयोनिजः——गर्भः
२-रैवतः——भैरवः——कपर्दी——वीरभद्रः
३-बहुरूपः——सेनानी——गिरिशः——×××
४-हरः——नकुलीशः—पिङ्गलः——स्थाणुः
५-त्र्यम्बकः——भुवनेश्वरः--विश्वेश्वरः——सुरेश्वरः
६-सावित्रः——भूतेशः——कपाली——×××
७-जयन्तः——वृषाकपिः——शंयुः——सन्ध्यः
८-पिनाकी——मृगव्याधः——लुब्धकः——शर्वः
९-अपराजितः-महातेजाः——×××——×××
१०-अहिर्बुध्न्यः--×××——×××——×××
११-अजएकपात्-×××——×××——×××

११८-आधिदैविक एकादश रुद्रों की भचक्र में स्थिति, अष्टम "पिनाकी" की मृग-व्याध, लुब्धक नाम्ना प्रसिद्धि, लुब्धक का स्वरूप, ब्राह्मण ग्रन्थोक्त आधिदैविक असदाख्यान एवं लुब्धक-रुद्राग्निताप के समक्ष त्रैलोक्यप्रकाशी सावित्राग्नि सूर्य्य की विषमाहता—

इन्हीं आधिदैविक ११ रुद्रों को, किंवा एक ही रुद्रतत्त्व के ११ विवर्त्तों को नाक्षत्रिकरुद्र कहा गया है । भचक्र में इन ग्यारहों रुद्रस्वरूपों के नक्षत्ररूपेण साक्षात् दर्शन होरहे हैं । ग्यारहों में भी सर्वतोऽधिक तेजस्वी 'पिनाकी' नाम ८ वां नाक्षत्रिकरुद्र है, जो **मृगव्याध, लुब्धक,** आदि नामों से भी प्रसिद्ध है । जिसप्रकार सम्पूर्ण औषधिरसों के समन्वित रूप का नाम 'उदुम्बर' फल' (गूलर) है, एवमेव भचक्रा--वच्छिन्न यच्च यावत् नाक्षत्रिक प्राणों के समन्वय से लुब्धक का स्वरूप निर्म्माण हुआ है । इतर नाक्षत्रिक प्राण यदि योग्य हैं, तो सर्व नाक्षत्रिक प्राणमूर्त्ति यह लुब्धक भोक्ता है । वैदिक परिभाषा में भोग्य पशु कहलाया है, भोक्ता तत्पति माना गया है । अतएव लुब्धक-रुद्र आगे जाकर 'पशुपति' नाम से भी प्रसिद्ध होगए हैं । लुब्धक पशुपति भगवान् की वह मृगव्याध--लीलाप्रसिद्ध ही है, जिसका शकटाकार रोहिणी--नक्षत्र, त्रिकाण्ड बाणात्मक नक्षत्र, नक्षत्रप्राणात्मक मृगशीर्षनक्षत्र, मादुष-सरोवर से उपलक्षित उक्त नक्षत्रमण्डल का मध्याकाश, आदि के समन्वय से ब्राह्मणग्रन्थों में विश्लेषण हुआ है । आज भी तो उसीरूप

से भगवान् मृगव्याध की यह मृगया–लीला ज्यों की त्यों भचक्र में सञ्चालित है—**'त्यजति न मृगव्याध रभसः'**। सर्वथा नीलवर्णात्मक पशुपति भगवान् (लुब्धक) रोहिणी से पूर्वाकाश में अतिशयरूपेण चाकचक्यात्मना प्रदीप्त रहते हैं। वैज्ञानिक कहा करते हैं कि, त्रैलोक्य को प्रकाशित करनेवाले सूर्य्य के सावित्राग्नि का लुब्धक–रुद्राग्निता के आगे कोई महत्त्व नहीं है। यदि दुर्भाग्य से सूर्य्य कहीं लुब्धक के समीप पहुँच जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य वाष्पावस्था में परिणत होता हुआ स्मृतिगर्भ में विलीन होजाय। तात्पर्य्य, लुब्धक को मुख्य लक्ष्य मानकर ही निदानविद्या के आधार पर उस आधिदैविक–असदाख्यान की कल्पना हुई है, जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में—**'प्रजापति वैं स्वां दुहितरमभ्यधावत्–दिवं वा, उषसं वा'** (शतपथब्रा०) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है।

११६–कर्कोटक, वासुकी एवं तत्तन्नक्षत्रमण्डलान्तर्गत नाक्षत्रिक सर्पों की उत्तराद्याकाशस्थ ध्रुवमण्डलादि सम्बन्धात् उपकल्पना, पूर्वाभिमुख सप्तक का अमङ्गलदर्शनत्व, पश्चिमोन्मुख एकमात्र "वासुकी" के दर्शनों का माङ्गल्यास्पदत्व एवं प्राणिगत (उष्ट्र-महिष-गज-सर्प-मूषक-कूर्म्माश्व प्रभृति) आकृति-विशेषों में "प्राणविद्या" का कारणत्व—

इसी निदान के आधार पर नाक्षत्रिक–सर्पोपासना प्रतिष्ठित है। ज्योतिश्चक्र (खगोल–आकाश–मण्डल) के उत्तर–मध्य–दक्षिण, भेद से तीन खण्ड उपकल्पित हैं। इन्हीं में मेषादि राशियाँ उपभुक्त हैं। सुप्रसिद्ध, विषप्राण प्रवर्तक अश्लेषानक्षत्र के समीप में भुक्त कर्कराशि से आरम्भ कर दक्षिणाकाशस्थ **'उटक'** पर्य्यन्त व्याप्त नक्षत्राकार के आधार पर जिस नाक्षत्रिक सर्प की कल्पना हुई है, वही कर्क, उटक, सम्बन्ध से **'कर्कोटक'** नामक नाक्षत्रिक सर्प कहलाया है। उत्तराकाशस्थ ध्रुवमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले नाक्षत्रिक मण्डल के आधार पर-**'वासुकी'** नामक नाक्षत्रिक सर्प कल्पित है। एवमेव तत्तत् नक्षत्रमण्डलाधारेण इतर ६ ओं नाक्षत्रिक सर्प उपकल्पित हैं। इन आठ नाक्षत्रिक नागों में से सात सर्प पूर्वाभिमुख हैं, एक पश्चिमाभिमुख है। पूर्वाभिमुख सप्तक का दर्शन अमङ्गलजनक है। एवं पश्चिमाभिमुख (वासुकी) के दर्शन माङ्गलिक हैं। इन आठ नाक्षत्रिक सर्पों के अवान्तर सर्पप्राण एक सहस्र विवर्त्तभावों में परिणत रहते हैं। अतएव आधिदैविक सर्पप्राण से समुत्पन्न आधिभौतिक प्राणि–सर्प की जातियाँ भी एक सहस्र ही मानी गई हैं, जिनका महाभारत में जनमेजय के सर्पसत्र प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। तत्तत सर्प–मूषक–कूर्म–अश्व–उष्ट्र–गज–मनुष्यादि प्राणियों के आकार–भेद–आकारविशेषता के मूल कारण तत्तत् आधिदैविक प्राणविशेष ही माने गए हैं। प्राण का जैसा प्रकृति में सांचा है, प्राणी का वैसा ही आकार बनता है। इसी प्राणविद्या के आधार पर प्राणविपर्य्यय से प्राणियों के आकार–विशेषों में परिवर्त्तन किया जासकता है। सर्वप्राणविद्यावित् व्यक्ति भौतिकसर्पों को नचाया करता है, हम भय करते हैं। जो श्मश भूमि हमारे लिए भयप्रदा है, वही रुद्रप्राणोपासक कापालिक का उपासना पीठ है।

१२०-रुद्र--शत्रु--संहारक सर्पात्मक नाक्षत्रिक प्राण, महर्षि निर्दिष्टोपासना, अधिभूतादि पञ्चाधारेण रुद्र का "पञ्चमुख" परिकल्पन एवं रुद्रध्यान निर्वचन—

उदाहरणविधा से उपस्थित किया गया आधिदैविक नाक्षत्रिकरुद्र उक्त नागप्राणों से नित्ययुक्त रहता है। सर्पात्मक नाक्षत्रिक प्राण भी विषाक्त वायुमय है, एवं रुद्र भी वाय्वात्मक ही है। रुद्रवायु के परितः नाक्षत्रिकसर्प वेष्टित हैं। ये ही सर्पप्राण रुद्रद्रोहियों के संहारक बना करते हैं। प्रकृतिसिद्ध इसी रुद्रतत्त्व की उपासना का महर्षियों ने उपासक की उपासनासिद्धि के लिए भौतिक--कल्पना की है। तत्त्वात्मक रुद्र के अधिभूतादि पञ्चभावों के आधार पर तत्स्वरूप में पाँच मुखों की कल्पना हुई है। नाक्षत्रिक सर्पप्राणसूचना के लिए तत्स्वरूप को सर्पों से वेष्टित माना गया है। रुद्रशक्ति ही प्राणाकर्षण द्वारा प्राणी को निष्प्राण बना कर उसे 'शव' स्वरूप में परिणत करती है। अतएव श्मशान भूमि रुद्रतत्त्व की आवासभूमि मानी गई है। दृष्टि है आधिभौतिक द्रव्यों पर, मनोयोग है तत्समतुलित आधिदैविक तत्त्वों पर, यही तो निदानमूला उपासना है। इसी औपासनिक रहस्य के विश्लेषण के लिए, साथ ही विषय प्रेमी उपासकों की विषय भावना सुरक्षित रखते हुए उन्हें क्रमक्रमशः उपास्य की ओर अनुगत बनाने के लिए तत्तदाधिदैविक उपास्य--देवताओं की तत्तद्भूताधारेण निदानविधा से प्रतिमाएँ बना डाली गई हैं। उन उन उपास्यों के उन उन सगुण--भावों को स्पष्ट करने के लिए ही उन उन प्रतिमाओं के पृथक् पृथक् ध्यान बना दिए गए हैं। उदाहरण के लिए रुद्रभगवान् का ध्यान उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा—

मुक्ता--पीत--पयोद--मौक्तिक--जपा--वर्णैर्मुखैः पञ्चभि--
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्क--कृपाण--वज्र--दहनान्--नागेन्द्र--पाशा--ङ्कुशान्--
पाशं--भीतिहरं--दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

१२१-शक्ति--कार्य--स्थान--कालादि भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के अनेकविधरूप, एवं शब्दशास्त्रप्रवर्तक शान्त एकमुख शिव स्वरूप का विश्लेषण—

शक्ति, कार्य्य, स्थान, कालादि भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के अनेकविधरूप होजाते हैं। इसी आधार पर रुद्र के अनेक ध्यान माने गए हैं। उक्त ध्यान जहाँ पञ्चवक्त्रत्रिनेत्र 'पञ्चमूर्त्तिशिव' का स्वरूप संग्राहक है, वहाँ-व्याख्यामुद्राक्षमालाः' * इत्यादि ध्यान अश्वत्थवृक्षात्मिका त्रैलोक्य त्रिलोकी की पार्थिवी भूत—

---

* **व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशशुलिखिते बाहुभिर्वामपादं-**
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिद्युद्रुमाधः।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः-
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः॥

प्रधाना रोदसी त्रिलोकी में–जो कि अश्वत्थद्रुम का अधः प्रदेश माना जाएगा–प्रतिष्ठित शब्दशास्त्र प्रवर्त्तक-आसीन–शान्त एकमुख शिव के स्वरूप का विश्लेषण कर रहा है।

१२२–उपासना द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य सिद्ध्यर्थ आगम शास्त्रोक्त षट् आम्नायों का निर्वचन—

जिसप्रकार निगमशास्त्र के साथ आम्नाय का सम्बन्ध है, एवमेव निगमादागम, अतएव 'आगम' नाम से प्रसिद्ध निगममूलक शास्त्र में भी 'आम्नाय' माने गए हैं। उपासक पुरुष आगमशास्त्र का अनुगमन करता हुआ दिग्भेद से ६ लक्ष्यों में से किसी एक लक्ष्य पर अनन्यनिष्ठा से आरूढ़ होकर ही लक्ष्य पर पहुँच सकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, ये ६ ही मार्ग प्रकृतिसिद्ध हैं। इन्हीं के आधार पर आगमशास्त्र में निम्नलिखित रूप से षडाम्नाय–पद्धति का आविष्कार हुआ है। केवल आत्मयोग द्वारा (ज्ञानयोगद्वारा) प्राप्तव्य लक्ष्य का जैसे षड्दर्शन से सम्बन्ध है, एवमेव आत्म–योगानुगत भूतयोग द्वारा (उपासनाद्वारा) प्राप्तव्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए आगमशास्त्र में निम्नलिखित षट्–आम्नाय माने गए हैं—

१–ऊर्ध्वाम्नायः (योगपद्धतिः)———————ज्ञानयोगसमतुलिता।
२–पूर्वाम्नायः (निगमोक्ताः सिद्धयः)——————कर्मयोगसमतुलिताः।
३–दक्षिणाम्नायः (पञ्चदेवोपासना)——————भक्तियोगसमतुलिता।
४–पश्चिमाम्नायः (शाबरमन्त्रानुताः सिद्धयः)———व्यवहारयोगसमतुलिता।
५–उत्तराम्नायः (पञ्चमकारोपासना–वामपथः)———रहस्ययोगात्मिका।
६–अधराम्नायः (मलानुगता–उपासना)—————लोकोत्तरा।

१२३–ऊर्ध्व--अधरादि आम्नायों के युग्म और उनका परस्पर पृथक्त्व—

उक्त ६ ओं आम्नायों में ऊर्ध्व--अधर, पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण, इस प्रकार दो दो आम्नायों के तीन युग्म हैं। साथ ही तीनों युग्मों के द्वन्द्वभाव परस्पर एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न--लक्ष्य रहे हैं।

१२४–ब्रह्मरन्ध्र--सम्बन्धित, ऊर्ध्वाम्नाय, अपान समान--पार्थिव प्राणप्रतिष्ठित, मूलरन्ध्र सम्बन्धित अधराम्नाय कायशुद्धि सापेक्ष, एवं सत्वरसिद्धि प्रवर्तक अघोरपथ का निरूपण—

यदि ऊर्ध्वाम्नाय का ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध है, तो अधराम्नाय का मूलरन्ध्र से सम्बन्ध है। ऊर्ध्वाम्नाय में कायपरिशुद्धि आवश्यकरूप से अपेक्षित है। पार्थिव अधराम्नाय में मलभाग ही उपासनासिद्धि का प्रधान साधन माना गया है। अधराम्नाय का मूलरन्ध्र से सम्बन्ध है, इस में अपान समान नामक पार्थिव प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, जो कि पार्थिवप्राण मूलरन्ध्र की प्रतिष्ठा बनते हुए मलकोशसंरक्षक हैं। हमारी शरीर–संस्था में पार्थिव भूत भाग ही प्रधानता है, मलभाग ही प्रधान है। पार्थिवप्राण के उच्छिन्न होते ही मल–

ग्रन्थि दूर होजाती है, प्राण उत्क्रान्त हो जाते हैं । इसी पार्थिवभाग की प्रधानता से पार्थिवप्राणानुगत अघोरपथ अन्य आम्नायों की अपेक्षा सत्वर सिद्धि का प्रवर्त्तक बन जाता है । इसी आधार पर--'अघोरान्नापरोमन्त्र': सिद्धान्त प्रतिष्ठित है ।

१२५-पूर्वपश्चिमाम्नायों का पारस्परिक वैजात्य, स्वरसन्धान समन्वित, नियमोपनियम निगड़ित पूर्वाम्नाय, और "फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच" निरूपित पश्चिमाम्नाय एवं "अमन्त्र मक्षरं नास्ति" सिद्धान्त प्रतिष्ठा—

एवमेव पूर्व-पश्चिमाम्नायों में भी परस्पर एकान्त वैजात्य है । पूर्वाम्नाय में द्विजाति-अर्गला, स्वरसंधानपूर्वक निगममन्त्रानुगमन, अन्य नियमोपनियमादिका अनुगमन अपेक्षित है । पश्चिमाम्नाय में विश्व की यच्चयावत् भाषाओं का संग्रह है साधारण प्रतीयमान भाषामन्त्र भी इस आम्नाय में फलप्रद हैं । **'फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच'-एक फूलहंसे एक फूल डँसे'** इत्यादि मन्त्र संस्कृत-दृष्टि से यद्यपि नितान्त अशुद्ध, साथ ही अर्थशून्य निरर्थक प्रतीत हो रहे हैं । परन्तु, ये ही मन्त्र तत्काल फल के प्रवर्त्तक बन जाते हैं । तत्त्व यही है कि, प्राकृतिक प्राणात्मक तत्त्वों के आकार के आधार पर उसी तत्त्वानुगता प्राण-लहरी से समतुलित अक्षर सन्निवेश से इन मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है । यहां अर्थ-अनर्थ, शुद्ध-अशुद्ध की दृष्टि-मीमांसा करना न केवल व्यर्थ ही है, अपितु अनिष्टकर भी है । यदि कोई भी अक्षर बदल दिया जाता है, तो तत्त्वाकार त्रुटित हो जाता है । तत्त्वाकार मुख्य वस्तु है । ग्रीक-लेटिन-गुजराती-पंजाबी-उर्दू-हिन्दी-चाहे किसी भी भाषा का अक्षर हो, तत्त्वाकार की तदनुरूप पूर्त्तिमात्र अपेक्षित है । वही सिद्धमन्त्र है । इसी आधार पर-**'अमन्त्रमक्षरंनास्ति'** सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है ।

१२६-दक्षिण पश्चिमाम्नायों का परस्पर प्रतीपत्व, पञ्चदेवतोपासनात्मक दक्षिणाम्नाय, मद्यमांसादि सम्प्रवृत्त उत्तराम्नाय (वाम मार्ग)—

तीसरा युग्म है-दक्षिण, पश्चिमाम्नाय । जो कर्म्म, द्रव्य, नियमादि दक्षिणाम्नाय में संगृहीत हैं, उत्तराम्नाय में ठीक इस से विपरीत कर्म्मादि का संग्रह हुआ है । पञ्चदेवतोपासनात्मक दक्षिणाम्नाय पथ में जो मद्यमांसादि एकान्त वर्ज्य हैं, उत्तराम्नाय में वे ही उपासना के साधक माने गए हैं । अतएव यह पथ दक्षिणाम्नाय की अपेक्षा वाम (जटिल-टेढा) माना गया है । मद्यमांसादि की ओर स्वभावतः प्रवृत्त रहने वाले मानवीय मन को इन्हीं के आधार पर तत्त्ववाद की ओर आकर्षित करना सचमुच एक दुस्तर कार्य्य है । अवश्य ही इस महामहिम पथ के अधिकारी परिगणित ही हैं ।

१२७-षड्दर्शन गर्भिता ज्ञान विज्ञानात्मिका निगमविद्या, षड़ाम्नायमूला आगमविद्या निगमविद्या का आगमविद्या ऽधारत्व, एवं तत्प्रयोजनसापेक्षया निगमविद्या परिचय का आवश्यकत्व निरूपण—

निवेदन यही अभीष्ट है कि, षड़ाम्नायमूलिका आगमविद्या की आधार शिला षड्दर्शन गर्भिता ज्ञान-विज्ञानात्मिका निगमविद्या ही मानी गई है । निगमोक्त ज्ञानात्मक ब्रह्मविज्ञान, तथा ब्राह्मणग्रन्थोक्त निदान-

विद्या, दोनों सम्यक् परिज्ञानप्राप्त किए बिना आगमविद्यानुगम का अधिकार नहीं मिल सकता । बिना निगमरहस्य के, आगम परिज्ञान प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । आगमशास्त्र आज अपने मूलभूत निगमशास्त्र की उपेक्षा कर बैठा है । अतएव आगम सम्बन्धिनी सम्पूर्ण मन्त्रशक्तियाँ (केवल पश्चिमाम्नाय को छोड़ कर) सर्वथा निष्फल सिद्ध हो रही हैं । कारण स्पष्ट है । बिना विज्ञान–परिज्ञान के, मौलिक उपपत्ति ज्ञान के, किसी भी कर्म्म–उपासना पर दृढ आत्मप्रत्यय सम्भव नहीं है । अतएव आवश्यक है कि, आगम शास्त्रोक्त उपासनामार्गारूढ प्रत्येक उपासक यथाशक्ति निगमशास्त्र का परिचय प्राप्त करले ।

१२८–अग्न्यात्मक रुद्रतत्व, तत्वात्मक–भूतात्मक रूपेण इस के दो भेद, भूत–क्षर–चित्य–मर्त्य रूप अग्नि का श्रुति प्रामाण्य—

पूर्व में पञ्चमूर्त्ति–शिव के जिस–'मुक्तापीतपयोद०' आदि ध्यान का उल्लेख हुआ है, उस का सर्वात्मना निगमविज्ञान से सम्बन्ध है । रुद्रतत्त्व प्रधानतः अग्न्यात्मक माना गया है । इस अग्नि के तत्त्वात्मक, भूतात्मक, दो रूप हैं । प्रत्यक्ष दृष्ट प्रज्वलित तापधर्म्मा वैश्वानराग्नि भूतात्मक है । यही क्षराग्नि है, मर्त्याग्नि है, यज्ञपरिभाषानुसार चित्याग्नि है । यही संचित–अवस्था में आकार तत्त्वात्मक रुद्राग्नि का बाह्यशरीर बनता है, जैसा कि निम्नलिखित शातपथी श्रुति से प्रमाणित है—

> "अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः । स एषोऽत्ररुद्रो देवता । तस्मिन्—
> देवा एतदमृतं रूपमदधुः । स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठत्" ।
> —शत० ६।१।२।१।—

१२९–भूतात्मक क्षर-माध्यम से देवात्मक अक्षर (प्राणाग्नि) की उपासना का परम्परया आत्मान्वय्य व्ययब्रह्मोपासनात्व एवं "येऽप्यन्यदेवता भक्ताः" गीता सूक्ति का निदर्शन—

क्षरात्मक चित्य-मर्त्य––प्रत्यक्षदृष्ट भूताग्नि का आधार भूत प्राणाग्नि ही अक्षरात्मक–चितेनिधेय–अमृत–परोक्ष–तत्त्वात्मक अग्नि है । यही–'देवता' नाम से प्रसिद्ध है । यही आधिदैविकरुद्रदेवता है, जिस की आधिभौतिक माध्यम से उपासना अभिप्रेत है । भूतवाङ्मय है, वाङ्मयभूत प्राण पर प्रतिष्ठित है, भूतात्मक प्राण मन पर प्रतिष्ठित है । मन आत्मा है । प्राण देवता है, वाक् भूत है । मनोमय आत्मा अव्यय प्रधान है, प्राणमय देवता 'अक्षर' प्रधान है, वाङ्मय भूत 'क्षर' प्रधान है । तीनों अविनाभूत हैं । भूत–माध्यम से उपास्य प्राणतत्त्व मानसभाव का ही संग्राहक बनता है । दूसरे शब्दों में जो उपासक भूतात्मक क्षर के माध्यम से देवात्मक अक्षर की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया (ज्ञानयोगवत्) आत्मात्मक अव्यय ब्रह्म की ही उपासना करते हैं, जैसा कि निम्नलिखित स्मार्त्ती उपनिषत् से स्पष्ट है—

> येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ गी० ६।२३।

१३०—पारमेष्ठ्य अप् समुद्र में हिरण्यगर्भरूपेण समुद्भूत एकत्वधर्मा अब्गर्भित-प्राणाग्नि देव रुद्र का उपनिषच्छ्रुतियों में स्पष्टीकरण—

भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि लक्षण रुद्र स्वस्वरूप से एकाकी है, एकल है। पारमेष्ठ्य अप्समुद्र में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप से समुद्भूत—रोदसीत्रैलोक्य के प्रभवप्रतिष्ठा—परायण साम्बसदाशिव (आपोमय—अब्गर्भित प्राणाग्नि देव) के इसी एकत्वधर्म्म का निम्नलिखित मन्त्र—ब्राह्मण (उपनिषत्) श्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है—

(साम्बसदाशिवः--यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना ।
वारुणाग्निः) अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥
ऋक्० १।१४३।४।

" महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः ।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः ॥
ऋक्० १०।५१।१।

(रुद्रः—सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
घोराग्निः) वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद्द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥
ऋक्० १०।९१।३।

" यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
" आप ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीराग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—ऋक्० १०।१२१।६७।

" एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥
" यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुक्तु ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।२,४,)

(वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः)

१३१–भगवान् रुद्र के ईशान-तत्पुरुष-अघोर-वामदेव-सद्योजात-पञ्चमुखों का ऊर्ध्व-पूर्व-दक्षिणोत्तर-पश्चिम-दिक् सम्बन्ध, पञ्चमुख समष्टिमूलाधार भूपिण्ड—गतापान-प्राण का "अधराम्नाय" प्रतिष्ठात्व, एवम् पीतहरितनीलधूम्ररक्ताङ्ग, सिंहाजिन-शोभी अव्ययात्मा रुद्र के उपासक-सर्वस्व-स्वरूप का उल्लेख—

अग्निमूर्त्तिरुद्र अन्नाद नित्य–अन्न सापेक्ष है। फलतः अन्नादाग्निग्रहण से अन्नग्रहणगतार्थ होजाता है। इसप्रकार अग्न्यक्षरमूर्त्तिरुद्र देवता के साथ अन्नात्मक सोमाक्षर का भी ग्रहण होजाता है। इन्द्राक्षर ही अग्न्यक्षर की विकास भूमि है। इन्द्राक्षर विष्णवक्षर सहयोगी है। ब्रह्माक्षर सर्वमूलकत्वेन स्वत एव संगृहीत है। इसप्रकार अग्न्यक्षर द्वारा शेष चारों अक्षर भी प्रकृत्या संगृहीत होजाते हैं। क्योंकि, अग्न्यक्षररूपरुद्रदेवता से पाँचों अक्षरदेवता संगृहीत हैं, अतएव इन्हें 'महादेव' (सर्वदेवमूर्त्ति) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी आधार पर–'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'–'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः'–'अग्निः सर्वाः देवताः' **'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हुए हैं। पञ्चाक्षरमूर्त्ति प्राणात्मक रूद्र से पञ्चकल मनोमय अव्ययब्रह्म संगृहीत होजाता है। अव्ययात्मा के पञ्चधाविकास का प्रधान प्रवर्त्तक पञ्चमूर्त्तिरुद्राक्षर ही बनते हैं। अक्षरद्वारा होनेवाली बलचिति से प्रारम्भ में विशुद्ध मनोमय रहने वाले अव्ययब्रह्म को आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक्–रूपसे पाँचचितिभावों में परिणत होना पड़ता है। आत्मपञ्चकलभाव ही रुद्र के पञ्च मुखों का प्रधान कारण है। इन्द्रात्मिका सूर्य्यज्योति, चन्द्रात्मिका सौम्यज्योति, रूपात्मिका अग्निज्योति इन तीन ही भूतज्योतियों से रुद्रभगवान् लोकद्रष्टा बने हुए हैं। अतएव इस ज्योतिस्त्रयी को इनके तीन नेत्र माना जासकता है। रुद्रभगवान् के वे पाँचोंमुख **ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ईशानस्वरूप का ऊर्ध्वा दिक् से सम्बन्ध है, यह ही ऊर्ध्वाम्नाय की प्रतिष्ठा है। तत्पुरुष का पूर्वा दिक् से सम्बन्ध है, ये ही पूर्वाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। अघोर का दक्षिणदिशा से सम्बन्ध है, ये ही दक्षिणाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। वामदेव का उत्तरदिशा से सम्बन्ध है, यह ही उत्तराम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। 'वामदेव' सम्बन्ध से ही यह मार्ग 'वाममार्ग' कहलाया है। सद्योजात का पश्चिमा दिक् से सम्बन्ध है, एवं ये ही पश्चिमाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। इन पाँचोंस्वरूपों की समष्टि का मूलाधार भूपिण्डगत हृदयस्थ अपानप्राण है। यही समष्ट्यात्मक पार्थिवस्वरूप (जिन्हें 'दक्षिणामूर्त्ति शिव' कहा जाता है) अधोदिक् से (ध्रुवं माधः) सम्बन्ध रखते हैं। यह ही छठे अधराम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। पाँचोंमुख क्रमशः **पञ्चकल, चतुष्कल, अष्टकल, त्रयोदशकल,** एवं **अष्टकल** हैं। पाँचों का वर्ण क्रमशः **पीत, हरित, नील, धूम्र, रक्त** है। सिंहचर्म्म पर विराजमान पञ्चमूर्त्ति एवंविध भगवान् के दस हाथ हैं। दसों में क्रमशः **अभय (शान्तिमुद्रा), टङ्क, शूल, वज्र, पाश, खड्ग, अङ्कुश, घण्टा, नाग, अग्नि,** यह १० आयुध हैं। ऐसे यह रुद्र भगवान् अव्ययात्म सम्बन्धेन सर्वज्ञ हैं, सोमान्न सम्बन्धेन तृप्तिकर हैं, अनादि–बोधस्वरूप हैं, स्वतन्त्र हैं, अलुप्तशक्ति हैं। अनन्तशक्ति हैं। उपासकों के लिए तो सर्वस्व हैं।

१३२–निगमागम भेदविभक्त भारतीय शास्त्र, ब्रह्मविद्या-यज्ञविद्याभिधनिगम, मन्त्रविद्या-पुराणविद्याभिधानद्विधा विभक्तागम शास्त्र, एतद्रहस्यज्ञानमूल प्रतिष्ठा "निदान विद्या", एवम् पूर्वानुच्छेदोल्लिखित रुद्र के दश आयुधों का रुद्र-शक्ति-प्रतीकत्व—

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, भारतीयशास्त्र प्रधानतः 'निगम, आगम' भेद से दो भागों में विभक्त है। निगमशास्त्र आगे जाकर ब्रह्मविद्याशास्त्र, यज्ञविद्याशास्त्र भेद से दो भागों में, एवं आगम–

शास्त्र **मन्त्रविद्याशास्त्र, पुराणविद्याशास्त्र**, भेद से दो भागों में विभक्त है। सम्भूय दो के चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका उपबृंहण आगे जाकर अनेक विवर्त्तों में हुआ है। इन चारों ही विवर्त्तों के रहस्यज्ञान की मूलप्रतिष्ठा सङ्केतविधात्मिका वह 'निदानविद्या' ही है, जिस के लुप्त होजाने से भारतीय तत्त्ववाद, विशेषतः उपासनावाद, एवं उपासनावाद से सम्बन्ध रखने वाला प्रतिमाभाव आज संशयास्पद बना हुआ है। जिन दस आयुधों का पूर्व में नामोल्लेख हुआ है, उनका नैदानिक-भावों से ही सम्बन्ध है। तत्तदायुधविशेषों से रुद्रभगवान् की तत्तच्छक्तियों का ही सङ्केत हुआ है।

१३३–रुद्र स्वरूप समर्पक अग्नि-सोम-वाय्वात्मक सत्त्वत्रय, एतत् सर्वाधारभूत मनः-प्राणवाङ्मय-अव्ययब्रह्म के त्रिवृद्भाव बृंहित विवर्त्तों का उग्रत्व, शान्तिमय प्राजापत्यप्राण "परोरजा" एवं घण्टा-नाग-अग्नि-प्रभृति आयुधों का शक्ति-व्याहरण—

अग्नि, सोम, वायु ये तीन तत्त्व साम्बसदाशिव के मुख्य आधार माने गए हैं। रुद्रस्वरूप समर्पक इन तीनों तत्त्वों के सर्वाधारभूत मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययब्रह्म के प्राकृतिक त्रिवृद्भाव से अवान्तर तीन तीन विवर्त्त होजाते हैं। अग्नितत्त्व के तीन विवर्त्त–**अग्नि, वायु, इन्द्र**, नाम से, सौम्यप्राण के तीनों विवर्त्त–**वरुण, चन्द्रमा, दिक्**, नाम से, वायव्यप्राणविवर्त्तत्रयी–**शब्द, वायु, अग्नि**, नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ९ विवर्त्तभावों के सम्बन्ध से रुद्रभगवान् में नवशक्तियों का समावेश रहता है। ये सब (नव) शक्तिविवर्त्त रुद्र के घोरस्वरूप हैं, उग्र धर्म्म हैं, संहारकधर्म्म हैं। इन सब उग्रस्वरूपों का आधारभूत दसवां 'परोरजा' नामक शान्तिमय प्राजापत्यप्राण है, जिस के सम्बन्ध से रुद्र की रुद्रता शिवभाव में परिणत होती हुई अभयपद प्रदान करती है। यह अभयशक्ति ही शेष नवों उग्रशक्तियों की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। सम्भूय १० शक्तिविवर्त्त होजाते हैं। इन्हीं शक्तिस्वरूपों के (उपासक के बोधसौकर्य्य के लिए) स्पष्टीकरण के लिए नैदानिकों ने तत्तदनुरूप निदानभावों के आधार पर रुद्र स्वरूप की कल्पना की है। रुद्रस्वरूप में प्रतिष्ठित हस्त की अभयमुद्रा परोरजाप्राणात्मक **शान्तभाव** की सूचिका है। टङ्क से **आग्नेयताप**, शूल से **वायव्यताप***, वज्र से **ऐन्द्रताप** (विद्युत्ताप) सूचित है। इसप्रकार टङ्क, शूल, वज्र, तीन आयुध क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र, इन तीन आग्नेयी शक्तियों की ओर सङ्केत कर रहे हैं। पाश **वरुणबन्धन** का सूचक है। पाशलक्षण बन्धन के एकमात्र अधिष्ठाता वरुण देवता ही माने गए हैं। इसी आधार पर **'वरुण्या वा एषा रज्जुः'** निगम प्रसिद्ध है। खड्ग से **चान्द्रहेति** अभिप्रेत है। एवं अङ्कुश से **दिश्यहेति** का ग्रहण है। इसप्रकार पाश, खड्ग, अङ्कुश, तीन आयुध क्रमशः वरुण, चन्द्रमा, दिक् (आप्यसोमात्मक वरुण भास्वर-सोमात्मक चन्द्रमा, दिक्सोमात्मिका दिक्) इन तीन सौम्याशक्तियों की ओर संकेत कर रहे हैं घण्टा आयुध ध्वनिलक्षण **शब्दशक्ति** का, नाग आयुध **सञ्चरनाड़ी** का विश्लेषण कर रहा है। रुद्रभगवान् जिस द्वार से प्रवेश करते हैं, एवं जिसके आधार पर तत्र प्रतिष्ठित होते हैं, वह वायव्यप्राणी ही नाक्षत्रिक सर्पप्राण सम्बन्ध से 'नाग' कहलाया है। अपिच सञ्चरनाड़ी का साधारण लक्ष्य भी 'सर्प' ही माना गया है। यच्च-यावत् ग्रहों के परिभ्रमणमार्ग वायुसम्बन्ध से सर्पणशील बने रहते हुए सर्प नाम से व्यवहृत हुए हैं। सर्प विष का भी निदान है। विष संहार का निदान है। इस परम्परा से नाग आयुध संहारशक्ति का भी निदान

बन रहा है। संहारशक्ति रुद्र के उग्र स्वरूप का मुख्य धर्म्म है। अतएव हाथ के अतिरिक्त रुद्रस्वरूप के सर्वाङ्गशरीर में सर्पों का वेष्टन कल्पित हुआ है। दृष्टिलक्षण **प्रकाशधर्म्म** अग्नि (अग्निज्वाला) आयुध द्वारा संकेतित है। इसप्रकार घण्टा, नाग, अग्नि, इन तीन आयुधों के द्वारा क्रमशः शब्द-वायु-अग्नि, इन तीन वायव्य शक्तियों का ही निदान बतलाया जारहा है। इसप्रकार रुद्रस्वरूप विश्लेषण के लिए तत्तच्छक्तिविशेषों के बोध के लिए महर्षियों ने निदान के आधार पर तत्तदनुरूप भौतिक द्रव्यों में तत्तच्छक्ति-भावनाओं के अभ्यास को अनिवार्य्य माना है। निम्नलिखित तालिका से रुद्र के उक्त शक्ति-नैदानिकरूपों का स्पष्टीकरण होजाता है—

१	१	१	अभयम्	प्राजापत्यप्राणः	शान्तिः	परोरजाप्राणः	प्रतिष्ठा
१	१	२	टङ्कः	आग्नेयतापः	अग्निः (प्राणात्मकः)	आग्नेयप्राणः	अग्निः
२	२	३	शूलम्	वायव्यतापः	वायुः	,,	,,
३	३	४	वज्रम्	ऐन्द्रतापः	इन्द्रः	,,	,,
१	४	५	पाशः	वारुणहेतिः	वरुणः	सौम्यप्राणः	सोमः
२	५	६	खड्गः	चान्द्रहेतिः	चन्द्रमाः	,,	,,
३	६	७	अङ्कुशः	दिश्यहेतिः	दिक्	,,	,,
१	७	८	घन्टा	ध्वनिः शब्दः	शब्दः	वायव्यप्राणः	वायुः
२	८	९	नागः	सञ्चरनाड्यः	वायुः	,,	,,
३	९	१०	अग्निः	प्रकाशः	अग्निः (भूतात्मकः)	,,	,,

१३४–तत्वभिदा अनेकधापरिकल्पित रुद्र के "मृत्युञ्जय-कामेश्वर-दक्षिणामूर्ति" निरूढ आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अमृत-भावोपेत स्वरूप का उपबृंहण—

दशायुधोपेत साम्बसदाशिव पञ्चमूर्त्ति है, अव्ययब्रह्म इन की मूलप्रतिष्ठा है । अव्ययब्रह्म की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, ये पाँच कलाएँ हैं, यह बतलाया जाचुका है । इन पाँच कलाओं में मनः प्राण-वाग्रूप अव्यय सृष्टिसाक्षी बनता हुआ कर्म्मप्रधान है । आनन्दविज्ञानमनोमय अव्यय मुक्तिसाक्षी बनता हुआ ज्ञान प्रधान है । बलात्मक कर्म्म मृत्युतत्त्व है, रसात्मक ज्ञानतत्त्व अमृततत्त्व है । मनःप्राणवाङ्मयरुद्र पञ्चमूर्त्ति साम्बसदाशिव हैं । ये ही मृत्युजगत् के अधिष्ठाता हैं, जिनका अब तक विश्लेषण हुआ है । आनन्द, विज्ञान, मनोमय अमृतभावों के आधार पर निदानविधा से तीन शिवस्वरूपों की कल्पना और हुई है । आनन्दमय शिव **'मृत्युञ्जय'** कहलाए हैं, विज्ञानमूर्तिशिव **'दक्षिणामूर्त्तिशिव'** कहलाए हैं, एवं मनोमय शिव मनोमयी अन्तःकामना के सम्बन्ध से **'कामेश्वरशिव'** कहलाए हैं । तीनों के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर तीनों के उपासनाप्रकार भिन्न भिन्न हैं । मृत्युञ्जय भगवान् कमल पर विराजमान हैं, एक हस्त में माला है, दूसरे में पुस्तक है, तीसरे में अभयमुद्रा है, चौथे में मृग है । कमल प्रतिष्ठात्मिका आनन्दघना शान्ति का, माला शब्दब्रह्मात्मक अखण्डस्फोट का, पुस्तक ज्ञान का, अभयमुद्रा परोरजाप्राण का, एवं मृग त्रयीविद्या का निदान है । दक्षिणामूर्त्ति भगवान् का ध्यान अन्यत्र निरूपित है । मनोमय कामेश्वर भगवान् ब्रह्मा–विष्णु–रुद्रादि पञ्चमूर्त्तियों पर विराजमान हैं । इसप्रकार तत्त्वभेद से रुद्रस्वरूप की निदान द्वारा अनेकधा कल्पना हुई है ।

१३५–यच्चयावत् भारतीय देवस्वरूपों का निदानविद्याऽधारेण उपकल्पन, एतन् मर्म्मानवगत वैदशिकों एवम् पाश्चात्यशिक्षाविधि-स्वीकार-समुत्पन्न-मानस-वैजात्ययुक्त भारतीयों द्वारा उपहासाक्षेप, किन्तु, व्यवहारपक्षधिया भारतेतरदेशिकों द्वारा भी निदानभावों का आचरण—

निदर्शनमात्र हैं । भारतीय उपासनाकाण्ड में संगृहीत यच्चयावत् देवस्वरूप निदानविद्या के आधार पर ही उपकल्पित हैं । बिना इस भूतात्मक निदानभाव को माध्यम बनाए, आधिदैविक उपासना में मनः-संयम सम्भव नहीं है । उपासनासिद्धि के साथ साथ इस निदानद्वारा प्रकृति के गुप्ततम रहस्यों का भी बोध होजाता है । भारतीय निदान विद्या का मर्म्म न समझने वाला वर्त्तमान युग का शिक्षित समाज हमारे देवस्वरूपों के आनन्त्यपर, इन के स्वरूप–विशेषों पर आक्षेप भले ही करे, परन्तु उसे भी अपने व्यावहारिक जगत् में उसी निदान का अनुगमन करना पड़ रहा है । लौकिक भाव सूचना के लिए वह भी निदानभावों को ही मध्यस्थ मान रहा है । पश्चिमी जगत् में समसम्बन्धी की मृत्यु होजाने पर हाथ पर काली पट्टी बाँधने की प्रथा प्रचलित है । शोक परोक्ष तत्व है । उस का काले वस्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर भी परोक्ष शोक की सूचना के लिए प्रत्यक्ष आधिभौतिक काला कपड़ा सूचक माना जारहा है । यही तो निदान है । क्रासचिह्न अपने उपास्य (ईसा) की स्मृति का निदान है । सिद्ध है कि, विदूरस्थ–परोक्ष तत्त्व की ओर मनोयोग करने के लिए सम्मुखोपस्थित-प्रत्यक्ष–आधिभौतिक को अवश्यमेव आलम्बन बनाना पड़ता है ।

१३६-"असतो मा सद् गमय" वेदमहर्षियों की मेधयावाणी का अन्वर्थ स्फुरण, एवम् दृष्टिमनः-संयम-समन्वय-विधायिप्रतिमाच्चर्चन के बाह्य-भौतिकालम्बनपक्ष का "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्य समीहते" लोकसूक्ति समन्वितीकरण—

'दृष्टि अन्य पर, मनोयोग अन्य पर' यही उपासना का प्रधान लक्षण है। भगवत्-प्रतिमा दृष्टि के सम्मुख है, मन व्यापक भगवान् पर है। असत् पर दृष्टि संयम, सत् पर मनः संयम, कैसा रहस्यपूर्ण समन्वय है। वेदमहर्षि इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए कहा करते हैं--'असतो मा सद्गमय'। भौतिकी प्रतिमा बलप्रधाना बनती हुई मृत्युमयी है, प्रतिमा द्वारा लक्ष्यीभूत आधिदैविक उपास्य तत्त्व रस-प्रधान बनता हुआ अमृतमय है। इसी आधार पर-'मृत्योर्मा अमृतं गमय' कहा जाता है। भौतिकी प्रतिमा मूर्त्त है, उपास्य अमूर्त्त है। अतएव-'मूर्त्तान्मा अमूर्त्तं गमय' कहा जासकता है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' ही उपासना का मुख्यदृष्टिकोण है। इसी लिए तो उपासनाकाण्ड को उभयात्मक कहना अन्वर्थ बनता है।

१३७-उपासना का आधिदैविक आधिभौतिक साध्यसाधन परकत्व, एवम् प्रतीकोपासना के कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोगात्मक स्वरूपों का पारिभाषिक-निर्वचन—

पूर्व प्रतिपादित 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड के 'ग' विभाग में हमने उपासना काण्ड को केवल आधिदैविक साध्य-साधन परक ही बतलाया था। परन्तु यहाँ इसे उभयात्मक (साधनदृष्ट्या आधिभौतिक, तथा साध्यदृष्ट्या आधिदैविक) बतलाया जारहा है। इस में परस्पर विरोध का अवसर इस लिए नहीं है कि, फलदृष्ट्या पूर्वखण्ड का कथन अन्वर्थ है। एवं अनुष्ठानात्मक व्यवहार की दृष्ट्या इसे उभयात्मिक कहना अन्वर्थ है। साध्य-साधनरूप से उभयथा आधिदैविक ज्ञानयोग का जो नैष्कर्म्य फल है, वही फल समानप्रत्ययप्रवाह लक्षण, अतएव ज्ञानयोगसमतुलिता निर्गुणोपासना का है। एकमात्र इस फल के अभिप्राय से ही वहाँ उपासना को उभयथा आधिदैविक ही बतलादिया गया है। अनुष्ठान दृष्टि से तो प्रत्येक दशा में उपासनाकाण्ड आधिदैविक आधिभौतिक–दोनों की ही अपेक्षा रखता है। प्रतिमा को प्रतिमा समझना कर्म्मयोग है, प्रतिमा पर दृष्टि रखते हुए तद्द्वारा तद्गत रसरूप व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य बनाना भक्तियोग है, एवं प्रतिमा का आत्यन्तिकरूप से परित्याग करते हुए रसैकप्रवण बन जाना ज्ञानयोग है।

१३८-नेत्रकनीनिकान्तः प्रतिबिम्बिता प्रतिमा, मनः प्रदेशसञ्चारिणी तद्गता विराड्भावना, मृण्मयी प्रतिमा द्वारा विदूरस्थ आचार्य (द्रोण) को गुरुभाव अर्पित करने वाले "एकलव्य" का धनञ्जय-जिष्णु अप्रतिम धनुर्धरत्व एवम् सुरथ-समाधिवैश्य भगवान् राम (सेतुबन्ध-रामेश्वर स्थापक) द्वारा प्रतिमोपासना—

दूसरी दृष्टि से पाषाण को पाषाण समझना कर्म्मयोग है, पाषाण को समआलम्बन बनाकर तद्गत परोक्ष व्यापक ब्रह्म में मनोयोग करना उपासना है, पाषाण का परित्याग कर तद्गत ब्रह्म में अद्वैत भावना से

लीन होजाना ज्ञानयोग है। इस प्रकार थोड़े से विपर्य्यय से एक ही आध्यात्मिक योग योगत्रयरूप में परिणत होरहा है। यदि हमारी दृष्टि भी प्रतिमा पर है, मन भी प्रतिमा पर है, तो कभी भक्तियोग सफल नहीं होसकता। अवधानपूर्वक विचार कीजिए, कैसे अद्भुत, साथ ही जटिल पथ हैं। देखे कुछ और का और ही, समझे कुछ और का और ही। यदि दृष्टिविषयिणी प्रतिमा को ही हम भगवान् समझ रहे हैं, साथ ही यदि दृष्टिविषयिणी प्रतिमा को हम भगवान् नहीं समझ रहे, तब भी उपासना नहीं है। समझना मनो व्यापार है। यदि प्रतिमा के साथ मन का (समझ का) योग है, तब भी उपासना नहीं है। यदि प्रतिमा के उपास्यभाव पर समझ है, तब भी उपासना नहीं है। समझ (मन) का तो प्रतिमा से भावात्मक, अभावात्मक, किंवा उभयात्मक, किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। प्रतिमा तो केवल दृष्टि का विषय रहना चाहिए। तभी उपासना का साफल्य है। बाह्यदृष्टि प्रत्यक्ष—समीपस्थ आधिभौतिक पर मनोदृष्टि तन्मूलक परोक्ष—विदूरस्थ आधिदैविक तत्त्व पर यही उपासना है। उपासनातत्त्व के इसी दृष्टि कोण का निम्नलिखित से स्पष्टीकरण होरहा है। जिस दृष्टि कोण के आधार पर महाभाग एकलव्य ने आज से ५००० हजार वर्ष पहिले विदूरस्थ-परोक्ष गुरुद्रोण की मृण्मयी प्रतिमा को सामने रखते हुए धनुर्विद्या में अर्जुनापेक्षया भी अधिक कुशलता प्राप्त की थी, लाखों वर्षों पहिले महाराज सुरथ, तथा समाधि नामक वैश्य ने मृण्मयी प्रतिमा के माध्यम से परमतत्त्व का साक्षात् कार किया था। एवं सेतुबन्ध रामेश्वर स्थापना द्वारा अवतार पुरुषने स्वोपास्य शिवतत्त्व का अनुग्रह प्राप्त किया था।

'आधिभौतिके कस्मिंश्चिदर्थे बाह्यदृष्टिं विन्यस्य तन्मूलकमसंनिकृष्टे-कस्मिंश्चिदाधिदैविकेऽर्थान्तरे प्रत्ययप्रवाहसम्पादनमुपासनम्'

६

——*——

१३९–गजोश्वोष्ट्र-काष्ठपुत्तलिकाओं द्वारा तत्तद् गजोश्वोष्ट्रपशु-पार्थिवों का स्वरूपबोध, एवञ्च दृष्टिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान बलेन मनः प्रदेशखचित परोक्ष (गजोश्वोष्ट्रादि, प्रतिमास्थभगवत्तत्वादि) बोध का अधिगमन--

दृष्टिविषयक प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर मनोविषयक परोक्षज्ञान में प्रवाहित होजाना, दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षज्ञान द्वारा परोक्षज्ञान में बुद्धिगर्भित मानसज्ञान को प्रवाहित कर देना ही उपासना निष्कर्ष है। लोक-दृष्टान्त के आधार पर समन्वय कीजिए। अबोध बालक पिता से प्रश्न करता है—हाथी, घोड़ा, ऊँट, कैसे होते हैं। पिता उस के सामने काष्ठपुत्तलिकाएं रख देता है, और-'यह हाथी है, यह घोड़ा है, इत्यादि रूप से बालक को उद्बोधन कराता जाता है। बालक के मानस पटल पर इन उपकल्पित पुत्तलिकाओं का संस्कार खचित होता जाता है। इन के आधार पर इस का मनोज्ञान परोक्ष—विदूरस्थ वास्तविक गजादि आकारों की ओर प्रवाहित होजाता है। जब भी कभी इस की दृष्टि वास्तविक हाथी की ओर जाती है, तभी इस के मनोराज्य

में प्रतिष्ठित मिथ्या–हाथी का चित्र इस सच्चे हाथी का बोध कर देता है। यही उपासना है। नवमलक्षण की अपेक्षा प्रस्तुत लक्षण में थोड़ी विशेषता है। नवमलक्षण का अधिकारी जहाँ थोड़ी उच्चभूमिका में प्रतिष्ठत है, वहाँ प्रस्तुत अधिकारी अपेक्षाकृत निम्न कोटि में प्रतिष्ठित माना जाएगा। प्रतिमा सामने रख कर इसी के आधार पर परोक्ष तत्त्व की ओर मन लगाना, पूर्व दृष्टिकोण था। प्रतिमा सामने रखकर प्रतिमाज्ञान ही पहिले मानस पटल पर खचित करना, पुनः मानस ज्ञान के आधार पर बुद्धिद्वारा परोक्ष–तत्त्व की ओर ध्यान प्रवाहित करना प्रस्तुत दृष्टिकोण है। निम्न लिखित लक्षण इसी विशेषता का विश्लेषण कर रहा है।

"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षेऽर्थे प्रत्ययप्रवाहमुपासनम्

१०

—०—

१४० अज्ञात देश-पुरुष-पदार्थादि का प्रतिकृतिलभ्य स्वरूप-ज्ञान, अतएव बुद्धिसमीपस्थ अन्य द्वारा परोक्षातीत-पदार्थादि परक ज्ञानप्रवाह का उन्मीलन एवम् अद्वैताचार्य्य के "बुद्धि संनिकृष्टार्थ द्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारण मुपासनम्" लक्षण की निरुक्ति—

बुद्धिसमीपस्थ वस्तु के द्वारा दूरदेशस्थ वस्तु का परिज्ञान होजाना ही 'उपासना' है। अज्ञात देश, अज्ञात महापुरुष, अज्ञात पदार्थ, आदि जो भी अज्ञातवस्तुएँ हमारे लिए (अन्यत्र विद्यमान रहने से) अज्ञात हैं, उनका ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय? उत्तर स्पष्ट है। उन सब अज्ञातभावों की, पदार्थों की प्रतिकृति (चित्र) सामने रखलीजिए, अज्ञातों का ज्ञान सुलभ बन जाएगा। समस्त खगोल–भूगोल परिज्ञान इसी चित्र (ऐटलस) के आधार पर अवलम्बित है। चित्र बुद्धि के समीप हैं, इनके आधार पर विदूरस्थ पदार्थों का सम्यक् बोध होजाना सार्वजनिक है। सम्भव है-उन विदूरस्थों के साथ कभी हमारा दृष्टसम्बन्ध न हो। फिर भी केवल उनकी प्रतिकृतियों के आधार उनका बोध हमें होजाता है। परोक्ष अतीत-युग के महापुरुष आज भौतिक शरीर से नहीं हैं। जब वे थे, तब हम न थे। फिर भी उनके चित्रों के आधार पर हम उनका बोध कर रहे हैं। यही तो चित्र की चित्रता (विचित्रता) है। आज से सहस्रों वर्षों पहले भूक्षेत्रों की जैसी अवस्था थी, उसका परिज्ञान भी हमें इन्हीं चित्रों के आधार पर आज भी हमारे शिक्षक करा देते हैं। इस प्रकार समीपस्थ अन्य द्वारा विदूरस्थ परोक्ष–अतीत–अथवा वर्त्तमान का ज्ञानप्रवाह प्रवाहित होजाना ही उपासना है। नवमलक्षण से अधिकांश में समतुलित इसी लक्षण का निम्नलिखितरूप से अभिनय हुआ है—

"बुद्धिसंनिकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारणमुपासनम्"

— ११ —

—*—

१४१-"श्रद्धान" परिभाषा, उपासना का मूल "श्रद्धा", इसका तात्विक स्वरूप, एवम द्रवत्व-स्निग्धत्वादि प्रधान श्रद्धाधर्म्मों की स्थिति का निरूपण—

जिस भाव, तत्त्व, पदार्थ का हमें परिज्ञान अपेक्षित है, उस भाव–तत्त्व–पदार्थ के किसी एक स्वरूप पर दृष्टि का संयम करते हुए उसमें सत्य आस्था कर लेना ही '**श्रद्धान**' कहलाता है। श्रद्धामूलक यह श्रद्धान ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि अष्टम–लक्षणसमन्व में विस्तार से बतला जाचुका है। क्योंकि 'श्रद्धा' ही उपासना का मूल है, अतः प्रसंगोपात्त दो शब्दों में श्रद्धातत्त्व के तात्त्विक–स्वरूप की भी मीमांसा कर लेनी चाहिए '**श्रद्धा वा आपः**' इस ब्राह्मण वचन के अनुसार अप्‌तत्त्व का ही नाम श्रद्धा है। '**आपो द्रवाः स्निग्धाः**' (वै० द०) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तानुसार द्रवत्त्व, तथा स्निग्धत्त्व, अप्‌तत्त्व के प्रधान धर्म्म हैं। प्रवाहित होजाना, साथ ही वस्त्वन्तर में संसक्त होजाना अप् का विशेष धर्म्म है। फलतः अप्‌तत्त्वात्मिका श्रद्धा में भी इन दोनों धर्म्मों की स्थिति स्वभावतः सिद्ध होजाती है।

१४२-दक्षदोष-श्रुतिदोष-स्वप्नदोषात्मिका तमःप्रधाना, जड़धर्म्मानुगता मनोवृत्ति, एतादृग्वृत्ति-आनुकूल्य-परिहाण-समुत्पन्न गुणदर्शनात्मिका वृत्ति का दार्शनिक "श्रद्धा" त्व, एवम् "कासारेऽपि प्रविष्ट कोलः कर्दमं गवेषयति" सम्मत पर-निन्दाशूरादिका उक्त दोषत्रय विवेचनोदाहरणधिया प्रतिपादन—

वैज्ञानिकलक्षण समन्वय को थोड़ी देर के छोड़ते हुए श्रद्धा के दार्शनिक लक्षण का समन्वय कीजिए। दार्शनिक विद्वान् श्रद्धा का लक्षण करते हुए कहा करते हैं-"**दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा**"। दोष देखने के अनुकूल जो मनोवृत्ति है, उस दोषदर्शनानुकूलवृत्ति के विरुद्ध जो मनोवृत्ति है, उस वृत्ति (गुणदर्शनवृत्ति) का मन में प्रतिष्ठित होजाना, उस वृत्ति का मन में खचित होजाना ही श्रद्धा है। तमोगुण प्रधान पार्थिवशरीर से परिवेष्टित मानववर्ग की मनोवृत्ति स्वभावतः अधिकांश में परदोषानुगामिनी ही बनी रहती है। यद्यपि समालोचक स्वयं दोषों का आगार भले ही हो, तथापि तमोगुणानुग्रह से वह दूसरों के दोषान्वेषण में अनन्यनिष्ठ बना रहता है। मानवमन की दोषदर्शनानुकूला तमोगुणप्रधाना, अतएव जड़धर्म्मानुगता वही मनोवृत्ति दोषवृत्ति कहलाई है, जिसके वैज्ञानिकों ने '**दक्षदोष, श्रुतिदोष, स्वप्नदोष**' ये तीन श्रेणि–विभाग माने हैं। दक्षप्राणमूल तमोगुणमय प्राकृतिक दोष दक्षदोष हैं। श्रुतिप्राणमूल रजस्त–मोगुणमय–आगन्तुकदोष श्रुतिदोष है। एवं स्वप्नप्राणमूल रजोगुणमय तात्कालिकदोष स्वप्नदोष हैं। कितने ही व्यक्ति जन्म से ही दोष देखने के, परनिन्दाप्रवृत्ति के आचार्य्य पद पर विराजमान रहते हैं। परदोषान्वेषण में न इन महापुरुषों का लाभ है, न हानि, केवल स्वभाव है। यही स्वाभाविकदोषात्मक दक्षदोष है। कितने एक व्यक्ति स्वयं तो बड़े सीधे सीधे हैं। परन्तु इनके पार्श्ववर्त्ती महानुभाव निरन्तर इन पर दोषमीमांसा का प्रभाव डाला करते हैं। कालान्तर में इस संगवृत्ति से उन में भी दोषदर्शनवृत्ति प्रस्फुटित होजाती है। यही आगन्तुक संसर्गजनितदोष श्रुतिदोष हैं। कितने एक व्यक्ति नासमझी से, परिस्थिति का परिज्ञान न रखने से कुछ का कुछ समझ बैठ कर दोषदर्शन के अनुगामी बन जाते हैं। प्रज्ञापराधमूलक यही तात्कालिक दोष स्वप्नदोष है। इसप्रकारदोषभाव के अवान्तर तीन विवर्त्त होजाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन '**ईशविज्ञानभाष्य**' प्रथमखण्ड में निरूपित है।

१४३–मानस-सौम्यरस संश्लिष्टा, गुणैकपक्षव्रता, रजस्तमोमया ऽसद्वृत्तिरोधिनी सद्वृत्ति का "श्रद्धा" त्व, श्रद्धेय के साथ इसका अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, एवं तन्निरूपण—

उक्त तीनों दोषों में से किसी एक भी दोषवृत्ति के आजाने से मानवीय मन दोषदर्शनानुकूला वृत्ति का उपासक बन जाता है। जो सात्त्विकवृत्ति इस दोषदर्शनानुकूलावृत्ति को रोक कर मानवीय मन को गुणदर्शन की ओर प्रवृत्त करती है, उस सद्वृत्ति का ही नाम श्रद्धा है, जबकि वह सद्वृति मानस सौम्यरस से संश्लिष्ट होजाती है। दूसरे शब्दों में जो गुणदर्शनानुकूलासात्त्विकी सद्वृत्ति दोषदर्शनानुकूला रजस्तमोमयी असद्वृत्ति का निरोध कर देती है, उस सद्वृति का अनुगमन ही श्रद्धा है। जब यह सद्वृत्ति मन में प्रस्फुटित होजाती है, तो जिस श्रद्धेय के साथ इस वृत्ति का अन्तर्य्याम सम्बन्ध होजाता है। उस श्रद्धेय के दोषों पर पहले तो श्रद्धालु दृष्टि ही नहीं जाती। यदि दृष्टि जाती भी है, तो वह दोष भी इसे गुण ही प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा होता क्यों है? प्रश्न का उत्तर है–गुणत्रय का तारतम्य, साथ ही सर्वव्याप्त।

१४४–श्रद्धा--अश्रद्धा--अन्धश्रद्धा--समुत्पन्न- विरुद्धदृष्टि एवं शास्त्राचारोल्लङ्घन, गोवत्स-वधात्मिक असद्वृत्तियों का निरूपण—

सत्त्व–रज--स्तमोगुणत्रयी दुनिर्वार है। इन्हीं तीनों गुणों के सम्बन्ध से श्रद्धा के भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी, ये तीन भेद होजाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन **'उपनिषद्विज्ञानभाष्य भूमिका'** प्रथमखण्डान्तर्गत--**'क्या उपनिषत् वेद है?**, नामक अवान्तर प्रकरण में हुआ है। सात्त्विकीश्रद्धा अध्यात्म-संस्था से, अभ्युदय निःश्रेयस से सम्बन्ध रखती है। राजसीश्रद्धा लौकिक व्यवहारों की प्रतिष्ठा बनती है। एवं तामसीश्रद्धा असद्वृत्तिरूपा अश्रद्धा से समतुलित होती हुई सर्वनाश का कारण बनती है। यही अन्धश्रद्धा कहलाई है, जिसका उदय असुरप्राणमूलक असदन्नभक्षण, असच्छिक्षानुगमन, सच्छिक्षाभाव, आदि सहयोगियों से माना गया है। जिनमें इस असच्छ्रद्धा का समावेश रहता है, वे सत् को असत् मानने लगते हैं, असत् को सत् कहने लगते हैं। शास्त्रीय आदेशोपदेश सर्वथा निरर्थक, एवं अशास्त्रीय कल्पित आदेशोपदेश मान्य, यही अन्धश्रद्धा है, जिसका आज भारतवर्ष में विशेष गौरव माना जारहा है। इसी तामसी श्रद्धा का यह अनुग्रह है कि, आज हमारे राष्ट्रीय नेता अज्ञानतावश जो भी शास्त्रविरुद्ध कर बैठते हैं, उनके श्रद्धालु उन कार्य्यों को भी गुणपक्ष में ही स्थापित करने लगते हैं। दुष्टश्रद्धा के इसी प्रभाव से गोवत्सप्राण हरण करने वालों का यह जघन्य कर्म्म भी उसके श्रद्धालुओं के लिए समर्थन की वस्तु सुना गया है। दोषानुगता ऐसी अन्धश्रद्धा, और असद्वृत्तिलक्षणा अश्रद्धा दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दूसरी राजसीश्रद्धा भी व्यवहार काण्ड में यथाकथञ्चित् उपयोगिनी बनती हुई भी तत्त्वतः त्याज्या ही मानी गई है। उपादेया है--एकमात्र सात्त्विकीश्रद्धा, जिसका कि निर्दुष्टसत्यानुगत विश्वास से अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। जैसे को तैसा ही दिखलाने वाली श्रद्धा ही सात्त्विकी श्रद्धा है, जैसाकि अनुपद में ही बतलाए जाने वाले वैज्ञानिकलक्षण से स्पष्ट होने वाला है।

१४५ उपासनासिद्धि दौवारिका निर्दुष्टसत्य-विश्रम्भाश्रयणीय धर्म्मावच्छिन्ना "श्रद्धा" "वेदाः प्रमाणम्" इत्येतन्निष्ठ निर्व्याज वज्रप्राण निष्ठानुगति का फलग्राहि उपासनात्व, "यदि वेदाः प्रमाणं स्युः" इति रसनास्खलति व्याहृतमात्र-प्रत्यवाय-प्रायश्चित्त-परायण प्रातर्वन्द्य श्रीकुमारिल भट्ट—

श्रद्धा वही वास्तविकीश्रद्धा मानी जाएगी, जिसके निर्दुष्टसत्यत्त्व, विश्वास, आश्रयणीय, ये तीन भाव अङ्ग बने रहे होंगे, एवं ऐसी निर्दुष्टसत्य विश्वासयुक्ता आश्रणीया श्रद्धा ही उपासना--सिद्धि का द्वार मानी जाएगी। दोषराहित्यभावना, श्रद्धेयतत्त्व, सत्यता, दृढआत्मविश्वास, और ऐसे विश्वास की कार्य्यरूप में परिणति, तद्रूपा मानसवृत्ति ही उक्त दार्शनिक लक्षण का निष्कर्ष है। उदाहरण के लिए 'वेदश्रद्धा' को ही लीजिए। वेदज्ञान हमारे लिए सर्वथा दोषरहित है, श्रद्धेयवेदतत्त्वमूलतः सत्य है, सत्यतापर दृढ आत्मविश्व है, विश्वानुगत श्रद्धेयवेद के आदेशोपदेशों का आश्रय भी है। यही उपासना--साफल्य है। यदि—**'वेदाः प्रमाणं स्युः'** में सन्देहात्मक 'यदि' का भी समावेश है, तो श्रद्धाच्युति है, जिसके सर्वोच्च उदाहरण प्रातः स्मरणीय कुमारिल भट्ट थे। जिस अतीतयुग में वेदमार्ग पर आक्षेप किए जारहे थे, उस युग में सर्वश्री कुमरिल भट्ट ने वेदमार्ग प्रतिष्ठापन का व्रत ग्रहण किया। परमात्मानुग्रह से आपका व्रत सफल हुआ। परन्तु-**'यदि वेदाः प्रमाणं स्युः'** के 'यदि' शब्द के उच्चारण मात्र से होनेवाले प्रत्यवाय के प्रायश्चित्त के लिए, कहते हैं आप सूखे पिप्पल के वृक्ष पर बैठ सशरीर जलकर अपनी उपासना सफल करगए। करगए-**'भट्टो जागर्त्ति भूतले'** वाक्य को शाश्वत। यही वास्तविक वह श्रद्धा है, जिसके बलपर अग्नि अपना ताप छोड़ सकते हैं, सूर्योदय अवरुद्ध किया जा सकता है, स्तम्भ नृसिंहरूप में परिणत होसकता है,-**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'**।

१४६—अप्तत्व (श्रद्धातत्व) की अम्भः-मरीचि-मरः-आपः-इति चतुर्धा विभक्ति, एवम् एतच्चतुष्टय का विश्लेषण—

कहा गया है कि, अप्तत्त्व ही श्रद्धातत्त्व है। **अम्भः, मरीचिः, मरः, आपः**, भेद से यह अप्तत्त्व (लोकभेद से) चार जातियों में विभक्त है। पारमेष्ठय अप्तत्त्व 'अम्भः' है, जिसका गाङ्गेय से सम्बन्ध है। सौररश्मिसंघर्ष से उत्पन्न अग्निधर्म्मा रश्मिस्थ अप्तत्त्व **'मरीचि'** है, जिसका यामुनेय से सम्बन्ध है, एवं जिसके आधार पर अर्णव समुद्र तथा कश्यपप्रजापति प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव मूर्च्छित अप्तत्त्व 'मरः' है, जिसमें रासायनिक सम्मिश्रण से पेयजल का स्वरूप निष्पन्न होता है। चान्द्र सौम्य अप्तत्त्व 'अपः' है, जिसमें चान्द्रसोम सम्बन्ध से स्नेहगुण अत्यधिक मात्रा में प्रतिष्ठित है, जो कि अप्तत्त्व पितृप्राण की प्रतिष्ठा बनता हुआ चतुरशीति (८४) पितृसहः पिण्डों का ताता बनता हुआ **'ताता पिण्डानाम्'** (ऋक्-संहिता) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही चान्द्र अप्तत्त्व (आपः) 'श्रद्धा' कहलाया है। हमारी अध्यात्मसंस्था के प्राणतत्त्व से पारमेष्ठय 'अम्भः' का सम्बन्ध है, बुद्धि से सौर मरीचि का सम्बन्ध है, शरीर से पार्थिव 'मर' का सम्बन्ध है, एवं मन से चान्द्री श्रद्धा का सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति के मन में चान्द्ररस जितना अधिक स्फुट होता है, वह उसी अनुपात से अधिकाधिक श्रद्धालु होता है। श्रद्धारस के अनुग्रह से वञ्चित मन्दभाग्य ही अश्रद्दधान, संशयी, अज्ञ बने रहते हुए नष्ट होते देखे गए हैं-**'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'**।

१४७–आत्मविश्वास मूलप्रतिष्ठा "श्रद्धा", श्रत्-धा (सत्य-धारण) इत्यात्मक तदर्थ, एवं श्रद्धेय के आदेशोपदेशों का "इदमित्थं नान्यथा" इत्यात्मक निर्व्याजभावेन ग्रहण—

श्रद्धातत्त्व ही मनोयोग द्वारा 'सत्यत्त्व' धारणा का जनक बनता है। 'अमुक वस्तु सत्य है' इस आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा श्रद्धा ही है। 'श्रत्' भाग सत्य का सूचक है। इस 'श्रत्' का (सत्य का) धारण करने वाला तत्त्व ही 'श्रद्धा' है। श्रद्धा के आधार पर उत्पन्न–'इदमित्थमेव नान्यथा' यह भाव 'श्रद्धान' (श्रद्धाकरणं श्रद्धानम्) है। यह श्रद्धान श्रद्धेय के किसी एक अवयव के आधार पर भी उत्पन्न होता देखा गया है। यदि किसी मन्त्रशास्त्री तान्त्रिक द्वारा बतलाया गया कोई मन्त्र हमारी सफलता का कारण बन जाता है, तो हमारी उसकी सम्पूर्ण मन्त्रविद्या पर दृढ आत्मनिष्ठा होजाती है। एक मन्त्रसिद्धि के आधार पर ही उसका प्रत्येक आदेश हमारे लिए ईश्वरवाक्यवत् श्रद्धेय बन जाता है। इस श्रद्धानपार–वश्य के प्रभाव से वे हमें जो भी आज्ञा देते जाते हैं, बिना किसी चोदक्षेम के हम नतमस्तक होकर उसे मानते चले जाते हैं। यही उपासना है।

१४८–तत्त्वोपासनानुगता "वैज्ञानिकी परिचर्य्या" एतदीय वैज्ञानिक निरूपण-सापेक्ष-नियमोपनियमानुकूल्यवर्तन का उपासना-लक्षण-तन्निष्ठ-भाष्य–निर्वचन द्वारा प्रतिपादन—

लौकिक उपासना से सम्बन्ध रखनेवाली चर्य्या जहाँ लौकिकचर्य्या है, वहाँ तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाली चर्य्या भी तत्त्वात्मिका ही होगी। अतएव उसे वैज्ञानिकी-परिचर्य्या ही कहेंगे। मानलीजिए, आपका उपास्य 'परदेवता' (जगन्माता) है। अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी को शक्तितत्त्व प्रकृतिमण्डल में विशेषरूप से विकसित रहता है। एवमेव करवीरपुष्प, कलश, यन्त्रपूजन, पट्टस्थापन, आदि आदि पूजन–विशेषधर्म्म भी उपास्य के अनुरूप हैं। इन सब विशेषधर्म्मों, भावों, पदार्थों, का यथाशास्त्र तदनुरूप अनुगमन करने से ही उपास्यतुष्टि सम्भव है। इन सब नियमोपनियमों का प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध है। यहाँ मनमाना कुछ भी नहीं किया जासकता। अतएव तत्त्वोपासनाकाण्ड की इस श्रद्धानभावात्मिका परिचर्य्या को 'वैज्ञा–निकी परिचर्य्या' कहना अन्वर्थ बनता है। निम्नलिखितलक्षण (वै० प०) इसी उपासना का समर्थन कर रहा है—

> "विजिज्ञासितव्यस्य भावस्य यत्किञ्चिद्रूपं प्रतिपद्य तत्र सत्यत्त्वेनास्थाधारणंश्रद्धानम्"
>
> श्रद्धानपारवश्यात् तदनुकूला वैज्ञानिकी परिचर्य्याध्यानादिरूपा बुद्धियोगस्तदुपासनम्"

—१२—

———**———

१४९-ईशसत्तापरक निर्दुष्टास्थावती उपासना के सूर्य-गुरु-अवतारपुरुषात्मक आलम्बन, तत्र भगवान् सूर्य्य का प्राधान्येन निरुपण एवम् ईशप्रजापति द्वारा अण्ड-सृष्टिसर्ग—

जिस आस्तिक प्रजा की ईशसत्ता पर निर्दुष्ट सत्यविश्वासात्मिका आश्रणीया आस्था है, विशिष्टाद्वैत मूला सगुणोपासना उन आस्तिकों के लिए ही विहित है। आस्तिक प्रजा की यह ईश्वरोपासना **सूर्य्य, गुरु, अवतारपुरुष**, तीन माध्यमों से भलीभाँति सम्पन्न होसकती है। सूर्य्य आधिकारिक अचेतन ईश्वरांश है, गुरु प्रावाहिक चेतन ईश्वरांश है, एवं अवतारपुरुष (रामकृष्णादि) आधिकारिक चेतन ईश्वरांश हैं। यद्यपि, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथिवी, ग्रहोपग्रह, आदि आदि अन्य सभी प्राकृतिक विश्वपर्व भी सूर्य्यवत् आधिकारिक अचेतन ईश्वरांश ही हैं, अतएव इन सभी को (किसी भी एक को) आलम्बन बनाया जासकता है। तथापि किसी हेतुविशेष से हम सूर्य्य को ही प्रधानता दे सकते हैं। एवं वह हेतुविशेष है—एकमात्र 'त्रयीविद्या'। सगुणेश्वर की सगुणता का उपक्रम शब्दतन्मात्रा से हुआ है, जो कि शब्दतन्मात्रा अनादिनिधना—स्वायम्भुवी—सत्यावाक् नाम से प्रसिद्ध हुई है। यही सत्यावाक् अपने ऋक्-यजुः—सामात्मक विवर्त्तभावों में परिणत होती हुई त्रयीविद्या, किंवा त्रयीवेद नाम से प्रसिद्ध हुई है, **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'**-'वाग्विवृताश्च वेदाः'- जैसाकिइत्यादि स्मृतिवचनों से प्रमाणितहै। 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक, तत्त्वात्मक, इसी अपौरुषेयवेद को ब्राह्मणश्रुतियों ने-**'ब्रह्मैव प्रथममसृजत्-त्रयीमेवविद्याम्'** (शत० ब्रा० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। इसी त्रयीब्रह्म पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरुष पुरुषात्मक ईशप्रजापति अप्सृष्टि द्वारा आगे होने वाली अस्त्वण्ड, पोषाण्ड, यशोऽण्ड, रेतोऽण्ड, आदि अण्डसृष्टिसर्ग में समर्थ हुए हैं—(देखिए शत० ६ कां० १ प्र० १ ब्रा०) तात्पर्य्य, त्रयीवेद ही ईशप्रजापति का मुख्य सगुणरूप है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शेष चारों गुणात्मिका तन्त्रमात्राओं का प्रथमाधार वेदब्रह्मात्मक शब्दतन्मात्रा नामक गुणभाव ही है—**'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे"**

१५०-शब्दतन्मात्रात्मक त्रयीवेद, तत्र धर्म्मसृष्टि, ऋषिप्रणीत मानवधर्म्म की ऋषि सम्बन्धेन "आर्षधर्म्म" एवं नित्यभावेन "सनातनधर्म्म" रूपेण निरुक्ति, वेदोपदेष्टा गुरु वैदिकधर्म्म संरक्षणैकव्रती अवतार पुरुष, वेदब्रह्म-भौतिक-स्वरूपोन्मीलक सूर्य्य एवम् सगुणेश्वरोपासना में उक्तत्रिकमाध्यम की स्वीकारोक्ति—

शब्दतन्मात्रात्मक ईश्वरीय सगुणभाव ही त्रयीवेद है। इस त्रयीवेद के आधार पर ही धर्म्मसृष्टि हुई है। प्राकृतिक नित्य धर्म्मसूत्र का सञ्चालन वेदतत्त्व के आधार पर ही होरहा है। जैसाकि-**'वेदाद्धर्मो-हि निर्बभौ'** इत्यादि मानवीय वचन से प्रमाणित है। तत्त्वात्मक इसी वेदब्रह्म के आधार पर शब्दात्मक वेद का ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भाव हुआ है। ऋषियों ने इसी वेदशास्त्र के आधार पर मानवधर्म्म को सुव्यवस्थित किया है, जो कि मानव धर्म्म ऋषि सम्बन्ध से 'आर्षधर्म्म, अपने नित्यभाव से 'सनातन-धर्म्म' कहलाया है। शास्त्रात्मक वेद का उपदेश गुरुद्वारा होता है। तत्त्वात्मक वेद के आधार पर प्रति-

ष्ठित धर्म्म की रक्षा अवतारपुरुषों द्वारा होती है। एवं तत्त्वात्मक वेदब्रह्म के भौतिक स्वरूप का (जोकि भौतिक स्वरूप-'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध है) विकास सूर्य्य द्वारा हुआ है, जैसाकि-'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' (शत० १०।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसप्रकार प्रत्यक्षदृष्ट प्राकृतिक पर्वों में एकमात्र सूर्य्य ही त्रिगुणात्मक वेदतत्त्वात्मक आलम्बन बना हुआ है। दूसरा वेदविद्यानिधि गुरु है। तीसरा वेदधर्म्मरक्षक अवतारपुरुषवर्ग है। सूर्य्य, गुरु, अवतारपुरुष, तीनों का त्रयीवेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रयीवेद ईश का प्रधान सगुणभाव है। अतएव सगुणेश्वरोपासना में इन तीनों के माध्यम को ही प्रधान स्थान दिया जासकता है।

१५१-सूर्य्य गुरु अवतार-निष्ठ श्रेणिविभाग तत्र क्रमप्राप्त सूर्य्य-गुरु-अवतार पुरुषों के प्रथम द्वितीय तृतीयास्पद का निरूपण—

सूर्य्य, गुरु, अवतार, तीनों प्रतिनिधियों में श्रेणिविभाग समझना चाहिए। प्रथमस्थान त्रयीमय त्रिगुणात्मक सूर्य्यभगवान् का है। प्रत्यक्षरूप से भासमान तेजोमय सूर्य्य साक्षात् उगद्गीथोङ्कार है। ओङ्कार ही 'तस्य वाचकः प्रणवः' के अनुसार ईश का प्रधानस्वरूप है। तद्रूप सूर्य्य अवश्य ही तीनों में मुख्य है। दूसरा विभाग गुरु है। प्रत्यक्ष में निग्रहानुग्रह में समर्थ गुरु अवश्य ही अवतारपुरुषापेक्षया उपासक के अधिक सन्निकट है। तीसरा विभाग अवतारपुरुषों का है। प्रतिमा-चित्रादि दृष्टि द्वारा पहले अवतार-पुरुषों को लक्ष्य बनाया जाता है, पुनः इनके द्वारा व्यापक सगुणेश्वर को। इन दो परम्पराओं के सम्बन्ध से भी इस तृतीय विभाग को तृतीयश्रेणी का मानना ही अन्वर्थ बनता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, तीनों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर, साथ ही इन्हीं में ईश्वरबुद्धि स्थापित कर ईश्वरोचित कर्म्मानुगमन ही उपासना है।

१५२-उपासनालक्षणान्विता "दृष्टि" के "चाक्षुषी" "मानसी" भेदद्वय, "औपासनिक दृष्टि" शब्देन उभयानुबन्धि ग्रहण एवम् "अयमीश्वरोऽस्तीति" उपासना के त्रयोदश लक्षण का समन्वय—

उपासना के सभी लक्षणों में यह कहा गया कि, दृष्टि अन्य पर, मनोयोग अन्य पर, यही उपासना है। यह दृष्टि चाक्षुषी, मानसी, भेद से दो भागों में विभक्त है, एवं औपासनिक दृष्टि शब्द से इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए। कारण यही है कि, यच्चयावत् माध्यमों के साथ चाक्षुषी दृष्टि का सम्बन्ध होना असम्भव है। प्राण तत्त्व ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। फलतः प्राणदृष्टि से ही मनोयोग द्वारा ब्रह्मोपासना होती है। रूपरसादितन्मात्राओं से एकान्ततः अतीत अधामच्छद, अमूर्त्त प्राणतत्त्व कभी

चाक्षुषीदृष्टि का विषय नहीं बन सकता। प्राण इन्द्रियग्राह्य नहीं, अपितु मनोग्राह्य है। अतः दृष्टि से दोनों दृष्टियाँ ही संग्रहीत माननी आवश्यक हैं। निम्नलिखितलक्षण उपासना के पूर्वोक्त दृष्टिकोण का ही स्पष्टीकरण कर रहा है—

"अयमीश्वरोऽस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्योद्गीथे, गुरौ, अवतारपुरुषे, तत्प्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणमुपासनम्"

—१३—

—*—

१५३–उपासना के उपर्युक्त त्रयोदश–लक्षणों का फलितार्थ, ससीम शक्तिधर मानव एवम् महाशक्ति–समाकुल–महाविश्व के अतुलित आधिदैविक-शक्ति–तापों का विवेचन, जीवस्थ परिमित शक्तियों का ईश्वरीय शक्तिप्रवेशानुबन्धी उपासन–तत्त्वाधिगम एवम् मनः संयति प्रयुक्त बौद्धिकप्रज्ञा–प्रतिष्ठित निष्ठा का जीवन–फलेग्रहितानुबन्धी निष्कर्षस्तवन—

पूर्व में उपासना के जिन तेरह लक्षणों का समन्वय किया है, उन सब का वैज्ञानिक तात्पर्य्य क्या है ? क्या फलितार्थ है ? यह प्रश्न शेष रह जाता है। इसी शेष प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत लक्षण–निर्वचन प्रकरण उपरत होरहा है। सत्त्व–रज–स्तमोगुणमयी योगमाया के गर्भ में जन्म लेने वाला मानव ईश्वरस्वरूपसमर्पिका महामाया के पाञ्चभौतिक महाविश्व की अतुलित शक्तियों के आघात–प्रत्याघात सहने में प्रायः असमर्थ ही रहता है। आधिदैविक तापों का आक्रमण इसकी स्वल्प–सीमित शक्तियों को क्षुब्ध करता रहता है। महाशक्ति समाकुलित महाविश्व के महामहिम महत्त्व के सामने मानवीय मन का महत्त्व ही क्या रह जाता है। सांसारिक तापों से इसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सब कुछ किंकर्त्तव्य विमूढ रहते हैं। तत्त्वज्ञ वैज्ञानिकों ने योगजदृष्टि से प्रकृति के तत्त्वों का साक्षात्कार किया, साक्षात्कार किया पञ्चविंश उस तत्त्वेश्वर का, जो सर्वज्ञ–सर्ववित्–सर्वशक्तिघन बनता हुआ सांसारिक द्वन्द्वों से नित्ययुक्त रहताहुआ भी द्वन्द्वातीत बनकर बनकर आपूर्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ बना रहता है, नित्य अशान्ति के कण कण में व्याप्त रहता हुआ भी नित्यशान्त बना रहता है। वैज्ञानिकों ने इसी इसी तत्त्वेश्वर के आधार पर उस वैज्ञानिकी प्रक्रिया का आविष्कार किया, जिससे सर्वज्ञ ईश की शक्तिधाराओं के साथ अल्पज्ञ जीव की अल्प–शक्ति का सम्बन्ध होजाय। अवश्य ही उसकी प्रबलशक्तिधारा के प्रवाह से इसकी स्वल्पशक्तियों में बल का आधान होजाता है। इसी प्राप्तबल द्वारा यह तद्वत् सांसारिक द्वन्द्वों में रहता हुआ भी नित्यशान्त बना रह सकता है। जिस वैज्ञानिक पद्धति से जीव की स्वल्पशक्तियों में ईश्वरीय शक्तियों का प्रवेश होजाता है, वह वैज्ञानिक पद्धति ही 'उपासना' कहलाई है, जिसके उपासक अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से बहुसंख्यक प्रकार बन गए है। शान्तिप्राप्ति का एकमात्र उपाय है—**इन्द्रियसंयमपूर्वक मनः संयम**

द्वारा बुद्धिस्थिरता लक्षण बुद्धियोगनिष्ठावाप्ति । ऐन्द्रियक विषयानुगत मन स्वभावतः चञ्चल है। मनका चाञ्चल्य तत्प्रतिविम्बित बुद्धि के स्थिरधर्म्म का उच्छेद है। बुद्धि की अस्थिरता किंकर्त्तव्य विमोह की जननी है। यही अशान्ति हैं। आवश्यक है कि, मन का संयम किया जाय। क्योंकि जबतक मन स्थिर नहीं होगा, तबतक उसपर प्रतिष्ठित बुद्धि उसी प्रकार अस्थिर रहेगी, जैसेकि आन्दोलित जलपात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्यबिम्ब आन्दोलित रहता है। इस मन: स्थैर्य्य के लिए मन को स्थिर-शान्तलक्षण ईशतत्व का अनुगामी बनाना पड़ेगा। परन्तु विषयासक्त मन एकहेलया विषयों की, आधिभौतिक प्रपञ्च की तत्क्षण उपेक्षा करदे, यह भी सम्भव नहीं है। अवश्य ही तत्-सायुज्यप्राप्ति से पहिले पहिले अभ्यास दृढ़ता के लिए इसके सम्मुख किसी आधिभौतिक विषयालम्बन को रखना पड़ेगा। इस प्राम्भिक संयमाभ्यास से क्रम क्रमश: मन में स्थिरता का उदय होगा, परम्परया बुद्धि में भी स्थिरधर्म्म का उदय होगा। जिस दिन मन: संयम द्वारा बुद्धिगत प्रज्ञाभाग एकान्ततः प्रतिष्ठित होजाएगा, तत्क्षण स्थितप्रज्ञताद्वारा बुद्धियोग निष्ठा प्राप्त होजाएगी, सफल होजाएगा जीवन, प्राप्त होजाएगा शाश्वत पद। यही उपासनातत्त्व का फलितार्थ है, यही इसका निष्कर्ष है, जिसके निम्नलिखित लक्षण के साथ प्रस्तुत प्रकरण उपरत होरहा है—

"मनसा धार्य्यमाणेऽर्थे मन:संयमेन बुद्धिस्थैर्य्यमुपासनम्"

---१४---

—*—

इति-उपासनालक्षणनिर्वचनम्

२

इति–भक्तियोग परीक्षायामुत्तरखण्डे

"उपासनालक्षण निर्वचनम्"

नामकं

द्वितीयम् प्रकरण मुपरतम्

श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षाया मुत्तरखण्डे

उपासनाभेद निर्वचनम्

नामकं

तृतीयम् प्रकरणम्

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया मुत्तरखण्डे *उपासनाभेद निर्वचनम्* नामकं तृतीयम् प्रकरणम्

१-समानशीलव्यसनेषु मैत्री--निदर्शन-प्रातिस्विक वैशिष्ट्याभिजात्य तारतम्योद्गत (उत्तम-मध्यम प्रथम) श्रेणि विभाग एवम् साध्यानुग्रहाप्तिकृत-साध्यस्वरूपानुवर्ति साधनोपकल्पन का आपेक्ष्य—

अष्टादशपरिच्छेदात्मक पूर्वप्रकरण में अनेकधा यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आधिभौतिक-लौकिक साधनों के द्वारा (मध्यालम्बन द्वारा) आधिदैविक-पारमार्थिकफल प्राप्ति जिस वज्ञानिकी प्रक्रियाविशेष से सम्भव है, वह उभयात्मिका प्रक्रियाविशेष ही 'उपासना' है। इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। सजातीयों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। समसम्बन्धियों का ही परस्पर आकर्षण लोक-वेद सम्मत है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य में-"एकसम्बन्धिज्ञानमपर सम्बन्धिज्ञानस्य स्मारकं भवति' न्याय प्रतिष्ठित भी है। लोकसम्मत व्यावहारिक दृष्टिकोण भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है। बुद्धि-अनुगत योग्यता के तारतम्य से, किंवा सोपाधिक सप्तदशराशिलक्षण-सविशेष (अतएव प्रतिशरीर में भिन्न) भूतात्मा की प्रातिस्विक विशेषताओं के तारतम्य से मानव समाज में उत्तम-मध्यम-प्रथमादि श्रेणि विभाग व्यवस्थित हुआ है। स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, न्यायाधीश-कर्मचारी, गुरु-शिष्य आदि द्वन्द्वव्यवहार, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि वर्णावर्णव्यवस्था, आदि आदि भेद व्यवहार, सविशेष-अतएव भेदक भूतात्मा की प्रातिस्विक योग्यताओं पर ही निर्भर है। इसी प्रातिस्विक भेद व्यवहार के आधार पर मानवसमाज में प्रतिष्ठित तत्तत् विशेष श्रेणिविभाग का तत्तदनुरूप श्रेणिविभाग से ही समसम्बन्ध होता देखा गया है। जो व्यक्ति जिस श्रेणि में प्रतिष्ठित होगा, उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप ही साधनों का आश्रय लेना आवश्यक होगा.। साध्यस्वरूप के अनुरूप साधन ही साध्यानुग्रह प्राप्ति के कारण बन सकेंगे।

२-उपासनार्थ स्वीकृत आधिदैविक साध्यानुग्रह प्रयोजक आधिभौतिक साधनों का साध्य-वैजात्य, कर्म्म-बन्धन-प्रवर्तक-तमोमय आधिभौतिक, ज्ञानात्मक-बन्धन-निवर्तक-ज्योतिर्म्मय आधिदैविक एवम् तल्लक्षणा ज्योतिर्मय साध्यावाप्त्यर्थ अपेक्षिता आधिभौतिकोपादानसंहति पर शङ्काऽवधान—

उक्त लोकस्थिति के आधार पर देखना हमें यह है कि, उपासनाकाण्ड में आधिदैविक साध्यानुग्रह प्राप्ति के लिए जिस आधिभौतिक साधन की.मध्यस्थता स्वीकार की गई है, क्या वह मध्यस्थता साध्यस्वरूप

के अनुरूप है ? कहना पड़ेगा कि, अनुरूपता की क्या कथा, अपितु दोनों के स्वरूप में आत्यन्तिक विजातीयता है। साध्य आधिदैविक ज्ञानप्रधान बनता हुआ यदि ज्योतिर्म्मय है, तो साधन आधिभौतिक कर्म्मप्रधान बनता हुआ तमोमय है। एक (ज्ञानात्मक आधिदैविकतत्त्व) यदि बन्धन निवर्त्तक है, तो एक (कर्म्मात्मक आधिभौतिक द्रव्य) बन्धन प्रवर्त्तक है। क्या बन्धन प्रवर्त्तक, किट्टस्वरूप, तमोमय, ऐसे आधिभौतिक साधन द्वारा बन्धन निवर्त्तक, विशुद्ध, ज्योतिर्म्मय वैसे आधिदैविक साध्य को प्राप्त करना सम्भव है ? लोक-दृष्टान्त उत्तर देगा–असम्भव। फिर कैसे आधिभौतिक को साधन माना गया ? उत्तर अपेक्षित है। अन्यथा सभी उपासनालक्षण लक्षणाभास हैं, असल्लक्षण हैं। किस सद्वादी की ऐसे असल्लक्षणों की ओर प्रवृत्ति होगी।

३–कर्म्मबन्धन–विमुक्त–उपास्य–प्राप्ति में कर्म्मबन्धन मुक्त्यर्थ आचरित तमः स्पृष्ट भौतिक-साधनों का वैयर्थ्य-विजातीयत्व, एवम् साध्यानुग्रह-लम्भनार्थ साधन साजात्य का आनुकूल्यवर्तनात्मक निदर्शन—

उपास्य ईशतत्त्व कर्म्मबन्धन से सर्वथा विमुक्त है। इस की उपासना से भी उपासक के लिए कर्म्म-बन्धन विमोक ही अभीप्सित है। जो कर्म्म अपने स्वाभाविक तमोभाव से ज्ञानमय ईश के लिए उपेक्षणीय है, उस कर्म्मसाधन से क्या कभी उसका अनुग्रह प्राप्त किया जासकता है ? क्या वह ब्राह्मण–जिस के लिए मद्य नितान्त हेय है, मद्य साधन द्वारा ही तुष्ट किया जासकता है ? बहुमूल्य रत्नाभूषणों का अधिकारी राजा क्या दो चार पणों से प्रसन्न किया जा सकता है ? एवमेव ज्ञानमूर्त्ति ईश क्या कर्म्ममय भूत साधन से तुष्ट किया जासकता है ? पूर्वकथनानुसार सजातीयों का ही पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव है, न कि विजातीयों का। ब्राह्मण–ब्राह्मण का सह भोजनादिव्यवहार सामयिक तथा लोक–वेद सम्मत है। ब्राह्मण, तथा अस्पृश्यशूद्र का सम्बन्ध अभिनिविष्ट की दृष्टि के अतिरिक्त सबकी दृष्टि में निन्द्य, एवं प्रत्यवाय का जनक ही माना गया है। निष्कर्षतः आधिदैविक–ज्ञानलक्षण उपास्य के साथ आधिदैविक का सम्बन्ध ही सम्भव है, एवं ऐसा सम्बन्ध ही तत्प्राप्ति का कारण माना जासकता है। साधन–साध्यों की सजातीयता जहां साध्यानुग्रह की प्रतिष्ठा है, वहां दोनों की विजातीयता साध्यप्राप्ति में महान् प्रतिबन्धक है। अतएव कहा जासकता है कि, पूर्वोक्त लक्षण–प्रकरण में जो उभयात्मक सिद्धान्त स्थापित किया गया है, वह सर्वथा विरुद्ध है, अनुभव से विपरीत है।

४–मनः–प्रत्ययानुभव–ज्ञानैकवेद्य उपास्य का इन्द्रिय–बहिर्विश्व–चक्षुः–कर्म्मानुबन्धि-भूतग्राम द्वारा अधिगमनायास, बुद्धि–विज्ञानगम्य ईशिता का तादृश-भूत साम्प्रदायिक प्रयत्नों से अनधिगमन, एवम् "न कर्म्मणा न प्रजया धनेन" उपनिषत्तत्त्व का विशकलन—

यथार्थ में वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। उभयात्मक सिद्धान्त को हमने अविरुद्ध न माना हो, यह बात नहीं है। हम जानते, साथ ही मानते भी हैं कि, आधिदैविक की प्राप्ति आधिभौतिक से सम्भव नहीं है। केवल

मनोराज्य से, प्रत्ययजगत् से, अनुभव से, ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला उपास्य ईशतत्त्व कभी इन्द्रियराज्य से बहिर्जगत से, चाक्षुषीदृष्टि से, कर्म्मात्मक भूत से प्राप्त नहीं किया जासकता। वस्तुगत्या इन्द्रियपथातीत ईश–तत्त्व एकमात्र बुद्धिगम्य ही है, विज्ञानगम्य ही है–**'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'**—**'तमेव विदित्त्वा–तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**–**'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'**–**'ज्ञानवान् मय प्रपद्यते'**-इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ–सर्वतो भावेन उसकी बुद्धिगम्यता का ही समर्थन कर रही हैं। वर्त्तमान में प्रचलित–**'खुदा को देखा कि, अक्ल से पहचाना'** किंवदन्ती भी यही सिद्ध कर रही है। राजमार्गस्थ–आपणों में रक्खे हुए पदार्थ जैसे पणों द्वारा क्रीत कर लिए जाते हैं, क्या वैसे पाषाणमय मन्दिरों में प्रतिष्ठित पाषाणमय विग्रहों की २–४ पणों की भेंट से ईशतत्त्व प्राप्त किया जासकता है ? अङ्गुलीनिर्देश से सर्वथा अतीत ईशतत्त्व विश्व की किसी भौतिक–विज्ञानशाला में नहीं मिल सकता। उसकी स्थिति है–एकमात्र आध्या–त्मिक विज्ञानशाला में, जहां भौतिकविज्ञान का प्रवेश सर्वथानिषिद्ध है। क्षणिक कर्म्म, क्षणिक भूतविज्ञान, मर्त्य भौतिकपदार्थों से अतीत अक्षण ज्ञानमूर्त्ति, नित्यविज्ञानघन, अमृत आधिदैविक उपास्य क्षणिकादि मर्त्य–भावों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जासकता–**'नामृतत्त्वस्यतु–आशास्ति वित्तेन,'**–**'न कर्म्मणा, न प्रजया धनेन'** *।

५–अधिकारि–योग्यतातारतम्यकारण–परिणामी आधिदैविकेन आधिभौतिक सम्बन्ध, सृष्टि के निर्म्माण का निमित्तोपादान–कारण ईश्वर एवम् आधिभौतिक माध्यमा-लम्बन का रहस्य—

प्रातिस्विक आधिदैविकस्वरूप सम्बन्ध से इन्द्रियप्रत्यक्ष विषयीभूत आधिभौतिक पदार्थ–समष्टि से पराःपरावत (अत्यन्तविदूर) रहने वाला केवल प्रत्येतव्य जो ज्ञानप्रधान उपास्य तत्त्व है, उसके उपभाव की प्राप्ति प्रत्ययाधारेणैव सम्भव है। इस प्रकार सिद्धान्ततः उसे आधिदैविक–साधनगम्य (ज्ञानसाधनगम्य) मानते हुए भी हमें कारणविशेष से इस आधिदैविक उपासना काण्ड के साथ आधिभौतिक का सम्बन्ध मानना पड़ता है। एवं वह कारण विशेष है–एकमात्र अधिकारीवर्ग की योग्यता का तारतम्य। मनुष्यमात्र एकहेलया वैज्ञानिक भावों को सरलता से समझ कर उन पर आरूढ होजाएँ, यह असम्भव है। **'ईश्वर विज्ञान साध्य है, बुद्धिगम्य है'** इस विज्ञान भाषा से तब तक आप सामान्य अधिकारियों का ध्यान (मन) आधिदैविक उपास्य की ओर आकर्षित नहीं कर सकते, जबतक कि, उन अधिकारियों के चिराभ्यस्त भौतिक विषयों में से किसी अनुरूप भौतिक द्रव्य को आप उनकी दृष्टि का विषय नहीं बना देते। एक वैज्ञानिक मनुष्य अपने ज्ञानबल से यह भलीभाँति जानता है, जानसकता है कि, ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है, वही उपादान कारण है। वही सृष्टिनिर्म्माणकर्त्ता है, वही सृष्टि है। वही बनाता है, वही बनता है। क्या एक अवैज्ञानिक लौकिक मनुष्य आपकी इस विज्ञानभाषा–मात्र से यह स्वीकार कर लेगा ? उसने तो अपने लोकव्यवहारों

---

* **यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।**
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

में यही जाना-सुना है कि, बनाने वाला दूसरा होता है, बनने वाला दूसरा होता है। कुम्भकार घट का मिमित्त कारण है, मिट्टी घट का उपादान कारण है। कुम्भकार ही घट बनता है, वही घट बनता है, जैसे यह व्यवहार उसकी सामान्य दृष्टि में असम्भवव है, तथैव ईश्वर की निमित्त, तथा उपादानकारणता का एकत्र समन्वय भी उसके लिए तबतक असम्भव ही बना रहता है, जब तक कि, आप उसके सम्मुख किसी वैसे लौकिक-आधिभौतिक दृष्टान्त नहीं रख देते, जिसमें निमित्तता, तीनों का एकत्र समन्वय होरहा है। इस प्रकार विज्ञानैकगम्य वैज्ञानिक भावों के बोध सौकर्य्य के लिए अधिकारी की सामान्य-योग्यता के अनुरोध से अवश्य ही आपको आधिभौतिक भावों को माध्यम बनाना पड़ेगा। बस यही स्थिति वस्तुत उपासना काण्ड के सम्बन्ध में घटित हुई है।

६-ईश्वररूप सम्पूर्ण जगत्, घट का निमित्त कारण कुलाल एवं शङ्काशङ्क समापक "ऊर्णनाभि" का दृष्टान्त—

आप सम्मुख बैठे हुए एक लौकिक अधिकारी को अपनी विज्ञान भाषा में समझा रहे हैं कि, 'सम्पूर्ण जगत् का निर्म्माण भी ईश्वर से ही हुआ है, एवं यह सम्पूर्णजगत् है भी ईश्वररूप ही'। जिज्ञासु बोल पड़ेगा-असम्भव। क्या कहीं कुम्भकार भी घट बन सकता है। हां, बना भर सकता है। निमित्तमात्र बन सकता है, उपादान नहीं। यदि बनाने वाला स्वयं ही बनने लगेगा, तो उस बनने वाले को बनाने वाला और कौन होगा! यदि ईश्वर ही जगत् बनता है, तो ईश्वर को जगत् बनाता कौन है? **'ईश्वर ने बनाया'** इस उत्तर में इसलिए तथ्य नहीं है कि, जो स्वयं बनने वाला है, वह बनाने वाला कैसे बन सकता है। उपादान कारण की कार्य्यरूपपरिणति तो सम्भव है। परन्तु, निमित्तकारण कार्य्य बन जाय, यह कैसे सम्भव है। एवमेव संचरक्रम में उपादान कारण से उत्पन्न कार्य्य तो प्रतिसंचरावस्था में उपादान कारण अवश्य बन सकता है। परन्तु किसी भी अवस्था में कार्य्य का निमित्त कारण बनना असम्भव है। घट (कार्य्य) ध्वंसावस्था में परिणत होकर कालान्तर में मिट्टी (उपादान कारण) बन सकता है। परन्तु, वह घट किसी भी अवस्था में कुम्भकार (निमित्त कारण) नहीं बन सकता। इस प्रकार आप किसी भी आधिदैविक दृष्टान्त के आधार केवल ज्ञान के आधार उसे यह बोध नहीं करा सकते कि, **'निमित्त भी वही है, एवं उपादान भी वही है'**। करना आपको यह पड़ेगा कि, आप आधिदैविक कारणता से मिलता जुलता आधिभौतिक उदाहरण उसके सम्मुख रक्खेंगे। अवश्य ही चिराभ्यस्त उस आधिभौतिक दृष्टान्त के माध्यम से (जो कि माध्यम वस्तुत: आधिदैविक के अनुरूप नहीं है) आपके लक्ष्यीभूत विज्ञानतत्त्व की ओर उसका ध्यान आकर्षित होजाएगा। आप उसे कहेंगे-देखो! मकडी को जाला बुनते तुमने कई बार देखा है। यह मानते हो कि, मकड़ी ही जाला बुनती है। मकड़ी कारण है, जाला कार्य्य है। पूछते हैं कि, क्या मकड़ी के जाले में सिवाय मकड़ी के अन्य किसी उपादानकारण की अपेक्षा है? । तुम कहोंगे-नहीं। हम कहदेंगे-हमारा लक्ष्य सिद्ध होगया। मकड़ी स्वयं ही जाला बनाती है, अतएव मकड़ी निमित्तकारण है। मकड़ी स्वयं ही अपने प्रत्यंश से जालरूप की जन्मपात्री बनती है, अतएव मकड़ी ही जाल का उपादानकारण भी है। मकड़ी का वह प्रत्यंश ही जालरूप में परिणत होता है, अतएव मकड़ी ही जालरूप कार्य्य भी है। इस प्रकार वही मकड़ी अपने शारीरिक अंश से जाल का निमित्त है, अंशात्मक भूतभागापेक्षया उपादान है, जालापेक्षया कार्य्य भी है। प्रत्येतव्य अर्थ है-ईश्वर की

कारणता, साधन है—आधिभौतिकी ऊर्णनाभि: (मकड़ी) । दृष्टि मकड़ी पर है मन ईश्वर की ओर है । स्वयं वेद भगवान् ने विस्पष्ट भाषा में इसी आधिकभौतिक-मध्यालम्बनत्त्व का निम्नलिखित रूप से समर्थन किया है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथापृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मुण्डकोपनिषत्

७-पुनः ऊर्णनाभि--पृथिवी--पुरुष दृष्टान्त द्वारा ईश्वर का सृष्टिरूपत्व--निरूपण, एवम् मुण्डकोपनिषद् की निरुक्ति—

श्रुति कहती है—जिसप्रकार मकड़ी (किसी अन्य निमित्त—उपादन कारण की अपेक्षा न रखती हुई स्वशरीर से ही) तन्तुजाल उत्पन्न करती है, एवं अन्त में उसे अपने आप में ही लीन भी कर लेती है। जिस प्रकार पृथिवी से अपने आपके मृण्मय भाग से ही (कारणान्तरानपेक्षया) औषधि—वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसप्रकार जीवित पुरुष (पुरुषशरीर के शारीर वैश्वानराग्नि किट्ट) से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी प्रकार (किसी भी कारणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ, क्षरभूत से सर्ववित्, एवं स्वाक्षरस्वरूप से सर्वशक्ति बने हुए (सर्वज्ञ सर्ववित्—) अक्षर ब्रह्म के (ज्ञानमय तप से—प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म—भूतज्योतिर्लक्षण नाम--रूप—यज्ञलक्षण अन्नात्मक) यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है * उर्णनाभि, पृथिवी, पुरुष, तीन दृष्टान्तों को माध्यम बनाने का विशेष प्रयोजन है। मकड़ी का दृष्टान्त—पृथिवी का दृष्टान्त—पुरुष का दृष्टान्त, तीनों ही यद्यपि उपादान कारणता से ही सम्बन्ध रखते हैं। तथापि तीनों के तात्त्विक स्वरूप में थोड़ा थोड़ा अन्तर है। मकड़ी के केन्द्र से जाल निकलता है, निकल कर निराधार आकाश प्रदेश में व्याप्त होजाता है। अन्त में उसी रूप से वह जाल केन्द्र में विलीन होजाता है। पृथिवी के सभी प्रदेशों से ओषधियाँ उत्पन्न होसकती है, होती हैं। साथ ही पार्थिवप्रदेश ही उनकी प्रतिष्ठा बनता है। जालवत् उसी रूप से इनका विलयन पृथिवी में नहीं होता। अपितु, इनक ध्वंस—रूप ही पृथिवी में लीन होता है। पुरुष-शरीर के सभी प्रदेशों से केश—लोम उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु पुरुष के शरीर में ही इनका विलयन नहीं होता। अपितु पार्थिवभाग में इनका विलयन होता है। इसप्रकार तीनों दृष्टान्तों की कार्य्य—कारणता में विभेद हैं।

*** यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयंतपः ।**
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप मन्नं च जायते ॥
प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञः—मुण्डकोपनिषत्

८–ऊर्णनाभि-तन्तु--पृथिवी--औषधि-पुरुष-केशलोम--पिता-पुत्र-मृद्-घट अङ्गार-विस्फुलिङ्ग-- निर्दिष्ट औपादानिक कार्य-कारण का विश्लेषण—

दूसरी दृष्टि से विभिन्नता की मीमांसा कीजिए। मकड़ी से उत्पन्न जाल का मकड़ी में विलयन होता भी है, नहीं भी होता। मकड़ी के केन्द्राधार पर जाल आलम्बित रहता है, मकड़ी से जाल पृथक् (व्योमप्रदेश में) रहता है। पृथिवी से उत्पन्न ओषधि–वनस्पतियाँ आलम्बित भी पृथिवी पर ही रहती है, रहती भी व्योमप्रदेश में ही हैं। परन्तु, इनका विलयन प्रत्येक दशा में होता पृथिवी में ही है। जालवत् इनका विलयन पृथिवी में कभी न भी हो, यह बात नहीं है। केश–लोम शरीर में आलम्बित भी हैं, नहीं भी हैं। काटकर उन्हें शरीर से पृथक् भी किया जासकता है। इनका कभी शरीर में विलयन भी नहीं होता। पृथक् चरत्व समान है। पितापुत्र का सम्बन्ध पृथक् ही है, मृद्घट का सम्बन्ध विभिन्न ही है, एवं अङ्गार–विस्फुलिङ्ग का सम्बन्ध अन्य ही है। अष्टादशविध कार्य्य--कारणसम्बन्धों में से एक औपादानिक कार्य्यकारण सम्बन्ध है। इस एक के–'**ऊर्णनाभि–तन्तु, पृथिवी–ओषधि, पुरुष–केशलोम, पितापुत्र, मृद्–घट, अङ्गार–विस्फुलिङ्ग**, ये ६ अवान्तर विभेद हैं। ६ ओं में उपादान कारणत्व धर्म्म यद्यपि समान हैं, तथापि ६ ओं में थोड़ी बहुत विशेषता है। पितापुत्रीय दृष्टान्त अंशतः पुरुष--केशलोमीय दृष्टान्त से, मृद्घटानुगत दृष्टान्त अंशतः पृथिवी--ओषध्यनुगत दृष्टान्त से, एवं अङ्गार विस्फुलङ्गानुगत दृष्टान्त अंशतः ऊर्णनाभि--तत्त्वानुगत दृष्टान्त से समतुलित हैं। अतएव तीन श्रौतदृष्टान्तों से शेष तीनों का भी संग्रह होजाता है। समस्त विश्व में उपादान कार्य्यकारणता के षड्विध दृष्टान्त ही उपलब्ध होते हैं। ६ ओं का तीन के ग्रहण से ग्रहण होरहा है। अतएव ब्रह्म के औपादानिक--कार्य्यकारण का विश्लेषण करते हुए श्रुतिने तीन ही दृष्टान्त उपस्थित करना पर्य्याप्त मान लिया है *।

९–उल्लिखित दृष्टान्तत्रयी--समन्वयार्थ–निरूपित स्थावर-जङ्गम-भूत विवर्तद्वयी एवम् जड़-स्वल्पचेतन--मानववर्ग--रूपेण त्रिविवर्त निरूपण—

विभिन्न दृष्टिकोण से दृष्टान्तत्रयी का समन्वय कीजिए। लौकिक मनुष्य की प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने स्थावर--जङ्गम, ये दो भूतविवर्त्त हैं। स्थावरविवर्त्त से विभिन्न जङ्गम विवर्त्त के ससंज्ञ स्वल्पज्ञानानुगत प्राणी, ससंज्ञ--पूर्णज्ञानानुगत प्राणी, ये दो थूल विवर्त्त हैं। इसप्रकार--जड़, स्वल्पचेतनवर्ग, मानववर्ग, ये तीन भूतविवर्त्त होजाते हैं। तीनों भौतिक विवर्त्तों के तीनदृष्टान्त श्रुति ने उद्धृत करते हुए यह सङ्केत किया है कि, तुम्हारे सामने तुम्हारे अनुरूप तीनों ही विवर्त्तों के ऐसे दृष्टान्त विद्यमान हैं, जिनके आधार पर तुम कार्य्य--कारण रहस्य का बोध प्राप्त कर सकते हो। पृथिव्योषधि--दृष्टान्त स्थावरविवर्त्त से सम्बन्ध रखता है, ऊर्णनाभि--तन्तु--दृष्टान्त का स्वल्पप्राणिवर्ग से सम्बन्ध है, एवं पुरुष--केशलोमात्मक दृष्टान्त का मानववर्ग से सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से भी तीन दृष्टान्तों का उद्धरण विशेष महत्त्व रखता है।

---

* सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले इन १८ कार्य्यकारण--भावों का वैज्ञानिक विवेचन--'ईश–विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के--'सम्बन्ध निरुक्ति' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

१०–अधिकारि-बोध-सौकर्य-दृष्ट्या दृष्टान्तत्रयी के प्रतिक्षण तत्तद् रूपेषु प्रचीयमान रूपान्तरों का सृष्टिजनकत्व स्वरूप-सङ्क्रमन—

अधिकारी-बोध सौकर्य्य की दृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षण-कौशल की अपेक्षा से दृष्टान्तत्रयी का समन्वय कीजिए। मकड़ी का सर्वत्र सुविधा से मिल सकना भी सम्भव नहीं, साथ ही मकड़ी से जालो-द्गम होता देखा जाना भी सुगम नहीं। अतएव यह दृष्टान्त थोड़ा जटिल बना रहजाता है। श्रुति कहती हैं, यदि ऊर्णनाभि-दृष्टान्त तुम्हारा सन्तोष नहीं कर सकता, तो थोड़ा श्रम करो, घर से बाहिर निकल कर खेतों पर चले जाओ, किसी उद्यान में जाने का कष्ट करो। देखोगे कि, पार्थिवमृद्भाग ही अपने वैश्वान-राग्निरूप से ओषधिवनस्पतियों का निर्म्माण करता है, वही अग्निलक्षण (चित्याग्निलक्षण) मृद्भाग जलसम्बन्ध से ओषधिवनस्पतिरूप में परिणत होता है। पृथिवी ही निमित्त है, यही उपादान है, यही अंशत कार्य्य भी है। बाहिर जाने का कष्ट भी न उठाना न चाहो, तो अपने शरीर पर ही दृष्टि डाललो। समा-धान हो जाएगा। केश-लोमों के निमित्त भी तुम्हीं हो, उपादान भी तुम्हीं हो, तुम्हारा ही शरीराग्नि केश-लोमरूप में परिणत भी हुआ है। तीनों में से किसी भी एक आधिभौतिक दृष्टान्त के आधार पर तुम यह मान लोगे कि, अवश्य ही–'ईश्वर ही जगत् बनाता है, वही अंशरूप से जगत् बनता भी है। वही कारण है, वही कार्य्य भी है। इसप्रकार भौतिक माध्यम से इसे आधिदैविक का परिज्ञान अवश्यमेव होजाएगा।

११–"घटो ऽस्ति, घटो नास्ति" इत्यात्मक भावाभावद्व्याश्रित-अस्ति-नास्ति-गर्भित-ब्रह्म-कर्म्म-निरूपक भावानुबन्धी शङ्का-समाधान—

आप किसी सामान्य अधिकारी को यह बोध करा देना चाहते हैं कि,—'**भाव**, **अभाव**, दोनों साथ रहते हैं। भाव 'सत्ता' है, 'अस्तित्व' है। अभाव 'नास्तित्व' है। 'है', और-'नहीं', दोनोंतत्त्व सहकारी हैं"। जिज्ञासु कहता हैं–'असम्भव। 'अस्ति'-'नास्ति' दोनों परस्परात्यन्त विरुद्ध है। इनका सहचरभाव सम्भव ही कैसे है। अस्ति (ब्रह्म), और 'नास्ति' (कर्म्म) का सम्बन्ध बतलाना कथमपि सङ्गत नहीं। '**घड़ा है**'-'**घड़ा नहीं है**' दोनों विरुद्धभावों का एकत्र समन्वय जैसे असम्भव है, एवमेव अस्तिलक्षण भावात्मक ब्रह्म, तथा नास्तिलक्षण अभावात्मक कर्म्म, दोनों का परस्परात्यन्तविरुद्ध होने के कारण दोनों का सहावस्थान एकान्ततः असम्भव है।" बतलाइए-जिज्ञासु की इस भावना का केवल आधिदैविक दृष्ट्या कैसे निराकरण करेंगे? अवश्य ही इसभावना के निराकरण के लिए आपको किसी वैसे भौतिक उदाहरण का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका वह बहिर्दृष्टिप्रिय जिज्ञासु साक्षात् कर सकता हो। अहोरात्रमय भौतिक जगत् की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए आप उससे प्रश्न कीजिए कि—'जिस दिन, और रात का तुम साक्षातकार कर रहे हो, जानते हो उनका स्वरूप? अवश्य ही तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि, दिन एक वस्तुतत्त्व है, ज्योतिर्लक्षण 'अस्ति' तत्त्व है। और रात अरे! रात तो प्रकाश का न होना है, अस्ति का अभाव है, 'नास्ति' है। देखो न, तभी तो प्रकाश के लिए जहाँ सत्तासिद्ध सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, तारक, अग्नि, दीपक, आदि सत्तासिद्ध पदार्थों की आवश्यकता होती है, वहाँ रात्रिरूप अन्धकार के लिए किसी भी सत्तासिद्ध पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अपितु, सत्तासिद्ध ज्योतिर्म्मय सूर्य्यादि पदार्थों का अभाव ही रात्रिरूप तमका अभिव्यञ्जक बनता है। क्या यह विश्वास करने योग्य है

कि, अभाव भी किसी का कारण बनता है ? कभी नहीं। जो स्वयं नहीं है, वह अन्य का उत्पादक कैसे बन सकता है। फिर वह अन्य (रात्रि) भी तो अभाव ही है। अभाव अभाव का कारण बने, यह कैसे, और कब सम्भव है। हां तो, अपनी प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर तुमने यह मान लिया कि, अहः सत्तात्मक भाव है, रात्रि अभाव है।

१२-अस्तिलक्षण ब्रह्म एवम् नास्तिलक्षण कर्म्म का परस्परात्यन्तविरुद्धकोटिमत्त्व होते हुए भी एकत्र समन्वय इष्टापत्ति, प्रकाशान्धकार का निरूपित-स्थितिमत्त्व-

तुम यह कहा करते हो न, कि-'रात दिन काम करना पड़ता है, फिर भी काम पूरा नहीं होपाता। क्यों ? दिन के साथ रात का सहचर सम्बन्ध मान लिया न। अभावात्मिका रात्रि का भावात्मक दिन के साथ तुम स्वयं सम्बन्ध मान रहे हो। बस, अपने इस प्रत्यक्षानुभूत भौतिक दृष्टान्त के आधार पर ही तुम्हें यह विश्वास कर लेना पड़ेगा कि, अस्तिलक्षण ब्रह्म, तथा नास्तिलक्षण कर्म्म, दोनों उसी प्रकार एकत्र समन्वित हैं, जैसे परस्परात्यन्तविरुद्ध होते हुए भी तमः-प्रकाश का एकत्र समन्वय हो रहा है। तुम प्रश्न कर सकते हो कि, रात-दिन साथ रहते होंगे, रहा करें। इसी आधार पर हम यह भी मान लेते हैं कि, ब्रह्म-कर्म्म भी साथ रहते होंगे। परन्तु-'एकत्र' साथरहना कैसे सम्भव माना जासकता है ? अहोरात्रलक्षण दृष्टान्त में भी 'एकत्र' व्यवस्था का अभाव है। * प्रातः से सायं तक अहः है, सायं से प्रातः पर्य्यन्त रात्रि है। अहः भिन्न समय में प्रतिष्ठित है, रात्रि भिन्न समय में। अहः काल में ही रात्रिका, रात्रिकाल में ही अहः का यदि समन्वय सम्बन्ध होता, तो अवश्यही हम 'अस्तिलक्षण ब्रह्म के गर्भ में नास्तिलक्षण कर्म्म, एवं कर्म्म के गर्भ में ब्रह्म है' यह सिद्धान्त मान लेते। इष्टापत्तिः। आप को यही तो मानना है। और अपने अहोरात्रदृष्टान्त के आधार पर ही। अहः का अर्थ आपने भी प्रकाश (उजेला) मान रक्खा है, रात्रिका अर्थ भी आप अन्धकार ही मान रहे हैं। अहःकाल जिसे आपने केवल ज्योतिर्म्मय मान रक्खा है, भी में रात्रिकालानुगत अन्धकार विद्यमान है। एवमेव रात्रिकालोपलक्षित अन्धकार के पर्व पर्व में भी प्रकाश अनुस्यूत है। प्रकाश का तारतम्य, अन्धकार का तारतम्य, यह प्रमाणित कर रहा है कि, अवश्यमेव प्रकाश के कण कण में तम, तथा तम के कण कण में काश व्याप्त है। प्रकाश मण्डल में प्रतिष्ठित रहनेवाली तृणच्छाया यह सिद्ध कर रही है कि, प्रकाशागमन से अन्धकार न तो नष्ट ही हुआ है, न देशान्तर-लोकान्तर में पलायित ही हुआ है, अपितु उसीकार घन प्रकाश से इस का अभिभवमात्र होगया है, जैसेकि-अहःकाल में चान्द्रमसी ज्योति का सौरी ज्योति से अभिभवमात्र हो जाता है। सामान्य अन्धकार, घन अन्धकार, निबिडान्धकार, का यह तारतम्य भी यही प्रमाणित कर रहा है कि, अन्धकार ने प्रकाश को हटाया-नष्ट नहीं किया है। यह अभिभवमात्र है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से दोनों का अन्तरान्तरी भाव सर्वात्मना सिद्ध होरहा है। एवं इसी भौतिक दृष्टान्त द्वारा विज्ञानानधिकारी सामान्य मनुष्य भी आधिदैविकतत्त्व के उस परोक्ष अन्तरान्तरीभाव के साथ मनोयोगलक्षणा उपासना का अनुगमन कर सकता है।

---

* अनुरागवती सन्ध्या दिवस स्तत् पुरस्सरः ।
अहो ! दैवगति श्चित्रा तथापि न समागमः ॥
—कश्चित

१३-गुण दोष युग्म का पृथक्त्व, समन्वय- प्रयुक्ताधिभौतिकसर्ग-स्वरूप-निष्पत्ति, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशभूतपञ्चक का विभिन्न-परस्पर-विरुद्ध-धर्म्मत्व एवम् पाञ्च-भौतिक शरीरों में इन की अविरोधवर्तना स्थिति, आहार्य्यारोप-प्रतिरूप-प्रतीकमूलक प्रत्ययालम्बन द्वारा परोक्ष-प्रत्यय-प्रवाहोत्पादन ही आधिभौतिक मध्यालम्बन का प्रयोजन एवं गो-गवय-उदाहरण का विप्रकृष्टतम के प्रति प्रत्ययाधानत्व —

भलाईगुण है बुराई दोष है। कहने को दोनों पृथक् पृथक् रहते हैं। परन्तु, तत्त्वत: दोनों के समन्वय से ही आधिभौतिकसर्ग की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। **'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** सिद्धान्त सर्वानुभूत है। अग्नि जल में परस्परात्यन्त शत्रुता मानी गई है। परन्तु, पाकस्वरूप निष्पत्ति उभयसमन्वय पर ही निर्भर है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पाँचों भूत परस्पर विभिन्नधर्म्मा हैं। परन्तु, पाँचों विभिधर्म्मा एक ही पाञ्चभौतिक शरीर में अभिन्नवत् प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसप्रकार अनेक दृष्टान्त ऐसे उपलब्ध होरहे हैं, जिनका लौकिक मनुष्यों को भी सम्यक् परिज्ञान है। इन्हीं भौतिकदृष्टान्तों के द्वारा उन का ध्यान आधिदैविकतत्त्व की ओर आकर्षित किया जासकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, यद्यपि अपने आधिदैविकधर्म्म के कारण उपास्य ईश्वर विज्ञानात्मिका आधिदैविकी मानसी दृष्टि से ही परिज्ञेय है, तथापि जो वैज्ञानिक-स्नायुतन्तुओं के विकासाभाव से, बिना किसी भूतधार के उसका परिज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उन मन्दाधिकारियों के उपकार के लिए ही वैज्ञानिकों ने परिज्ञेयतत्त्व धर्म्मों से मिलते जुलते संनिहित उस आधिभौतिक अर्थको मध्यालम्बन बनाना अनिवार्य्य मान लिया है, जिस अनुरूप आधिभौतिक अर्थ का उसे सम्यक् परिज्ञान है। ऐसे अनुरूप मध्यालम्बन पर चाक्षुषी दृष्टिका संयमबनाकर **आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलक** प्रत्ययालम्बनद्वारा परोक्षप्रत्यय प्रवाहउत्पन्न करा देना ही आधिभौतिक माध्यम का एकमात्र प्रयोजन माना है। ऐन्द्रियक ज्ञान 'प्रत्यय' कहलाया है। 'इदमित्थमेव' इत्याकारक निश्चित ज्ञान ही प्रत्यय है। जाङ्गल पशुविशेष **'गवय'** नाम से प्रसिद्ध है। विदूरस्थ-परोक्ष-गवय का ज्ञान कराना अपेक्षित है। गवयबोधशून्य व्यक्ति को कहा जाता है-'देखो! गोपशु तुम्हारा जाना पहिचाना है। ठीक इस से मिलता जुलता ही 'गवय पशु' है। अवश्य ही-**'गोसदृशो गवयः'** इस ज्ञान के आधार पर 'गवय' से मिलते जुलते गोपशु को स्वप्रत्यय का आलम्बन बनाकर तद्द्वारा (तत्संस्कारद्वारा) परोक्ष गवय पदार्थ की ओर प्रत्यय प्रवाह प्रक्रान्त होजाता है। इसप्रकार जैसे लौकिक अर्थों में अन्य के द्वारा अन्य के प्रति प्रत्यय का प्रवाह प्रक्रान्त हो जाता है, एवमेव पारलौकिक विप्रकृष्टतम पदार्थ के प्रति प्रत्यय प्रवाहित करने के लिए उससे मिलते जुलते आधिभौतिक पदार्थ को ऐन्द्रियक ज्ञान का आलम्बन बनाकर तद्द्वारा उस परोक्षतत्त्व के प्रति प्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है।

१४-उपासना शब्द-निरुक्ति का पुनरावर्तन, एवम् सन्दर्भ-सङ्क्रमन—

'उपासना' शब्द के निर्वचनार्थ से भी आधिभौतिक की संग्रहणीयता का ही समर्थन होरहा है। 'उप' का अर्थ है-'समीप', 'आसना' का अर्थ है-'बैठना'। उप का अर्थ उपास्य नहीं है, अपितु उपास्य के समीपस्थ तत्सदृशधर्म्मा भौतिकपदार्थ की ओर 'उप' शब्द सङ्केत कर रहा है। 'ईश्वर के समीप बैठना'

यह अर्थ उपासना–शब्द का नहीं है। अपितु, ईश्वर के, किंवा आधिदैविक अन्य जिस किसी भी उपास्य के 'उप' रहने वाले के (जोकि उप–उपास्यधर्म्मों के अनुरूपधर्म्मा होगा) समीप बैठना ही उपासना है। साक्षात् उपास्य 'उप' नहीं, उपास्य है। शब्द 'उपास्यासना' नहीं है, अपितु 'उपासना' है। जिस का स्पष्टरूप से निर्वचनार्थ यही होता है कि, 'उपास्य' के उप की आसना ही उपासना है। लौकिक दृष्टान्त भी उपासना के इसी उपभाव का समर्थन कर रहे हैं। लक्ष्य है प्रयाग, मनोयोग है प्रयाग पर, दृष्टि है ट्रेनपर। लक्ष्य है विद्या, साधन है–आधिभौतिक पुस्तक। जो महानुभाव विज्ञान के अधिकारी हैं, जो योगिप्रवर बिना किसी भौतिक आलम्बन के केवल योगदृष्ट्या तत्प्रति स्वज्ञान समानरूप से प्रवाहित रखने में समर्थ हैं, उन 'निर्गुणोपासकों' को तो ज्ञानयोगी ही कहा जाएगा। उपासक तो वही माना जाएगा, जो विशुद्ध आधिदैविक ज्ञान के माध्यम को अपनाने में असमर्थ होता हुआ तदनुरूप किसी आधिभौतिक को ही आलम्बन बनाएगा। ऐसी दशा मे हमें यह कहना पड़ता है कि–'आधिदैविकत्वात् विज्ञानद्वारा ही जानने योग्य होने पर भी सामान्य अधिकारी–वर्ग के उपकार के लिए सर्वथा विजातीय भी आधिभौतिक पदार्थ की मध्यस्थता अनिवार्य्य है। ज्ञानयोगदृष्ट्या भले ही यह कथन विपर्य्यस्त हो, परन्तु उपासनादृष्टया तो अविपर्य्यस्त (यथार्थ) ही माना जाएगा। इसी भौतिक दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए पूर्व प्रकरण में उपासना–लक्षण चतुर्दशी का समन्वय हुआ है, जिसकी सन्दर्भसङ्गति के लिए प्रकृत प्रकरण में भी सिंहावलोकनदृष्टया पुनरावर्त्तन करा दिया गया है।

१५–उपास्याधि दैविकम्प्रति मानस-प्रत्ययाधानहेतुकाधिभौतिकालम्बनस्यापेक्ष्यम्—

उपास्यआधिदैविक के प्रति मानस प्रत्यय प्रवाहित करने के लिए कोई न कोई आधिभौतिक आलम्बन अवश्यमेव अपेक्षित है। वही आधिभौतिक पदार्थ, जो कि आधिदैविक से अशतः मिलता गुलता है, आरम्भ में उपासक के मानसप्रत्यय का आलम्बन बनता है। मानस प्रत्ययालम्बनरूप आधिभौतिक पर दृष्टिसंयम का अभ्यास करते करते कालान्तर में अवश्य ही उपासक आधिदैविक लक्ष्य पर पहुँच जाता है, यह पूर्व परिच्छेद में स्पष्ट किया जाचुका है। और वहीं यह भी कहा जाचुका है कि, चाक्षुषीदृष्टि से संयमरखने वाली यह प्रत्ययालम्बनता **आहार्य्यारोपमूला, प्रतिकृतिमूला, प्रतीकमूला,** भेद से तीन प्रकार से सम्भव है। प्रस्तुत परिच्छेद में क्रमप्राप्त आहार्य्यरोपमूला प्रत्ययालम्बनता के ही कुछ एक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं।

१६–अन्यस्मिन्नन्य भावनात्मक आरोप के प्रातिभासिक-व्यावहारिक दो भेद, आद्वैतिकों द्वारा प्रातिभासिक का प्रत्याख्यान किन्तु, वैज्ञानिकों द्वारा इत्यत्रापि सत्यभावा-क्रान्ति परिकल्पन, एवम् वेदान्तनिष्ठा में "अध्यास नाम्ना एतत्" प्रसिद्धि—

अन्य को अन्य मानलेना, कुछ को कुछ समझना ही 'आरोप' कहलाया है। पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'द्वितीयलक्षणसमन्वय' नामक छठे परिच्छेद में '**भावना**' रूप से जिस प्रत्ययालम्बनता का स्पष्टीकरण हुआ है, उसी का यहाँ 'आरोप' रूप से स्पष्टी करण किया जारहा है। 'अन्यस्मिन्नन्यभावना' त्मक इस आरोप के **'प्रातिभासिक आरोप'-'व्यवहारिक आरोप'** भेद से दो विभाग माने जासकते हैं। प्रातिभासिक आरोप सर्वथा-

परमार्थ-दृष्ट्या तथा व्यवहार दृष्ट्या, उभयथा निष्प्रयोजन बनता हुआ उपेक्षणीय है, जिसे समझने के लिए 'मिथ्या आरोप' भी कहाजासकता है। कल्पित अद्वैतनिष्ठानुगामी इसे 'मिथ्या आरोप' ही कहा करते हैं। साथ ही 'रज्जु-सर्प'-'मृगमरीचिका' 'शुक्ति-रजत' आदि इस के उदाहरण बतलाया करते हैं। क्योंकि इन आरोपों से प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, एतावता ही इन्हें कहने भर के लिए मिथ्या माना जासकता है। परन्तु, वैज्ञानिक तत्त्वदृष्ट्या यह आरोप भी सत्यभाव से आक्रान्त ही मानने पड़ेंगे। उदाहरण के लिए मृगमरीचिका ही लक्ष्य बनाइए। प्रचण्ड आतप में बालुकामय भूक्षेत्र में मृग को जल प्रतीति होने लगती है। इसी प्रतीति को आधार बनाकर मृग वहाँ दौड़ता है। परन्तु, निराश होजाता है। क्या मृग सी यह प्रतीति सर्वथा असत्य है? कल्पिताद्वैतवादी कहेगा हाँ, किन्तु वैज्ञानिक कहेगा-नहीं। यह ठीक है कि, मृग का मरीचिका को पेय पानी समझलेना भ्रान्ति है। परन्तु, उस की सामान्यतः जलप्रतीति एकान्ततः भ्रान्त नहीं मानी जासकती। बालुकाप्रदेश में संलग्न सूर्य्यरश्मियों के कारण ही तो जलप्रतीति होती है। सूर्य्यरश्मियों के संघर्ष से उत्पन्न बाष्पावस्थापन्न जो अग्निधर्म्मा तत्त्वात्मक जल है, वही विज्ञानभाषा में 'मरीचि' कहलाया है, जिससे कि मारीच कश्यपभगवान् की स्वरूप निष्पत्ति हुई है। इसी सत्यभावनात्मक पानी के आधार पर मृग के सत्यपूत आत्मा ने पेय पानी का अनुमान लगाया है। पानी समझना आत्मधर्म्म है, यह तत्त्वतः सत्य है। पेय पानी समझना इन्द्रियधर्म्म है, यह भ्रान्त है। इस प्रकार प्रातिभासिक आरोप में भी अंशतः सत्यभावना अवश्यमेव विद्यमान रहती है। क्योंकि, व्यवहारतः वह अनुपयुक्त है, अतएव इसे उपेक्षणीयमात्र मान लिया गया है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, प्रातिभासिक आरोप को, विशुद्ध मिथ्या आरोप कहना समझने भर के लिए है। अस्तु, वक्तव्य यही है कि-अनुपयुक्त इन्द्रियभ्रान्तिमूलक आरोप ही प्रातिभासिक आरोप कहलाया है, वही वेदान्तनिष्ठा में-'**अध्यास**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१७-अध्यासात्मक मिथ्या आरोप से पृथक्कल्पित ''व्यावहारिक'' आरोप का "आहार्य्यारोप" संज्ञात्व, एवम् लक्ष्य सिद्ध्यनन्तर (गन्तव्यस्थानाधिगमानन्तर शकट वाहनादिवत्) तद्वैयर्थ्य—

मरीचिका में पेयतोयप्रतीति, रज्जु में सर्प प्रत्यय, स्थाणु में पुरुष भ्रान्ति, ये सब उक्त लक्षण अध्यासात्मक आरोप के ही उदाहरण हैं। इन अध्यासात्मक आरोपों से किसी भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, अपितु, यदा कदा अनिष्ट ही होजाता है। सर्पभ्रान्ति से उत्पन्न भय की चरम सीमा कभी कभी तो निधनावस्थातक का कारण बनती देखी गई है। अतएव अध्यासात्मक आरोप सर्वथा अनुपयुक्त, भ्रान्त, ही माना गया है। दूसरा है-व्यावहारिक आरोप। परमार्थ दृष्टि से यद्यपि यह आरोप भी अव्यवहार्य्य बनता हुआ अनुपयुक्त ही माना गया है, तथापि इस से लौकिक पारमार्थिक लक्ष्यों की ओर ध्यान आकर्षित होजाता है, अतएव इसे उपादेय मान लिया गया है। अध्यासात्मक मिथ्या आरोप से पृथक् समझाने के लिए इस व्यावहारिक आरोप का '**आहार्य्यारोप**' नामकरण कर दिया गया है। दूर करने योग्य, छाँटने योग्य भाव के लिए 'आहार्य्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। आरोप यद्यपि व्यावहारिक दृष्ट्या सत्य है। तथापि परमार्थ दृष्ट्या यह कल्पित ही है। परमार्थतः यह आरोप भी आहार्य्य ही बन रहा है। जिस परमार्थिक सत्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह आरोप किया जाता है, लक्ष्य-सिद्ध्यनन्तर उसे छोड़ ही देना पड़ता है। समान प्रत्यय

प्रवाहानन्तर प्रत्ययालम्बन भूताआहार्य्यारूपमूला प्रतिमा स्वतः एव लक्ष्य से हट जाती है। अतएव इसे आहार्य्यारोप कहना अन्वर्थ बन जाता है। गन्तव्यस्थान पर पहुँचे बाद शकटादि वाहन स्वत एव छूट जाते हैं।

१८–आहार्य्यारोपविधा का सनातन ग्राह्यत्व, व्यवहार-मर्यादा-रक्षणार्थ तदावश्यकत्व, एवम् कतिपय तत्सम्बन्धी उदाहरण—

जिस भौतिक पदार्थ में लक्ष्यसिद्धि के लिए यह आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके उन सामान्य-धर्म्मों का, जो आरोपित पदार्थ में, तथा लक्ष्यीभूत पदार्थ में समान हैं, तो ग्रहण कर लिया जाता है, शेष भेदक धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है। उपासना काण्ड में गृहीत यह आहार्य्यारोप–विधा कोई अपूर्व विधा है, यह बात नहीं है। अपितु, समस्त लौकिक व्यवहारों के सञ्चालन के लिए वृद्धव्यवहार परम्परा में यह विधा सदा से गृहीत है। आहार्य्यारोप के सम्बन्ध में यह भी कह दिया, जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि, जिस दिन इस विधा का परित्याग कर दिया जायगा, उस दिन हमारी व्यवहारमर्य्यादा का यथावत् सञ्चालित रहना ही असम्भव बन जाएगा। उदाहरण के लिए कतिपय दृष्टान्त ही पर्य्याप्त होंगे। दो वणिक् साझे में वस्त्र–व्यवसाय आरम्भ करते हैं। व्यवहारकुशल सहयोगी की व्यापार कुशलता से व्यवसाय चमक उठता है। एक तटस्थ व्यक्ति इसे अपना सहयोगी बनाने की कामना प्रकट करता है, तो दूसरा व्यक्ति कह देता है–'इस का साथ हम नहीं छोड़ सकते। ये तो हमारे दाहिने हाथ हैं'। सभी जानते हैं कि, सहयोगी दाहिना हाथ नहीं है। फिर भी मान लिया जाता है। यही आहार्य्यारोपविधा का प्रत्यक्ष लौकिक उदाहरण है। दो सहोदर भ्राताओं में परस्पर 'भुजा' व्यवहार होता देखा गया है। इस आहार्य्यारोप से होने वाला कर्म्म ही लक्ष्य है जिस प्रकार दाहिने हाथ के बिना कर्म्मकौशल असम्भव है, एवमेव–सहयोगी के सहयोग बिना कर्म्मसाफल्य असम्भव है। इस कर्म्माभेद सूचन के लिए ही सहयोगी में दक्षिण भुजारोप कर लिया जाता है। दृष्टि आरोपित भुजा पर है, मनोयोग भुजा द्वारा लक्ष्यीभूत कर्म्म पर है।

१९–प्रक्रान्त आहार्य्यारोपविधा का सर्वावस्थाऽभिन्न आत्मतत्व-निरूपक उदाहरणान्तर—

दूसरा उदाहरण सामने रखिए। समवयस्क तीन बच्चों में परस्पर गाढमैत्री होजाती है। आगे जाकर तीनों वयस्क बन जाते हैं। एक विदेश चला जाता है। दो स्वदेश में ही रह जाते हैं। कालान्तर में वह विदेश से लौट आता है। स्वदेशस्थ दोनों मित्रों में से एक मित्र उसे भूल जाता है। तब दूसरा कहता है–भूल गए, अरे! यह वही तो है, जो अपने साथ बचपन में खेला करते थे। हम कहते हैं–विदेश से लौटने वाला मित्र 'वही' कैसे है? वह तो बालक था, यह युवा है। उत्तर वही–आहार्य्यारोप। युवावस्था में बालावस्था का आरोप है। परन्तु ध्यान रहे, यह आरोप–है प्रत्येक दशा में आहार्य्य ही। 'वही है' परिज्ञान में भेद डालने वाली है–बाल–युवावस्थाएं। आरोप से इन दोनों भिन्न अवस्थाधर्म्मों का परित्याग कराया जाता है, सदा एकरस रहने वाले आत्मधर्म्म की ओर ध्यान आकर्षित कराया जाता है। अवस्थाएँ परस्पर भिन्न हैं, अवस्थाधार भूत आत्मतत्त्व दोनों अवस्थाओं में क्या, सभी अवस्थाओं में अभिन्न है।

२०–पत्राङ्कित क-च-ट-त-पादि वर्णों का मुखोच्चरित क-च-ट-त-पादि से असम्बन्ध, इन्द्रियातीत ध्वन्यात्मक शब्दों का व्योमान्तर्लय एवं लेखनी-प्रसूत वर्णों का विद्यमानत्व, तत्प्रमाणभूत विविधाकृतिमद् ब्राह्मी-खरोष्टी प्रभृति लिपियाँ, ततोऽपि एतन्मूलक असत्यालम्बनेनैव सत्यबोध-संस्तुति—

जिस लिपि से सम्पूर्ण विश्व के व्यवहार सञ्चालित होते हैं, उस का मूल भी यही आहार्य्यारोप ही बन रहा है। स्लेट–कागज–आदि पर लिखे जाने वाले क–च–ट–त–पादि आकारों के साथ वागिन्द्रिय से (मुख से) बोले जाने वाले क–च–ट–त–पादि वर्णाक्षर पदवाक्यादि का कोई सम्बन्ध नहीं है। वागिन्द्रिय से विनिःसृत ध्वन्यात्मिका शब्दराशि तत्क्षण स्वप्रभव व्योम प्रदेश में अन्तर्लीन होजाती है, उच्चारणानन्तर वह सर्वथा इन्द्रियातीत बन जाती है। परन्तु, देखते हैं–लेखिनी से लिखी गई शब्दराशि विद्यमान रहती है। दोनों के स्वरूप में कुछ भी तो समानता नहीं है, दोनों का कोई भी तो सम्बन्ध प्रतीत नहीं होरहा। क्या आप यह समझना, एवं कहना चाहते हैं कि–कागज पर लिखे गए शब्दाकार वागिन्द्रिय से विनिसृत शब्दों की प्रतिकृतियाँ (चित्र) हैं ? कभी नहीं। यदि लिपि–रूप शब्द उच्चारण शब्दों की प्रतिकृतियाँ होतीं, तो सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही 'लिपि' की सत्ता उपलब्ध होती। क्योंकि, वस्तु की प्रतिकृति सर्वत्र सब के लिए समानाकार ही होती देखी जाती है। उधर लिपियाँ प्रत्येक देश में भिन्न हैं, जबकि वागिन्द्रिय से उच्चरित शब्दों की ध्वनियाँ समतुलित हैं। ए–बी–सी–डी–आदि अक्षरों के उच्चारण में जहाँ समानता है, वहाँ लिपियाँ में प्रत्यक्षतः असमानता पाई जारही है। उच्चारण हम और वे समान करेंगे, परन्तु लिखते–समय हम लिखेंगे–'ए–बी–सी–डी–वे लिखेंगे-A. B. C. D.। कितना अन्तर है। ब्राह्मी–पाली–कर्णाटकी–तेलगू–गुजराती–उर्दू–आदि यच्चयावत् लिपियों का आकार प्रकर परस्पर में अत्यन्त विभिन्न उपलब्ध होरहा है। ऐसी स्थिति में कभी शब्दलिपियों को शब्दध्वनियों की प्रतिकृति नहीं माना जासकता इसके अतिरिक्त यदि शब्द की ध्वन्यात्मक प्रतिकृति ही होती, तो अनेक लिपियों का प्रादुर्भाव ही न होता। फिर तो एक ही लिपि से सब को समानरूप से बोध होजाता परन्तु देखते हैं–कण्ठ–ताल्वाद्यभिघातलक्षणा शब्दध्वनि के समान रहते भी को किसी की लिपि का तात्पर्य्य–बिना उस की शिक्षा के अवगत नहीं कर सकता। मानना पड़ेगा कि, लिपि को शब्द कहना केवल आहार्य्यारोप ही है। इस प्रकार 'लिपि' को अक्षर मानना यद्यपि परमार्थदृष्टया असत् है, तथापि बिना इस मान्यता के अक्षरबोध भी असम्भव है। लिप्याधारेणैव अस्मदादि का लक्ष्य लक्ष्यीभूत शब्दप्रपञ्च की ओर आकर्षित होता है। (केवल शब्दप्रपञ्चापेक्षया) मिथ्याभावात्मिका लिपि का माध्यम ही सत्यभावात्मक शब्द बोध का कारण है। असत्यालम्बन ही सत्यबोध का प्रवर्त्तक बन रहा है।

२१–भूगोल शिक्षण-प्रयुक्त गोलाकार (ग्लोब) असत् प्रतीक द्वारा नद-पर्वत-गह्वरादि सत् स्वरूपों का परिचय, इत्यत्र लक्ष्यसिद्धि प्रयोजन सापेक्ष "आहार्य्या" रोपण, एवम् इसी प्रकार पार्थिव प्रतिमादि का उपास्य-परक आहार्य्य-मूलक निदानत्व—

भुवनकोश के शिक्षक मिट्टी, अथवा तो स्थूल पट्ट के बने हुए एक गोलाकार को हाथ में लेकर पुरोऽवस्थित विद्यार्थियों को भूगोल से सम्बन्ध रखनेवाले तत्तत्–देश–पर्वत–नद–नदियों की शिक्षा दे रहे

हैं । गोलाकार वृत्त की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं— देखिए ! यह पृथिवी है, यह उत्तर ध्रुव है, यह दक्षिण ध्रुव विन्दु है । दोनों से बद्ध भूपिण्ड यों घूम रहा है, कहते हुए शिक्षक उस वृत्त को घुमा देते हैं । सभी विद्यार्थी जानते हैं कि, यह वृत्त न तो पृथिवी ही है, न धातु के बने कीलक उत्तर-दक्षिण-ध्रुव ही हैं । फिर भी उन्हें इस के माध्यम से उन प्राकृतिक तत्त्वों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ता है । देशान्तर, अक्षांश, मध्यरेखा, इक्वेटर, केन्सर, आदि सभी तो इस वृत्त में उपकल्पित हैं । तत्तत् चिन्हों की ओर अङ्गुलीनिर्देश करते हुए सभी तो-'यह वह है, यह वह है' इत्यादि रूप से व्यवहार कर रहे हैं । दृष्टि इस आधिभौतिक गोले पर है, मनोयोग उस प्राकृतिक स्थिति पर है, जिस का लक्ष्यसिद्धि के लिए इस गोले पर आहार्य्यारोप हुआ है । दोनों के भेदक धर्म्मों की निवृत्ति अपेक्षित है, अभेदक गोलाकार, परिभ्रमणादि धर्म्मों का ग्रहण है । इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर यदि भारतीय महर्षियोंने पाषाणादि प्रतिमाओं में उपास्य-ईश्वर का आरोप कर दिया, तो कौन-सा अनर्थ कर डाला । ऋषिप्रदिष्ट जिस आहार्य्यारोप का आज सम्पूर्ण विश्व अपने व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग कर रहा है, वही आज का शिक्षित समाज जब आहार्य्यारोपमूला प्रतिमोपासना पर जब आक्षेप-प्रत्याक्षेप करता दिखलाई देता है, तो हमें कहना पड़ता है कि, वास्तव में दुराग्रहमूलक अभिनिवेश सर्वथा अचिकित्स्य ही रोग है * विद्युत्-विज्ञान सर्वथा अमूर्त्त है, आधिदैविक सौरमण्डलावच्छिन्न तत्त्व है । अवश्य ही इस अमूर्त्त तत्त्व के परिज्ञान के लिए बड़े से बड़े वैज्ञानिक को भी मूर्त्त-आधिभौतिक विद्युद्विद्याप्रतिपादक ग्रन्थ को ही मध्यालम्बन बनाना पड़ता है । पीठावस्थित राजा तक पहुँचने के लिए द्वारादि का समाश्रय अनिवार्य्य है । तत्त्वतः असत्याश्रय ही सत्यप्राप्ति का प्रथम सोपान है । मृत्यु ही अमृत प्राप्ति का द्वार है, नानात्त्व समाश्रय ही एकत्वप्राप्ति का निमित्त है । अज्ञान ही ज्ञान का उत्तेजक बनता है । आहार्य्यारोपमूलक इसी औपासनिक शिक्षण-कौशल का भगवान् भर्तृहरि द्वारा निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

उपायः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ वाक्यपदी—

२२-नित्य शब्द-स्फोट के साथ विभिन्नाकार समन्विता लिपियों का असाङ्गत्य, एवम् आधुनिक अभिनिविष्टों के अनुरञ्जना सामर्थ्य का प्रतिपादन —

वर्णाक्षरपदवाक्यादि लक्षण-ध्वन्यात्मक अमूर्त्त शब्दप्रपञ्च की ओर प्रत्यय-प्रवाहित कर देने वाली विभिन्नाकाराकारिता-भूतात्मिका-मूर्त्त लिपियों के साथ शब्दतत्त्व का (जो व्याकरण शास्त्र में अपनी-अव्ययात्मिका स्फोट मर्य्यादा से नित्य माना गया है) कोई सम्बन्ध नहीं हैं । दोनों विभिन्न तत्त्व हैं । न यह लिपि शब्दप्रपञ्च की प्रतिकृति है, न प्रतीक (अवयव) ही । अतएव यह आहार्य्यारोपविधा दोनों

*** अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।**
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥
—भर्तृहरिः ।

विद्याओं से तीसरी अपूर्वविद्या ही मानी गई है । भर्तृहरि ने अपने सुप्रसिद्ध शतकग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है-**'न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजनचित्त माराधयेत्'** * वास्तविक जिज्ञासु का, ज्ञानपिपासु का सन्तोष अनेक दृष्टियों से किया जासकता है । परन्तु, जिन्हों ने अपना यह सिद्धान्त बना लिया हो कि-'कुछ भी कहिए, हम तो नहीं मानते' ऐसे अभिनिविष्टों का अनुरञ्जन तो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते * । भारतीय प्रतिमोपासना, जिस का एक आधार आहार्य्यरोप भी है-की उपादेयता यद्यपि आदर्शवत् स्पष्ट है । तथापि जिन का उपास्य एकमात्र दुराग्रह ही है, उन के लिए तो कोई भी समाधान सन्तोषजनक नहीं बन सकता । उन का तर्क, उन की शिक्षा उन का स्वाध्याय, उन का हवन तो उन्हें यही सिखा रहा है कि, 'अपना कोई सिद्धान्त नहीं, अन्यप्रदर्शित सिद्धान्तों को मानो नहीं'-यही उन का सिद्धान्त है । "हम न कुछ करते, न मानते, परन्तु तुम जो कुछ कहते-करते-तथा मानते हो, वह सब वेद विरुद्ध है" यही एक वह कल्पनास्त्र है, जिस के बल पर वे अपनी वेदभक्ति सुरक्षित रक्खे हुए हैं । अभ्युपगम वाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि, उन के परमप्रिय वेदशास्त्र में प्रतिरूप, प्रतीक, आरोप, तीनों में से किसी एक भी विद्या का उल्लेख नहीं हुआ है । यह मान लेने पर से ही क्या तीनों विद्याओं की अनुपयोगिता मान ली जाएगी ।

२३-लौकिक-वृद्ध-व्यवहार-सुगृहीताहार्य्यारोपविधाप्रामाण्यसङ्गमनार्थ श्रुति सम्मत निदर्शनोपक्रमप्रतिश्रुति एवं मुग्धास्तिक प्रजानिमित्तेन उदाहृत प्रामाण्यवाद की आवश्यकता—

क्या वे लौकिक वृद्धव्यवहार, जिन के माध्यम से हम लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं, अनुपयुक्त मान लिए जाएँगे ? * परम्परा तो यह प्रमाणित कर रही है कि, व्याकरण-कोश-उपमान-आप्तवाक्य-इन चारों की भाँति वृद्धव्यवहार शक्तिग्राहकों में सर्वमूर्द्धन्य माना गया है-'शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य' । अवश्य ही वे

---

(१) * **प्रसह्य मणि मुद्धरेन् मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् ।**
समुद्र मपि सन्तरेत प्रचलदुर्म्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्ग मपि हेलया शिरसि पुष्पवद् धारयेत् ।
न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजन चित्त माराधयेत् ॥
—भर्तृहरिः ।

(२) * **ज्ञानी समझत सहज में पर जिन नर अभिमान ।**
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नांहि सुजान ॥ कश्चित्—

---

(३) * **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च ।**
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—लघु० मं०, नागेशः

लौकिक भी विधाएँ, जिन का शास्त्र में खण्डन नहीं हुआ है, अपितु, परम्परया जिन का शास्त्र में भी यत्र-तत्र सङ्केत मिलता है, आधिदैविक लक्ष्य सिद्धि के लिए संगृहीत मानी जासकती हैं। अभिनिवेश की तो कोई चिकित्सा है नहीं। वैसे समाधान सर्वथा शक्य हैं। "जिन विधाओं, सिद्धान्तों का स्वयं वेदशास्त्र में प्रत्यक्षरूप से उल्लेख नहीं मिलता, केवल लौकिक व्यवहार के आधार पर ही उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जासकता"—यदि यही दुराग्रह है, तो—**'वक्तुरेव तत् जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्ध्यते'** इस आत्मरक्षा के नाते, साथ ही—**'शब्द प्रमाणका वयं, यदस्मान्–शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'–'लक्षणैक–चक्षुष्का वयम्'–'आप्तवाक्यं प्रमाणम्'** इत्यादि शास्त्रीय वृद्धव्यवहारों के आदेश पालन के अनुबन्ध से हमारा यह कर्त्तव्य होजाता है कि, जिस आहार्य्यारोप-विधा के आधार पर सर्वथा असत् भौतिक पदार्थ को सल्लक्षण आधिदैविक उपास्य की प्राप्ति का द्वार बतलाया जारहा है, उस विधा की प्रामाणिकता के लिए स्वयं वेदशास्त्र के ही कुछ एक उदाहरण उद्धृत कर दिए जाएँ। जब कि हम यह भी भलीभांति जानते हैं कि, वेदशास्त्र की वह प्रामाणिकता भी, जो उनके कल्पित सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ेगी, वे स्वीकार नहीं करेंगे। हाँ, जो मुग्ध आस्तिक प्रजा ऐसे मिथ्या-वेदभक्तों के पुरोचरना वाक्यों में फँस कर लक्ष्यच्युत हो जाते, और होरहे हैं, उनका अवश्य ही इस प्रामाण्यवाद से उद्बोधन होगा।

२४–कुशमुष्टि-जुहू-पभृत्-कृष्णमृगाजिन-हविः–शकटाज्य-पंङ्क्तिसंख्या–निवह में ब्रह्म-भोक्तृ–भोज्य–त्रयी-सव–कुलिश–विराड्यज्ञ–रूपितारोपलक्षणाऽऽहार्य्यारोपान्वयी करणक्षमा अन्यस्मिन्नन्यभावना का प्रतिपाद्यत्व स्वीकार —

वेदशास्त्र के ब्राह्मण भाग में कुशमुष्टि को ब्रह्मा माना गया है। जुहू नामक यज्ञ पात्र को यजमान, भोक्ता, माना गया है। उपभृत्–पात्र को यजमानशत्रु, भोग्य, माना गया है। कृष्णमृगचर्म्म को त्रयीवेद माना गया है। हविःपरिपूर्ण शकट को यज्ञ माना गया है। आज्य को वज्र माना गया है। १० संख्या को विराड्यज्ञ माना गया है। इस प्रकार एक, दो, दस ही स्थलों में नहीं, अपितु सहस्रों स्थलों में इस आहार्य्यारोप विधा के आधार पर अन्य में अन्य भावना का तत्तत्–कर्म्मेतिकर्त्तव्यताओं का निर्वाह किया गया है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

२५–ऋग्-यजुः-साम-त्रयीमूर्त्ति "वेन" तत्व निष्पन्ना "कुशमुष्टि", कुशाङ्गुलीयकधारण द्वारा ब्राह्मण की वेदवित्ताज्ञप्ति, एवम् दर्भरूप वेद का प्रजापतिश्मश्रुत्व—

(१)–दर्भमुष्टि को ब्रह्मा माना गया है, इस का एकमात्र निदान यही है कि, ब्रह्मा त्रैविद्य होता है। एवं जिस 'वेन' तत्त्व से दर्भ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, वह वेन ऋक्–यजुः–साम तीनों को अपने गर्भ में रखता हुआ त्रयीवेद मूर्त्ति है। अतएव कुशमुष्टि का दूसरा निदान 'वेद' भी माना गया है। पुराकाल में अधीत वेदविद्या के सङ्केत के लिए ऋषिकल्प ब्राह्मण कुश की अंगूठी पहिना करते थे, एवं इसे निदान के आधार पर 'वेद' कहा जाता था। यह कुशमुद्रा सूचित करती थी कि, यह ब्राह्मण वेदवित् है। वेद (दर्भमुष्टि) निदानेन प्रजापति (ब्रह्मा) भी बनाया जाता है। जहाँ योग्य ब्रह्मा अनुपलब्ध रहता है, वहाँ ब्रह्मासन पर दर्भमुष्टि रख दी जाती है। यही नैदानिक ब्रह्मा मान लिए जाते हैं। इसी आधार पर दर्भरूप वेद

प्रजापति के श्मश्रु मान लिए गए हैं। 'प्राजापत्यो वै वेदः (दर्भमुष्टिः)',-तै० ब्रा० ३-३-७-२- "प्रजापतेर्वा एतानिश्मश्रूणि, यद्वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।६।११) इत्यादि वचन इस प्रथम उदाहरण का समर्थन कर रहे हैं।

२६-पूर्णमासेष्टियज्ञविहित "स्रुगादापन" कर्म्म का निर्वचन एवं जुहूपभृत्-स्रुक्कल्पिता-हार्य्यारोपविधा का श्रुतिगिरा प्रामाण्य—

(२)-(३)-पूर्णमासेष्टि में एक 'स्रुगादापन कर्म्म' विहित है। होतृप्रवरणानन्तर वृत होता स्वस्त्ययनजप करता है। अनन्तर-'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापन निगदमन्त्र का पाठ करता है। होता के-'घृतपतीमध्वर्यो ! स्रुचमाष्यस्व' इस व्याहृति पाठ के समय अध्वर्य्यु वौष पूर्वक आहवनीयाग्नि में आज्याहुति देने के लिए जुहू-उपभृत् नामक पात्रों का स्वस्त में ग्रहण करता है। यही स्रुगादापन कर्म्म है। होता 'स्रुचमास्यस्व' इत्यादि रूप से प्रेरणा एक स्रुक् के लिए करता है, पद्धति में जुहू उपभृत् दोनों स्रुचों का ग्रहण विहित है। प्रश्न होता है कि, ऐसी दशा में होता दोनों के प्रेरणा न कर एकवचनान्त प्रयोग करता हुआ जुहू के लिए ही प्रेरणा क्यों करता है? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने कहा है कि-(आहार्य्यारोपविधामूलक निदान के आधार पर) जुहू यजमान है, भोक्ता है उपभृत् यजमान शत्रु है, भोग्य है। दोनों के लिए प्रेरणा करना यजमान को तच्छत्रु की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा करना है। भोक्ता को भोग्य के समकक्ष बनाना है। ऐसा न हो, इसलिए एकवचनान्त ही प्रेरणा होती है। स्पष्ट ही जुहू-पहभृत् जैसे अचेतन काष्ठ पात्रों को चेतन यजमान-तच्छत्रु मानना-आहार्य्यारोपमूलक निदान है, जैसाकि श्रुति कहती है—

(२)-"यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मारातीयति-स उपभृतमनु। य यद् द्वे इव ब्रूयात्, यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्य्यात्" (३)-"अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु। स यद् द्वे इव ब्रूयात्, अत्रऽआद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्य्यात्। तस्मादेकमिवैवाह (स्रुचमास्यस्वेति)"

(शत० १।५।३।२-स्रुगादापन ब्राह्मण)।

२७-वेदमन्त्रपूत पाषाण की भगवत्तत्वसायुज्यक्लृप्ति, तदुपहास का ईश्वरोपहास-निदानत्व, प्रतिमार्च्चन प्रतीपाचारी श्रुतिनिष्ठों से प्रश्न—

"मूर्त्ति पाषाणमयी है, कल्पित है, मिथ्या है, जड़ है, यह सभी कुछ ठीक है। परन्तु, वेदोक्त पद्धति से वेदमन्त्रों द्वारा जब इसमें प्राणप्रतिष्ठा करते हुए उपास्य भगवत्तत्त्व का आरोप कर दिया जाता है, तो इसका उपास्य से अभेद होजाता है। उस दशा में जड़ मूर्त्ति का उपहास करना उपास्य ईश्वर का उपहास करना है" भावनात्मक यह सिद्धान्त भी उक्त श्रुति से ही प्रमाणित हो रहा है। जुहू-उपभृत् काष्ठमय हैं, अचेतन हैं। परन्तु जब इनमें क्रमशः यजमान, और तच्छत्रु का आरोप कर दिया जाता है, तो ये तदभिन्न बन जाते हैं। श्रुति कहती है कि, जुहू-उपभृत् दोनों को उठाने के लिए मन्त्र बोलना यजमान, और तच्छत्रु

में, भोक्ता, और भोग्य में प्रतिस्पर्द्धा करानी है। मूर्त्तिपूजन के विरोधी उन वेदभक्तों से हम पूछते हैं कि, जुहू के साथ चेतन यजमान का क्या सम्बन्ध? काष्ठमय उपभृत् के साथ चेतन यजमान शत्रु का क्या मेल? जुहू उपभृत् के सहोच्चारण से यजमान, तच्छत्रु में प्रतिस्पर्द्धा कैसी? 'त एव वेदभक्ताः प्रतारणीयाः'।

२७–यज्ञिय कृष्णमृगाजिन की शुक्ल-कृष्ण-बभ्रु-रोमावली का ऋक्-साम-यजुस्त्रयी-वेदत्व, एवं द्युलोकोत्क्रान्त यज्ञ का कृष्णमृगाजिन रूपेण निरूपण—

(४)—पूर्णमासेष्टि में पुरोडाश (परिपक्वहवि) के लिए हविर्द्रव्य (अपरिपक्व, किन्तु, परिष्कृत कूटा–फटका हुआ धान) सम्पन्न किया जाता है। काले मृग चर्म्म पर उलूखल में मुसल से धान कूट कर उसका वितुषी करण होता है। कृष्णमृगचर्म्म क्यों बिछाया जाता है? इसकी उपपत्ति बतलाते हुए श्रुति ने कहा है कि, हविद्र्व्य यज्ञांश होने से यज्ञरूप है। यदि हविर्भाग अयज्ञिय भूतप्रदेश पर गिर जाएगा, तो यज्ञांश अयज्ञिय बन जाएगा। कृष्णमृगचर्म्म यज्ञिय है। द्युलोक से उत्क्रान्त यज्ञ कृष्णमृग बन कर भूपिण्ड पर विचरने लगा था। देवताओं ने उसकी त्वचा उखाड़ली। इस कृष्णमृगचर्म्म में शुक्ल रोम ऋक् है, कृष्णरोम साम है, बभ्रु रोम यजुः हैं। इस प्रकार यह चर्म्म त्रयीवेद है। त्रयीवेद ही यज्ञ है। यज्ञ (हवि) कूटने पर उछट कर यज्ञ पर (कृष्णमृगचर्म्म) ही प्रतिष्ठित रहे, अयज्ञिय न बने, इसीलिए—'कृष्णाजिनमादत्ते'। इसप्रकार कृष्णमृगचर्म्म में त्रयीवेद, तद्रूप यज्ञ का आरोप यह प्रमाणित कर रहा है कि, आहार्य्यारोप अवश्य ही वेदोक्त विद्या है। निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति इसी चतुर्थ उदाहरण का समर्थन कर रही है—

४–"अथ कृष्णाजिनमादत्ते–यज्ञस्यैव सर्वत्त्वाय। यज्ञो ह देवेभ्यो ऽपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः। तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि, तान्यृचां च साम्नां च रूपम्। यान्येव बभ्रूणि, तानि यजुषां रूपम्। सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। अस्कन्नं हविरसदिति। यज्ञे यज्ञः प्रतिष्ठात्" (शत० १।१।४।२,३,)।

२८–एतदीय समर्थन में उदाहरणान्तरों का उद्धरण—

शेष उदाहरण भी इसी विधा का समर्थन कर रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में केवल तद्वचन उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा—

१—"आदित्यास्त्वगसि"——यजुः सं०

२—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः" "

३—"दिवस्कम्भनीरसि" "

५-"यज्ञो वा अनः। यज्ञो हिवा ऽअनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति।
यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा ऽइति। तस्मादनस एव गृह्णीयात्" ॥-शत० १।१।२।७।
६-"वज्रो वाऽआज्यम्। तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रारक्षांस्यवबाधते" ।—शत० ३।६।४।१५।
७-"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च,
शम्यां च कृष्णाजिनं च, उलूखलमुसले, दृषदुपले ' तद्दश। दशाक्षरा वै विराट्।
विराड्वै यज्ञः। तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति" ॥ (शत० १।१।१।२२)।

२६-दर्भ में भूत्वक्त्व, सौररश्मियों में सवितृपाणित्व का आहार्य्यारोपविधा से सम्भवत्व, सत्तासिद्ध-भातिसिद्ध-उभयसिद्ध-पदार्थ एवम् आहार्य्यारोपविधा का दार्शनिकगिरा में "भातिसिद्ध" नाम्ना निरूपण—

इसी प्रकार दर्भास्तरण को पृथिवी की त्वचा मानना, सौररश्मियों को सविता के सुनहरी हाथ मानना शम्यापात्री को द्युलोक की स्कम्भनी मानना, इत्यादि मन्त्रभागोक्त उदाहरण भी इसी आहार्य्यारोपविधा का समर्थन कर रहे हैं। इसी लोक-वेद व्यवहारसिद्ध आहार्य्यारोप-विधा के आधार पर हमारा उपासनाकाण्ड प्रतिष्ठित है। उपास्य देव की जितनी भी काल्पनिक धातुमयी, किंवा पाषाणमयी, प्रतिमा बनाई जाती हैं, जितने भी चित्र कल्पित हुए हैं, उन सबका आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता से ही सम्बन्ध है। भेदकधर्म्मपरित्यागपूर्वक अभिन्नधर्म्मानुगमनात्मक समानप्रत्यय प्रवाह ही इस उपासना का प्रधान लक्ष्य है। 'है नहीं, किन्तु समझिए' यही आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता का निष्कर्ष है, जिसे दार्शनिक लोक 'भातिसिद्ध' कहा करते हैं। जिनकी सत्ता भी है, प्रतीति भी होरही है, प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य-चन्द्र-पुरुष-पाषाणादि वे सब **'उभयसिद्ध'** कहलाए हैं। जिनकी सत्ता अवश्य है, किन्तु इन्द्रिय द्वारा जिनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, वे परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, आदितत्त्व **'सत्तासिद्ध'** पदार्थ हैं। जिनकी सत्ता नहीं है, अपितु जिनके द्वारा व्यवहारमार्ग का सञ्चालन होरहा है, वे दिक्, काल, संख्या, अपरत्त्व, आदि **'भातिसिद्ध'** पदार्थ हैं। एक रुपय्ये के १६ आने, ४० सेर का मन, ये सब भी भातिसिद्ध ही हैं। प्रतिमा ईश्वर है नहीं, मानली गई है। यही आहार्य्यारोपविधा की भातिसिद्धत्त्व है। एवं यही इस प्रथमविद्या का सोदाहरण संक्षिप्त विश्लेषण है।

--१--

प्रतिकृतिमूला प्रत्ययालम्बनता और-उपासना

१-प्रतिस्वरूपमीमांसा

३०-प्रतिमार्च्चन की वैज्ञानिकता, वैदिकता एवम् ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का ईश्वर-देव-भूतपरत्व निरूपण—

आहार्य्यारोपविधा से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्ययालम्बनता, तन्मूला उपासना का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया गया। इसी प्रत्ययालम्बनता के सम्बन्ध **'प्रतिरूपविधा'** से भी काम लिया जासकता है, जिसका भारतीय 'प्रतिमापूजन' से विशेष सम्बन्ध माना गया है। भक्तिपरीक्षा-पूर्वखण्ड के सर्वान्त के **'प्रतिमापूजन, और उपासना'** नामक प्रकरण में प्रतिमापूजन की वैदिकता पर पूर्ण प्रकाश डाला जाचुका है। अतः इस सम्बन्ध में पिष्टपेषण अनावश्यक है। पथमविधा का उपसहार करते हुए यह कहा गया है कि, 'प्रतिमा ईश्वर है नहीं, मानली गई है, यही आहार्य्यारोपविधा का भातिसिद्धत्त्व है। इस सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ईश्वरीय विवर्त्त 'आत्मा, देव, भूत' भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। महामाया-वच्छिन्न, सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) देव-भूत प्रपञ्च को अपने गर्भ में रखनेवाला मायीतत्त्व 'आत्मा' है, यही दार्शनिक परिभाषा का सगुणब्रह्म, किंवा 'ईश्वर' है। मायी आत्मेश्वर लक्षण पुरुष (जिसे अक्षर-क्षरगर्भित मनोमय ज्ञानैकसार अव्ययपुरुष भी कहा जासकता है) के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणात्मक प्राकृतिक भाव दूसरा देवविवर्त्त है। प्रत्यक्ष दृष्ट पञ्चभौतिक विवर्त्त भूतविवर्त्त है। भूतविवर्त्त क्षरात्मक विकृतिभाव है, देवविवर्त्त अक्षरात्मक प्रकृतिभाव है, एवं आत्मविवर्त्त अव्ययात्मक पुरुषभाव है। सर्वव्यापक पुरुषभाव (ईश्वराव्यय) केवल ज्ञानगम्य है। क्योंकि बिना माध्यम के उपासना सम्भव नहीं, एवं कोई भी माध्यम उस व्यापक की प्रतिमा नहीं। सब उसी की प्रतिमा है यह ज्ञान क्षेत्र है, न कि उपासना क्षेत्र। उपासना उसकी नहीं होती, उसके अवयवभूत देवताओं की ही होती है, जिनके प्रतिरूप हमें उपलब्ध होरहे हैं। तीसरा भूत-विवर्त्त केवल कर्म्मानुगत है। तत्त्वतः-ईश्वर-का ज्ञानयोग से, देवता का भक्तियोग से, एवं भूत का कर्म्मयोग सम्बन्ध सिद्ध होजाता है।

३१-उपासना सम्बन्धिता "प्रतिमाविधा" के प्राकृतिक-कृत्रिम दो विवर्त्त, रामकृष्ण-व्यासादि की कृत्रिम प्रतिमाएँ एवं प्रकृत्या विनिर्म्मित प्राकृतिक प्रतिमाओं का वैदिक-उपासना-माध्यमत्व-स्वीकार—

उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपविधा का तात्पर्य्य है 'प्रतिमाविधा'। इस प्रतिमा-विधा के प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। मानवीय मन की कल्पना से बनाए गए उपास्य प्रतिरूप कृत्रिम प्रतिमा हैं एवं स्वतः सिद्ध उपास्य प्रतिरूप प्राकृतिक प्रतिमा हैं। राम-कृष्ण-व्यास-परा शारदि का स्वरूप हमने कभी नहीं देखा था। परन्तु केवल उनके शब्दज्ञान के आधार पर उनकी प्रतिमाएँ, चित्र बना दिए गए हैं। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो० द० १।९।) के अनुसार सुनी सुनाई बातों के आधार पर, अवतारपुरुषों के तथाविध चरित्र श्रवण के आधार पर उनकी प्रतिमाएँ निर्म्मित्त होजाती हैं। वर्त्तमान उपासना काण्ड में--जिसे भक्तियोग कहना समीचीन होगा--इसी कृत्रिम प्रतिमाभाव--मर्य्यादा अधिकांश में में उच्छिन्न ही होचला है। जिन देवप्रतिमाओं का मानवीय कल्पना से

कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु जो प्रकृत्या विनिर्म्मित हैं, वे ही प्राकृतिक प्रतिमा हैं। एवं वैदिक उपासनाकाण्ड में इन्हीं प्रतिमाओं का माध्यमरूप से संग्रह हुआ है, जैसाकि अनुपद में ही सोदाहरण स्पष्ट किया जाने वाला है।

३२–आदर्श और प्रतिकृति, प्रतिकृति का शब्दान्तर प्रतिरूप, गुरु-माता-पितादि के चित्र-दर्शन की तद्गत प्रत्ययप्रवाहिता, एवम् उपासनार्थ प्रतिरूप प्रत्ययालम्बन का औचित्य—

वास्तविक मूल पदार्थ 'आदर्श' कहलाया है, इसके तदनुरूप तूलपदार्थ को 'प्रतिकृति' कहा जाता है। पिता मूलस्थानीय आदर्श है, तो–'पिता वै जायते पुत्रः' के अनुसार तदनुरूप तूलस्थानीयपुत्र प्रतिकृति है। चित्र भी उस चित्र के आधार भूत आदर्श की प्रतिकृति ही मानी जाएगी। इसी 'प्रतिकृति' के लिए प्रकृत में 'प्रतिरूप' शब्द से ग्रहण किया गया है। प्रतिरूप को दृष्टिद्वारा प्रत्यय का आलम्बन बनाते हुए जिसका यह प्रतिरूप है, परोक्ष भी उसकी ओर हमारा मनोयोग होजाता है। गुरु, पिता, माता, ज्येष्ठभ्राता, आदि के चित्रों के साथ ज्यों ही दृष्टि सम्बन्ध होता है, त्यों ही प्रत्यय उस ओर प्रवाहित होजाता है। कल्पित चित्र इसप्रकार वास्तविक तत्त्व की ओर मनोयोग का कारण बन जाता है। 'प्रतिगतं–प्रतिकृतंवा–रूपम्'–'प्रतिगतंरूपमस्य' ही प्रतिरूपशब्द के निर्वचन हैं। जिन के उदाहरण यत्र तत्र उद्धृत हैं *। गवय--पशु भी इसी आंशिक प्रतिरूपता के कारण गोप्रत्यय का जनक बनता देखा गया है। सुप्रसिद्ध उत्तररामचरित--नाटक में कवि ने इसी प्रतिरूपविधा के आधार पर जगन्माता सीता की स्मृति पूर्वचरित्रों की ओर आकर्षित है। लोक में भी व्यवहारकाण्ड में पदे पदे इस प्रतिरूप विधा का आश्रय लिया गया है। इसी लोकसिद्ध प्रतिरूपविधा के आधार उपासनाकाण्ड में भी प्रतिरूपों को प्रत्ययलम्बनतारूप से संग्राह्य मान लिया गया है। कृत्रिम प्रतिरूप विधाओं के उदाहरण देना इसलिए अनावश्यक है कि, वर्त्तमान में यही विधा अधिकांश से व्यवहार्य्य बन रही है। प्रकृत में तो प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध रखने वाले उन प्राकृतिक उदाहरणों का ही स्पष्टीकरण आवश्यक है, जिनके अपरिज्ञान से प्रतिरूपविधात्मक (प्रतिमा–चित्र–विधात्मक) भारतीय उपासनाकाण्ड को अवैदिक बतलाने का दुःसाहस किया जारहा है।

३३–ऋक्-यजुः-सामाथर्व-संहिताओं में से केवल ऋक-संहितानिरूपित सम्राट् "इन्द्र" प्रतिमा का वेदोक्ति द्वारा निरूपण—

पहिले मूलसंहिता को ही लीजिए। प्रतिरूप का जो अर्थ ऊपर किया गया है, उसके सम्बन्ध में उपलब्ध ऋक्–साम–अथर्व, चारों संहिताओं में से केवल ऋक्संहिता में एक मन्त्र उद्धृत हुआ है।

---

* भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान्मे खलुभक्तानां सर्वेषांप्रतिरूपधृक्॥ श्रीमद्भागवत७।१०।२१

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौलब्धः प्रति रितिस्थिते।
विचित्रवीर्य्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुःशुभे॥ महाभारत १।१०२।

वैदिकयुग इन्द्रप्रधानयुग माना गया है। क्योंकि, वैदिकयुग से सम्बन्ध रखनेवाली भौमत्रिलोकी-व्यवस्था में स्वर्गाधिपति इन्द्र ही त्रैलोक्य के प्रधान अधिष्ठाता थे। तत्कालीन महापुरुषों में इन्द्र का स्थान प्रमुख था। अतएव इन्द्र का पूजन स्वभाविक था। भारतीयप्रजा अपने सम्राट इन्द्र की प्रतिमाएँ बनाकर इसी प्रतिरूप विधा से उन की पूजा किया करती थी। घर घर इन्द्रपूजन प्रचलित था। निम्नलिखित ऋङ् मन्त्र से देवेन्द्र के इसी प्रतिरूप भाव का स्पष्टीकरण होरहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

ऋसं० ६।४७।१८।

३४—वेदोक्त ब्रह्म-विष्णिवन्द्राग्नि सोम-देवाधारेणैव तत्तत्पौराणिक देवताओं की प्रतिष्ठा, भौतिकप्रपञ्च-प्रभव-प्रतिष्ठा परायण महेश्वर, वैदिकोपासना के मुख्य-आधार भगवान् रुद्र एवं तत्त्रिनेत्र-स्वरूप-व्याख्योपबृंहण—

यह एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन वेदोक्त पाँच देवताओं के आधार पर ही पौराणिक ब्रह्म, विष्णु, शिव, इन तीनों देवताओं की प्रतिष्ठा हुई है। स्वायम्भुव ब्रह्म का एक स्वतन्त्र विभाग है, पारमेष्ठय विष्णु का एक स्वतन्त्र विभाग हैं। एवं सौर इन्द्र, चान्द्रसोम, पार्थिव अग्नि, इन तीनों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही महेश्वर है। —**'मायां तुप्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** के अनुसार ये मायीमहेश्वर ही भौतिकप्रपञ्च के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बनते हुए भूतपति, भूतानाथ, भूतेश, भूतभावन, आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, ये तीन ज्योतियाँ ही इनके तीन नेत्र हैं। अग्नीषोमात्मक विश्व की रक्षा अग्नि–सोमरूप दो नेत्रों के खुले रहने तक ही सम्भव है। तभी तक, जबतक कि अग्नीषोमात्मक यज्ञ का इन्द्र के साथ सम्बन्ध है, यह तत्त्व संसार के लिए 'शिव' है, कल्याणकर है, रक्षक है। जिस दिन प्रतिसञ्चर क्रम से अग्नि–सोम का यज्ञात्मक अन्तर्य्याम सम्बन्ध उच्छिन्न होजाता है, विशुद्ध सौर इन्द्र की प्रधानता रहजाती है, उसी दिन शिवतत्त्वरुद्ररूप में परिणत होता हुआ संहारक बन जाता है। तृतीय सूर्य्यनेत्र ही अपने एकाकी यज्ञसम्बन्ध वञ्चित रूप से विश्व विनष्टि का कारण बन जाता है। यही रुद्र, तथा इन्द्राग्निसोम समष्टिरूपशिव वैदिक उपासनामार्ग का मुख्य आधार है। उपासनारुद्र, किंवा शिव की ही होती है। अवतार विष्णु का ही होता है, जैसाकि भक्तियोग–परीक्षा पूर्वखण्ड में भी स्पष्ट किया जाचुका है। विश्वामित्र, काशीराज प्रतर्द्दन आदि उपासकों ने इसी रुद्रात्मक इन्द्र की उपासना से अभीष्ट फल प्राप्त किया था। **'आदित्य मुद्गीथमुपासीत'**. इत्यादि–रूप से श्रु ति भी इसी आदित्येन्द्रोपासना का, जिसे पुराणभाषा में हम 'शिवोपासन'–कहेंगे–समर्थक हुआ है। देवविभूति के उपासक भारतीयों के अतिरिक्त भौम असुरों की उपासना का भी आधार यही शिवतत्त्व रहा हैं। उक्त मन्त्रद्वाराउपासनाधारभूत उस इन्द्रतत्त्व का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जो अपनी योग–माया से जीवसृष्टि का महामाया से विश्वस्वरूप का सञ्चालक बना हुआ है।

३५-इन्द्र का अधिभूताधिदैवताध्यात्म स्वरूप, "त्वष्टा" "मघवा" नामादित्यप्राणविशेष स्वरूप का बृंहण—

मन्त्र ने आधिदैविक, अध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों इन्द्रों का संग्रह किया है। आधिदैविक-सौरप्राणेन्द्र के चतुर्द्दश (१४) विवर्त्तों में से एक विवर्त्त रूप का अधिष्ठाता माना गया है। आकाररूप, वर्णरूप, भेद से रूपविवर्त्त दो भागों में विभक्त है। आकार रूप का अधिष्ठाता 'त्वष्टा' नामक आदित्य-प्राणविशेष है। शुक्ल-नील-हरित-लोहित-आदि वर्णरूपों का अधिष्ठाता 'मघवा' नामक आदित्यप्राण विशेष है। इसप्रकार अपने त्वाष्टा, तथा मघवा-रूपों से सौरप्राण (जिसे-'य इन्धे-तस्मादिद्धः तं वा इद्धं सन्तमिन्द्रमित्या चक्षते परोक्षम्' निर्वचनानुसार 'इन्द्र' कहा जाता है) ही आकार, तथा वर्णरूपों का अधिष्ठाता बन रहा है। वर्त्तमान विज्ञान ने भी कम से कम यह तो जान और मान ही लिया है कि, सौररश्मियाँ ही सातवर्णों (रङ्गों) की प्रवर्त्तिका है।

३६-विश्व के यच्चयावत् स्वरूपों के प्रतिनिधि इन्द्र एवं पदार्थों की विभिन्न प्रतीति का आधार आकार-वर्ण-गत रूप—

इन्द्रतत्त्व के इसी आधिदैविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए महर्षि गर्ग ने कहा है कि, यह इन्द्रदेवता (सौरत्वष्टा, एवं मघवेन्द्र) ही यच्चयावत् रूपों के (आकाररूपों एवं वर्णरूपों) के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र ही स्वरूपों से सर्वदेवतारूपों में परिणत होरहे हैं। इसी आधार पर-'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'-'इन्द्रोरूपाणि कनिक्रदच्चरत्'-'इन्द्रः सर्वादेवताः' इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। यदि इन्द्रद्वारा यह रूप-विभाजन न होता तो किसी भी पदार्थ की 'अयं घटः- अयं पटः- इत्याकारक विभेदप्रतीति असम्भव थी। आकाररूप, वर्णरूप ही पदार्थों की विभिन्न प्रतीति का आधार है। विभिन्न प्रतीति ही प्रतिचक्षण पृथग्-दर्शन-पृथक्प्रतीति है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' मन्त्रभाग से यही कहा गया है।

३७-अपरिच्छिन्न-व्यापक-"माया"-बलाधारेण इन्द्र का एककालावच्छेदेन सर्वत्र रूप-विस्तार सामर्थ्य, एवं सहस्रभावापन्न सौररश्मियों द्वारा रूप विवर्त प्रतिष्ठात्व-निरूपण—

ऐसा कौनसा साधन था, जिसके सहयोग से एक ही इन्द्र विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर एककाला वच्छेदेन ही सर्वत्र अपने रूपविस्तार में समर्थ होगया? मन्त्रोत्तरार्द्ध इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। अपरिच्छिन्न तत्त्व व्यापक है। अतएव उसकी पृथक्त्वेन, विभक्तिरूप से प्रतीति सम्भव नहीं है। अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बनानेवाला, अमित को मित बनाने वाला, असीम को सीमित करने वाला जाया, धरा, आपः, अभ्व आदि सुप्रसिद्ध सोलह बलकोशों में से एक मुख्य सर्वाधार बल ही **'मिनोति या सा'-'मीयते अनया'** इत्यादि निर्वनानुसार 'माया' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी मायाबल के आधार पर इन्द्रप्राण रूपविभाजन में समर्थन हुए हैं। मायाबलों के द्वारा ही इन्द्रदेवता पुरुरूपभावों में असंख्यरूपों में परिणत, होरहा है। माया का यह आनन्त्य 'पूर्णं वै सहस्रम्' के अनुसार सहस्रसंख्या पर विश्रान्त है। सौररश्मियाँ

विराट् सम्बन्ध से १०–१००–१०००, इन तीन प्रक्रमों में परिणत होकर सर्वत्ररूप प्रसार में समर्थ होरही हैं, मौलिक विराट के १० अवयव हैं। एक एक के दशधादशधा विस्तार से दश–दशावयव दश विराट् होजाते हैं, यही १०० अवयव हैं। इन १०० का, दूसरे शब्दों में दश–दशावयव दश विराटों का प्रत्येक का पुन: दश–दशधा विकास होता है। यही १००० अवयव हैं। इसप्रकार दश, दश के दश, वैसे दशों के पुन: दश, क्रम से सहस्रभावापन्न सौररश्मियाँ ही रूपविवर्त्त की प्रतिष्ठा बन रही हैं। यही आधिदैविक इन्द्र का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

३८–हृदयावच्छिन्न-विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानेन्द्र का अनन्तजीवप्रवर्तकत्व, बृहतीछन्दोवृत्त-प्रतिष्ठित इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य, एवम् षट्त्रिंशत्सहस्र-आयु:प्रमाणात्मक-सौर मात्राओं की प्रतिष्ठा का आध्यात्मिक इन्द्रत्व निर्वचन—

अपने इन्हीं मायासहस्र विवर्त्तों से हृदयस्थ प्रज्ञानमन पर प्रतिबिम्बित होकर यह इन्द्र अध्यात्म-संस्था की संस्था की प्रतिष्ठा बन रहा है। **'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व'** इत्यादि कौषीतकि सिद्धान्तानुसार हृदयावच्छिन्न विज्ञानसम्परिष्वक्त यही प्रज्ञानेन्द्र जीवानन्त्य का प्रवर्त्तक बन रहा है। बतलाया गया है कि, दशसंस्था का नाम विराट् है। जिस खगोलीय वृत्त केन्द्र में इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य प्रतिष्ठित है, वह वृत्त (विष्वग्वृत्त) 'बृहतीछन्द' नाम से प्रसिद्ध है। इस छन्द के ३६ अक्षर माने गए हैं। ९–९ अक्षरों का एक एक पाद है। प्रत्येक पाद में ९–९ विराट् उपभुक्त हैं। इस प्रकार ३६ के ३६ विराट् (३६–दश) होजाते हैं, यही ३६० अहोरात्र–पर्वत्र हैं। आगे जाकर इन ३६ बृहती भावों का, विराड्भावों का सहस्रधा व्यूहन होता है। ३६ के ३६०० (छत्तीसहजार) पर्व होजाते हैं। रश्मि द्वारा अध्यात्मेन्द्र में भुक्त ये ३६०० पर्व हीं हमारे आयु: सूत्र हैं। यही वेदोक्त आयु:प्रमाण है। ३६ हजार सौर मात्राओं का भोग समाप्त होजाता है। इसप्रकार १०० वर्षों [३६००० दिनों] में मानव आयु समाप्त होजाती है। मानवसंस्था के, किंवा प्राणिसंस्था (अध्यात्मसंस्था) के इन विभक्तिभावों की प्रतिष्ठा यही आध्यात्मिक इन्द्र है। मन्त्रने इस का भी स्पष्टीकरण किया है।

३९–रामकृष्णादि अवतारप्रतिमार्च्चनवत् ऐतिहासिक "इन्द्र" की प्रतिमाओं का अर्च्चन—

तीसरा आधिभौतिक इन्द्र है, जिसे हम ऐतिहासिक मनुष्यविध इन्द्र कहते हैं। उपासक लोक जिस प्रकार आज रामकृष्णादि अवतारों को प्रतिमाओं के माध्यम में उपासना कर्म्म का अनुगमन करते हैं, एवमेव पुरायुग में इन्द्रप्रतिमाओं के माध्यम से लक्ष्यीभूत आधिदैविक इन्द्रोपासना सञ्चालित थी। अधिकांश में सर्वत्र ही इन्द्र के [भौमइन्द्र के, जिन्हें अवतारपरिभाषानुसार आधिदैविक इन्द्र के अवतार कहा जासकता है] प्रतिरूप [प्रतिमाएं] उपासना के माध्यम माने जाते थे। इसप्रकार तीनों ही दृष्टिकोणों से इन्द्र प्रतिरूप बन रहे हैं। तीनों में से प्रकृत में ऐतिह्य प्रतिरूप का ही सम्बन्ध समझना चाहिए। एक अन्य ऋङ्मन्त्र से भी इन्द्र के इस प्रतिरूप भाव का समर्थन होरहा है। प्रतीत ऐसा होता है कि, तत्समय के सैनिकों में भी इन्द्र पूजन प्रचलित था। देवासुरसंग्राम उस युग के सामान्य धर्म्म थे। जब कोई सैनिक युद्ध

के लिए युद्धभूमि की ओर प्रयाण करता था, अपनी उपास्य इन्द्रप्रतिमा को इस संधा पर कि, वह उसे वापस लौटने पर वापस मिल जाएगी, बेच दिया करता था। देखिए !

क इमं दशाभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः * ।
यदा वृत्राणि जंघनत्- अथैन मे पुनर्ददत् ॥

—ऋक् सं० ४।२४।१०।

४०-इन्द्र प्रतिरूपतासमर्थक श्रौत प्रमाणों का विनियोग--

सम्भव है, वेदों में इतिहास न मानने वाले महानुभाव इन्द्र प्रतिरूपता के सम्बन्ध में बतलाए गए, उक्त विवेचन से सन्तुष्ट न हों। अतएव उनके सम्यक् परितोष के लिए कुछ एक ऐसे श्रौत–स्थान उन के सम्मुख रक्खे जाते हैं, जो स्पष्टरूप से प्रतिरूपविधा का समर्थन करते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, उपासना काण्ड में आहार्य्यारोप मूला प्रत्ययालम्बनता के अतिरिक्त प्रतिरूपमूला [प्रतिकृति–प्रतिमामूला] प्रत्ययालम्बनता भी संग्राह्य बन रही है।

४१-"औद्ग्रभण" होमानन्तर प्रयुक्त "कृष्णाजिनदीक्षा" कर्म्म के स्वरूप का निरूपण--

'औद्ग्रभणहोम' के अनन्तर एक 'कृष्णाजिनदीक्षा' नामक कर्म्म होता है। यज्ञमण्डल के नियत स्थान पर बिछे हुए कृष्णमृग चर्म्म पर बैठकर यज्ञकर्त्ता यजमान दीक्षा लेता है, यही कृष्णाजिनदीक्षा है। कृष्णमृगचर्म्म पर बैठ कर वह यजमान शुक्ल, और कृष्ण लोमों की सन्धि का–'ऋक्सामयोः शिल्पे स्था' यह मन्त्र बोलता हुआ स्पर्श करता है। इस स्पर्श कर्म्म को बतलाते हुए श्रुति ने कहा है कि, यह कृष्ण–मृगचर्म्म ऋक्साम का प्रतिरूप [प्रतिकृति] है। जिसप्रकार एक शिल्पी वास्तविक पदार्थ के आधार पर तदनुरूप उस का शिल्प [मूर्त्ति] बनाता है, तथैव प्रजापति ने ऋक्साम के आधार पर कृष्णमृगचर्म्म के शुक्ल कृष्णलोमरूप शिल्प का निर्म्माण किया इस की सन्धि पर बैठकर दीक्षा लेना ऋक्–साम की सन्धि पर बैठकर ही दीक्षा लेना है। इसप्रकार स्पष्ट ही कृष्णमृगचर्म्मरूप प्रतिरूप के माध्यम से उस परोक्ष ऋक्साम की ओर यजमान के प्रत्यय प्रवाह की प्रामाणिकता सिद्ध होरही है। देखिए !

(१) "अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् जान्वाक उपविशति। स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च संधिर्भवति, तदेवमभिमृश्य जपति–'ऋक्सामयोः शिल्पे स्थ' इति यद्वै प्रतिरूपं, तच्छिल्पम्। 'ऋचां च प्रतिरूपे स्थ' इत्ये वैतदाह"।

—शत० ३।२।१।१।

---

* धेनु उस युग का सिक्का था। गौ आकृतिमत् सिक्के बनाए जाते थे, जो सुवर्ण के होते थे। इन्हीं १० धेनुओं से बेंचने का भाव प्रकट किया गया है।

४२–लक्ष्यीभूत "आत्मब्रह्मोपासना" मार्गान्तःपाति आदित्य चन्द्र वायु विद्युदाकाशादि पुरुष प्रतिरूपोपासना के कर्ता अजातशत्रु-काश्य एवं "बालाकि" उपनामरूढा प्रत्ययालम्बनता—

'बालाकि' उपनाम से प्रसिद्ध गार्ग्य इसी प्रतिरूपमूला प्रत्ययालम्बनता के पक्षपाती थे। उन्होंने ब्रह्म के प्रतिरूप आदित्यपुरुष, चन्द्रपुरुष, विद्युत्पुरुष, आकाशपुरुष, वायुपुरुष, अग्निपुरुष, अप्पुरुष, आदर्शपुरुष, दिक्पुरुष, छायापुरुष, इत्यादि प्रतिरूपों की उपासना के द्वारा अजातशत्रु-काश्य के द्वारा अन्ततो गत्वा लक्ष्यीभूत आत्मब्रह्मोपाना में सफलता प्राप्त की थी। निम्न लिखित वचन गार्ग्य की इसी प्रतिरूपमूला प्रत्ययालम्बनता का ही स्पष्टीकरण कर रहा है।

(२)–"स होवाच गार्ग्यः–ए एवायमप्सु पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे इति। स होवाच अजात शत्रुः–मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, प्रतिरूप इति वाऽअहमेतमुपासे इति। स य एतमेवमुपास्ते, प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति, नाप्रतिरूपम्। अथो प्रतिरूपोऽस्माज्जयते"।

—शत० १४।६।१। ब्राह्मण–८–कं०।

४३–सूर्य्य चन्द्र-विद्युदाकाश प्रभृति का आत्मब्रह्म प्रातिरूप्यनिर्वचन एवम् अजातशत्रु-काश्य द्वारा गार्ग्य-आचरित प्रतिरूपोपासनान्तर्गत तदीय भ्रान्ति का निराकरण—

तात्पर्य्य यही है कि, सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, आपः, चक्षुप्रतिबिम्बितपुरुष, दिशाएं, शब्द, छाया, ये सभी विश्वपर्व उस सर्वव्यापक हृदयावच्छिन्न अणोरणीयान्, महतोमहीयान् आत्म-ब्रह्म के ही प्रतिरूप हैं। इन में से किसी को भी प्रत्ययालम्बन बनाकार इस के माध्यम से परम्परया आत्मो-पासना बन जाती है। इन प्रतिरूपों को प्रतिरूप मानकर जो उपासना की जाएगी, वह सफल होगी। परन्तु, प्रति-रूपों को ही प्रधान लक्ष्य बना लेने से आत्मब्रह्मोपासना सफल न होगी। गार्ग्य करते थे प्रतिरूपोपासना, कहते थे-मैं ब्रह्मोपासना कर रहा हूँ। अजातशत्रु काश्य ने गार्ग्य की इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए उन के सामने यही सिद्धान्त रक्खा कि, गार्ग्य! जिसे तुम ब्रह्मोपासना कहते हो, वह तो प्रतिरूपोपासना है। तुम्हें 'ब्रह्मो-पासे' न कह कर–'प्रतिरूप मुपासे' ही कहना चाहिए। ब्रह्म तो उपास्य नहीं, स्वानुभवैकगम्य है, ज्ञानयोग साध्य है। उपासना तो प्रतिरूप की ही सम्भव है। इसीप्रकार निम्न लिखित वचन भी इसी प्रतिरूपविधा का समर्थन कर रहे हैं—

(३)–"इदं वै तन्मधु (मधुविद्यारहस्यं) दध्यङ्ङाथर्वणो ऽश्विभ्यामुवाच। तदे-तदृषिः–पश्यन्नवोचत्–'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ताह्यस्य हरयः शता दश' इति। अयं वै

हरयः, अयं वै दश च, सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । तदेतद् ब्रह्मापूर्व-मनपर ममनन्तमबाह्यम् । ब्रह्मसर्वानुभूः-इत्यनुशासनम्"

शत० १४।५।५।१६।

(४)-"किं देवतोऽस्यांप्रतीच्यां दिश्यसीति !, वरुण देवत इति । स वरुणः कस्मिन्-प्रतिष्ठितः-इति ?, अप्स्विति । कस्मिन्नापः प्रतिष्ठिता भवन्ति-इति ?, रेतसीति । कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितं भवति-इति ?, हृदये-इति । तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुः-हृदयादिव सृप्तः, हृदयादिव निर्म्मित इति ।

—शत० १४।६।६।२३।

(५)-"यद्वै प्रजापतिरालब्धोऽश्वोऽभवत्, तस्मादश्वः प्रजापतेः पशूनामनुरूपतमः (प्रतिरूपः) । आऽस्य पुत्रः प्रतिरूपो जायते, य एवं वेद"

—तै० ब्रा० ३।६।२२।२।

(६)-"अनुरूपं शंसति । प्रजा वा अनुरूपः । तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपंकुर्वन्ति । प्रति-रूपो हैवास्य प्रजायामाजायते, ना प्रतिरूपः । तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपं कुर्वन्ति"—

—गो० ब्रा० उ० ३।२२।

४४-द्वादश प्राकृतिकविवर्ताधारेणाविर्भूत प्राकृतिक प्रतिरूप विधा स्वरूपों का निरूपण—

उपासनाकाण्डानुगता प्रतिरूपविधा की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले उक्त श्रौतवचनों के अतिरिक्त-अब इसी सम्बन्ध में कुछ एक ऐसे उदाहरण भी उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न माना जाएगा, जिन से प्राकृतिक प्रतिरूपविधाओं की प्रत्ययालम्बनता भलीभांति प्रमाणित हो रही है । बतलाया गया है कि, प्रतिरूप (प्रतिकृति, प्रतिमा, चित्र) भाव प्राकृतिक, कृत्रिम भेद से दो भागों में विभक्त हैं । ईश्वरव्यापारसिद्ध प्रतिरूप प्राकृतिक हैं, एवं मानवीय कल्पनानुगत भूतयुक्त प्रतिरूप कृत्रिम हैं । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, वर्त्तमान उपासना-काण्ड में जहां कृत्रिमप्रतिरूप-विधा का प्राधान्य है, वहां आर्षयुग (वेदयुग-देवयुग) में प्राकृतिक प्रतिरूप विधा की ही प्रधानता थी । आर्षयुग से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक-प्रतिरूप विधा के उदाहरण ही प्रकृत में बतलाए जाएँगे । उदाहरणों से पहिले यह जान लेना आवश्यक होगा कि, जिस प्राकृतिक ईश्वरीय विवर्त्त के साथ प्राकृतिक-प्रतिरूपविधाओं का सम्बन्ध है, वह ईश्वरीय विवर्त्त अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, भेद से तीन भागों में विभक्त है । तीनों में से प्रत्येक के अवान्तर ४-४ विवर्त्त हैं । सम्भूय प्राकृतिक विवर्त्त के अवान्तर १२ विवर्त्त हो जाते हैं । कुछ एक प्रतिरूप विधाओं का चतुर्धाविभक्त अधिदैवत विवर्त्त से, कुछ एक का अध्यात्म विवर्त्त से, एवं कुछ एक का अधिभूत विवर्त्तों

से सम्बन्ध है । इसी पृथिवी में हम तीनों उन प्रतिरूपविधाओं का साक्षात्कार कर सकते हैं, जिन का ईश्वरीयप्रतिरूप से सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में जिन प्रतिरूपों का निर्म्माण साक्षात् प्रकृति ने किया है । उन में से किसी एक को माध्यम बनाते हुए प्रत्ययालम्बन द्वारा उपास्य-प्राप्ति सम्भव है । यही वास्तविक प्रतिरूपोपासना है, जिस का स्थान साम्प्रदायिक वातावरण के कारण आज कृत्रिम प्रतिरूपों ने छीन कर उपासना-का तात्त्विकस्वरूप अभिभूत कर लिया है । उदाहरण-प्रदर्शन से पहिले उन ईश्वरीय विवर्त्तों-का संक्षेप से परिचय करा देना ही आवश्यक होगा, जिन १२ प्राकृतिक विवर्त्तों के आधार पर प्राकृतिक प्रतिरूपविधाओं का आविर्भाव हुआ है । उन्हीं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

१

२-आधिदैविक प्रतिरूपविद्या-(४)

४५-सप्तव्याहृति समष्टिरूप-रोदसी-क्रन्दसी-संयती-त्रैलोक्य समतुलित-सप्तवितस्तिकायात्मक पाञ्चभौतिक महाविश्व का ईश्वर प्रातिरूप्य, सूर्य्य चन्द्रादि आधिदैविक प्रतिरूप, एवं प्रत्यक्षदृष्ट विश्व की प्रतिरूपविधोपपत्ति—

बात थोड़ी सूक्ष्म, किन्तु समझ ने में सहजसी है । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इन सप्तव्याहृतियों की समष्टिरूप, रोदसी-क्रन्दसी-संयती-इन तीन त्रैलोक्यों से समतुलित, सप्तवितस्तिकायात्मक, महामायावच्छिन्न, प्रत्यक्षदृष्ट, पाञ्चभौतिक, महाविश्व ही आधिदैविक ईश्वर का प्रतिरूप है । चक्षु-ताराग्रवर्त्ती जिस चाक्षुष-इन्द्रियप्राण से हम सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-पृथिवी-आकाश-सरिता-समुद्र-आदि आदि विविधभावाक्रान्त महाविश्व का साक्षात् कार कर रहे हैं, यही आधिदैविक प्रतिरूप है, जिसे हम ईश्वर का प्रतिरूप कहेंगे । प्रतिरूप का अर्थ है प्रतिकृति, प्रतिकृति का अर्थ है-प्रतिमा, प्रतिमा का अर्थ है आदर्श (असल) के अनुरूप बनी हुई प्रतिकृति (नकल) । प्रश्न होता है कि, जिस महाविश्व का हम साक्षात् कार कर रहे हैं, जिस के सूर्य्य-चन्द्रादि पर्वों का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है, वह तो आदर्श ही है । यही तो ईश्वर का वास्तविकस्वरूप है । फिर इसे प्रतिरूप (नकल) कैसे माना गया ? प्रत्यक्षदृष्टविश्व आधिदैविक आदर्श है, न कि प्रतिरूप । प्रत्यक्षदृष्ट विश्व के स्वरूप के आधार पर यदि पाषाणप्रतिमावत् अलग से कोई विश्व प्रतिमा बनती, तो उसे अवश्य ही प्रतिरूप माना जा सकता था । परन्तु विश्व के गर्भ में ऐसा कोई आधिदैविक-प्राकृतिक विश्वप्रतिरूप-जिस के गर्भ में विश्ववत् सूर्य्य चन्द्रादि के प्रतिरूप भी प्रतिष्ठित हों-अनुलब्ध है, अतएव महाविश्व को प्रतिरूप विधा का उदाहरण नहीं माना जा सकता ।

४६–साक्षात्करणीय प्रतिरूप महाविश्व, आदर्श-विश्व-प्रत्यक्ष की असम्भूति, तदर्थ उदाहरण एवं "परोक्षप्रिया इव देवाः प्रत्यक्षद्विषः" का तात्पर्य-स्पष्टीकरण –

विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, जिस महाविश्वका हमें साक्षात्कार होरहा है, वही प्रतिरूप है। आदर्शात्मक विश्व का तो हमें कभी प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। जिस के लिए एक ही उदाहरण पर्य्याप्त होगा। हम सूर्य्य को देखते हैं, और यह समझ बैठते हैं कि, हम वास्तविक (आदर्श) सूर्य्य को देखरहे हैं। हमारे देखे हुए, किंवा दीखाई देने वाले सूर्य्य का आकार है अधिक से अधिक ६–७ अङ्गुलव्यासात्मक। क्या वास्तविकसूर्य्य का आकार एतावन्मात्र ही है? विज्ञानदृष्टि कहती है–सूर्य्यगोलक भूगोलक से कई सहस्रगुणित वृहत् है। वही सूर्य्य का वास्तविक आकार है। वही वास्तविक सूर्य्य है। क्या आप इसी वृहत् सूर्य्य को देख रहे हैं? मानलेना पड़ेगा कि, जिसे देख रहे हैं, वह वास्तव में वास्तविकसूर्य्य से भिन्न, किन्तु उसका प्रतिरूप है। चाक्षुषधरातल पर वास्तविकसूर्य्य के आधार पर रश्मिद्वारा जो सूर्य्यप्रतिमा प्रतिष्ठित (प्रतिफलित) होगई है, उस अपने ज्ञानीय–ज्ञानात्मक–काल्पनिक–सूर्य्य के आधार पर ही हमें सूर्य्यदर्शन का अभिमान हो रहा है। प्रतिरूपात्मक सूर्य्य का ही हमारी दृष्टि से सम्बन्ध है। महाविश्व के एक छोटे से अवयव सूर्य्य का भी जब हम प्रतिरूप ही देख सकते हैं, देखते हैं, तो उस महाविश्व को कैसे दृष्टिका विषय माना जासकता है, जिसके गर्भ में अनन्त-सूर्य्य, चन्द्रमादि प्रतिष्ठित हैं। आदर्शात्मक महाविश्व (वास्तविक) ईश्वर का अन्तर्जगत् है, वही हमारे लिए बहिर्जगत् है। बहिर्जगत् के आधार पर निर्म्मित हमारे ज्ञानीय अन्तर्जगत् का ही हमें प्रत्यक्ष होरहा है। हम जिस महाविश्व को देख रहे हैं, वह हमारी ज्ञानीय कल्पना है। ज्ञानीयकल्पना कृत्रिम नहीं, अपितु प्राकृतिक है। स्वत: एव ज्ञान तदाकार में परिणत होरहा है। हम जोकुछ देखते, सुनते, सुनाते हैं, सब प्रतिरूप हैं। इसी आधार पर–'**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। 'यह सूर्य्य है, यह चन्द्रमा है', इत्यादिरूप से जिन विश्वपर्वों की ओर हम सङ्केत करते हैं, वे वास्तव में उन उन सूर्य्य–चन्द्रादि के प्रतिरूप ही हैं, जो केवल हमारे प्रातिस्विक अन्तर्जगत् (ज्ञानीयजगत्) में ही भुक्त हैं, गर्भीभूत हैं। इसी आधार पर–'**तदस्यरूपं–प्रतिरूपं–प्रतिचक्षणाय**' कहा जाता है। इसी आधार पर श्रुति ने सिद्धान्त स्थापित किया है कि–'**परोक्षप्रिया इव हि देवा:, प्रत्यक्षद्विषः**'। 'इव' का तात्पर्य्य स्पष्ट है। प्रतीयमान प्रतिरूपों में विशुद्ध कल्पना ही नहीं होती। अपितु यह कल्पना सत्य–आदर्श के आधार पर प्रतिष्ठित है, अतएव इसे सर्वथा परोक्ष न कह कर परोक्षवत् ही कहा जाएगा। इस प्रकार यह मान लेना पड़ता है कि, जिस महाविश्व को हम देख रहे हैं वह वास्तविक–आदर्श–आधिदैविक ईश्वर नहीं है, अपितु वास्तविक आदर्श–आधिदैविक ईश्वरस्वरूप के आधार पर आधिदैविक ज्ञान से कल्पित आधिदैविक ईश्वर का प्रतिरूप है।

४७–आधिदैविक प्रतिरूपालम्बन परम्परया गतार्था सत्यविश्वेश्वरोपासना, आधिदैविके-श्वराजस्रचर्वणया तद्भावना का अध्यात्मसमावेश, एवं च महाविश्वात्मकाधि-दैविक प्रतिरूप माध्यमेन समष्ट्यात्मक विश्वेश्वरोपासना की सम्भवता का निरूपण—

इस आधिदैविक प्रतिरूप को आलम्बन बनाने से परम्परया तत्समतुलित सत्य–वास्तविक–आदर्शात्मक विश्वेश्वर की उपासना गतार्थ बन जाती है। हमारे ज्ञान में प्रतिरूप–रूपसे प्रतिष्ठित आधिदैविक ईश्वर की अजस्रचर्वणा से कालान्तर में तद्भावना (परोक्ष–ईश्वरभावना) का अध्यात्म में समावेश होजाता है। इस प्रकार महाविश्वरूप ईश्वर–प्रतिरूप (आधिदैविक–प्रतिरूप) को माध्यम बनाकर समष्टिरूप से समष्ट्यात्मक विश्वेश्वर की उपासना सम्भव बनाई जासकती है, जिसके अधिकारी विरले ही हुआ करते हैं। यही उपासना की सर्वोच्च दृष्टि है। सर्वत्र सब में–प्रतिरूप–प्रत्ययों में ईश्वरभावना करना ज्ञानयोगात्मिका–समानप्रत्ययप्रवाहरूपानिर्गुणोपासना ही मानी गई है, जिसका 'उपासनालक्षण निर्वचन' प्रकरण में विश्लेषण किया जाचुका है।

४८–महामायावच्छिन्न ईश्वर, योगमायावच्छिन्न जीव, प्रजापति के दो एवम् माया के तीन (ब्रह्म-विष्णु-शिव-मायात्मक) विवर्तों का उपबृंहण—

आत्मा, शरीर, दोनों की समष्टि ही ईश्वर है, उभय समष्टि ही जीव है, अतएव इन्हें अपनी परिभाषा में 'विशिष्ट' (शरीरविशिष्ट आत्मा, अथवा आत्मविशिष्ट शरीर) नाम से व्यवहृत करेंगे। महामायात्मक पुर से वेष्टित आत्मा ईश्वर है, योगमायात्मकपुर से वेष्टित आत्मा जीव है। ईश्वर महामायावच्छिन्न है, जीव योगमायावच्छिन्न है। महामायात्मकमहाविश्व ईशात्मा का शरीर है, योगमायात्मक स्वस्थशरीर जीवात्मा का विश्व है। महाविश्व उसका शरीर है, तो हमारा शरीर हमारा (जीवात्मा का) विश्व है। इस प्रकार महामाया, योगमायाभेद से शरीरविशिष्ट आत्मन्वी प्रजापति के ईश्वर–प्रजापति, जीवप्रजापति, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। महामाया **ब्रह्ममाया** है, योगमाया **विष्णुमाया** है, एवं दोनों से अतिरिक्त तीसरी भूतमाया **शिवमाया** है। ब्रह्ममाया का आधिदैविक **ईश्वर** विवर्त्त से, विष्णुमाया का आध्यात्मिक **जीव** विवर्त्त से, एवं शिवमाया का आधिभौतिक **भूत** विवर्त्त से सम्बन्ध है। भूत का स्वरूप प्रत्यक्ष होने से विदित है, जीव का स्वरूप अप्रत्यक्ष होने से अविदित है। तीसरा ईश्वरविवर्त्त विदितभूत, अविदितजीव, दोनों से अतीत है*।

---

* "अन्यदेव तद्विदितात्, अथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥" तलवकारोपनिषत्।

भूतपति शिवतत्त्व से सञ्चालित विदित भूतविवर्त्त की प्रतिष्ठा अव्ययाक्षरगर्भित-क्षरतत्त्व है। देवपति विष्णु-तत्त्व से आलित अविदित जीवविवर्त्त की प्रतिष्ठा क्षराव्ययगर्भित-अक्षरतत्त्व है। चित्प्रति ब्रह्मतत्त्व से सञ्चालित विदिताविदितातीत ईश्वरविवर्त्त की मूलप्रतिष्ठा क्षराक्षरगर्भित-अव्ययतत्त्व है। अव्ययात्मप्रधान, महामायावच्छिन्न ईश्वरतत्त्व ही आधिदैविकविवर्त्त है। अक्षरात्मकप्रधान, योगमायावच्छिन्न जीवतत्त्व ही अध्यात्मिकविवर्त्त है। एवं क्षरात्मप्रधान, भूतमायावच्छिन्न भूततत्त्व ही आधिभौतिकविवर्त्त है।

४६-उक्त त्रिविवर्ताधारेणैव प्रतिरूपविधा का विश्लेषण, सृष्टि के चेतन अर्धचेतन, अचेतनात्मक विवर्त, सत्व-रजस्तमोगुणात्मक सर्ग, एवम् ब्रह्म, प्रजापति, पितर, इन्द्र गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच इन अष्टविवर्तों का निरूपण—

इन उक्त तीन विवर्त्तों के आधार पर ही हमें प्रतिरूपविधा का विश्लेषण करना है, अतएव तीनों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण कर दिया है। इन तीनों ईश्वर-जीव-भूत-विवर्त्तों में से ईश्वर, जीव, ये दो विवर्त्त तो आत्मन्वी (आत्मा-शरीरविशिष्ट-विशिष्टतत्त्व-प्रजापति) मानें जाएँगे। तीसरा भूतविवर्त्त आत्मज्योति के आत्यन्तिक अभिभव से केवल 'पशु' (अनात्मतत्त्व) कहलाएगा, जिसके सम्बन्ध से भूतपति पशुपति भी कहलाए हैं। इसप्रकार तीनों विवर्त्तों को चेतनविवर्त्त, अचेतनविवर्त्त, इन दो भागों में विभक्त किया जासकेगा। चेतनईश्वर चेतनजीव, दोनों से अतिरिक्त तीसरे अचेतन भूतवर्ग में ही चेतना के आंशिक अन्तर्विकास से एक अर्द्धचेतनसृष्टि का विकास और होता है। उन्हें ही **'अन्तःसंज्ञा'** कहा जाता है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा चेतन अर्द्धचेतन, अचेतन, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। चेतन ईश्वर का विभाग स्वतन्त्र है। चेतन जीव, अर्द्धचेतन भूत (वृक्षादि), अचेतन भूत (पाषाणादि) तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। चेतन ईश्वर विशुद्धसत्त्व से सम्बन्ध रखता है। चेतनजीव का मलिनसत्त्वानुगत रजोगुण से अर्द्धचेतन भूत का रजोमिश्रित तमोगुण से, तथा अचेतन भूत का तमोगुण से सम्बन्ध माना गया है। चेतन ईश्वर के ये तीन ही प्रधान सर्ग हैं। चेतनसर्ग ससंज्ञ है, अर्द्धचेतनसर्ग अन्तःसंज्ञ है, अचेतनसर्ग असंज्ञ है। ससंज्ञचेतनसर्ग के देवयोनि, भूतयोनि भेद से दो विवर्त्त हैं। देवयोनिसर्ग में सत्त्वमात्रा विकसित है, अतएव यह ऊर्ध्वस्थ सत्त्वविशालसर्ग कहलाया है, जिसके— **ब्रह्म, प्रजापति, पितर, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच,** ये आठ विवर्त्त माने गए हैं, एवं जिन में ११ मानवेन्द्रियों के अतिरिक्त अणिमा-महिमादि आठ सिद्धियाँ ६ तुष्टियाँ सम्भूय १० ऐन्द्रियक भाव और रहते हैं। भूतयोनिसर्ग में रजोमात्रा विकसित है। अतएव यह मध्यस्थ रजोविशाल सर्ग सर्ग कहलाया है, जिस के **मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि,** ये पाँच विवर्त्त हैं। इस प्रकार ससंज्ञ चेतनसर्ग, के अष्टविध देवयोनि, पञ्चविध भूतयोनि भेद से १३ विवर्त्त होजाते हैं। अन्तःसंज्ञ अर्द्धचेतनसर्ग एवं असंज्ञ अचेतनसर्ग दोनों भूतसर्ग तमोगुणातिशय से मूलस्थ तमोविशालसर्ग कहलाए हैं, जिस का 'स्तम्ब' रूपों से एक ही विवर्त्त में संग्रह मान लिया जाता है। यही चौदहवाँ भूतसर्ग है। यही प्राधानिक शास्त्र का 'चतुर्दशविधोभूतसर्गः' है। जिस का अन्यत्र (शतपथ प्रथमवर्ष में) विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। प्रतिपादित त्रित्वपाद का निम्न लिखित तालिकाओं से भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

१	२	३
ब्रह्मानुगता–महामाया	विष्ण्वनुगता–योगमाया	शिवानुगता–भूतमाया
महामायी–ईश्वरः	योगमायी–जीवः	भूतमायी–विश्वम्
आधिदैविकविवर्त्तम्	आध्यात्मिकविवर्त्तम्	आधिभौतिकविवर्त्तम्
ईश्वरः	जीवाः	भूतानि

विदिताविदितातीतप्रपञ्चः स्वानुभवैकगम्यः	अविदितप्रपञ्चः परोक्षः	विदितप्रपञ्चः प्रत्यक्षः
चित्पतिर्ब्रह्मासञ्चालकः	देवपतिर्विष्णुःसञ्चालकः	भूतपतिर्शिवः सञ्चालकः
क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययःप्रतिष्ठा	क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरःप्रतिष्ठा	अव्ययक्षरगर्भित क्षरःप्रतिष्ठा
आत्मन्वीप्रजापतिः १–आत्मा २–शरीरम् } —विशिष्टः	आत्मन्वीप्रजापतिः १–आत्मा २–शरीरम् } —विशिष्टः	पशुः–नात्मन्वी शरीरमेव नात्मा } —अविशेषः
चेतनः	चेतनः	अचेतनः

विशुद्धसत्त्वः–
ईश्वरः (१)

चेतनः–आत्मन्वी
१

अचेतनः
२

१–चेतनसर्गः (१)

(२) १-अर्द्धचेतनसर्गः (अन्तसंज्ञः)
(३) २-अचेतनसर्गः (असंज्ञः)

१–देवयोनिसर्गः सत्त्वविशालः ८		२–भूतयोनिसर्गः रजोविशालः ५	
(१)	१–ब्रह्मा (१)	(१)	१–मनुष्याः (१)
(२)	२–प्रजापतिः (२)		२–पशवः (१)
(३)	३–पितरः (१)	(२)	३–पक्षिणः (२)
(४)	४–इन्द्रः (२)		
(५)	१–गन्धर्वाः (१)	(३)	४–कीटाः (१)
(६)	२–यक्षः (२)		५–कृमयः (२)
(७)	३–राक्षसः (१)		
(८)	४–पिशाचः (२)		ससंज्ञाः १३

१

चतुर्दशविधोभूतसर्गः

५०–ईश्वर-जीव-भूत-प्रतिरूपान्वयी उपासना मार्ग के अधिदैवताधिभूताध्यात्म प्रत्यया-लम्बनात्मक तीन भाग, एवं अधिदैवत प्रत्ययालम्बनता के उदाहरण का उपक्रम—

प्रदर्शित परिलेखानुसार प्रकृतिसिद्ध ईश्वर, जीव, भूत, तीनों के प्रतिरूपों से सम्बन्ध रखने वाले उपासनामार्ग आधिदैवतप्रत्ययालम्बनता, अध्यात्मप्रत्ययालम्बनता, अधिभूतप्रत्ययालम्बनता, भेद से तीन भागों में विभक्त किया जासकता है। तीनों में से अधिदैवत–प्रत्ययालम्बनता से सम्बन्ध रखने वाला उदाहरण प्रक्रान्त है। परिलेख की ३ री पीठिका में भूतसर्ग के वृक्षादि अर्द्धचेतनसर्ग, पाषाणादि अचेतनसर्ग भेद से दो विवर्त्तों का उल्लेख हुआ है। प्रथमपीठिका से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त को चेतनविवर्त्त बतलाया गया है। इस आधिदैविक चेतन विवर्त्त के भी आधिभौतिक–अर्द्धचेतन, अचेतन, भेदों की भाँति दो विवर्त्त होजाते हैं। समष्टिरूप से आत्मन्वी को प्रत्ययालम्बन बनाना चेतन आधिदैविक की उपासना है। आधिदैविक चेतन–ईश्वरपुरुष के चिदनुग्रह से स्व–स्व कर्म्म में सर्गारम्भ से लयपर्य्यन्त अवधानपूर्वक नियुक्त रहने वाले सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि ईश्वरावयों के प्रतिरूपों को माध्यम मानना अचेतन आधिदैविक प्रत्ययलम्बन का आश्रय लेना है।

५१–आधिकारिक ईश्वर की उत्पत्ति-स्थिति-संहृति-अधिकारनियुक्ति, अधिकार समूहना-नन्तर मायाबल ग्रन्थिविमोक एवम् आधिकारिक ईश्वर का महासत्ताऽन्तर्लीनत्व—

समष्ट्यात्मक आधिदैविक विवर्त्त चेतनविवर्त्त है, यही आधिकारिक ईश्वरात्मा है। **'यावदधिकार मवस्थितिराधिकारिकाणाम्'** के अनुसार जबतक अनन्तशक्तिघन–सर्वबलविशिष्टरसैकघन–मायातीतनिष्कल–निर्गुण–निरञ्जन–विश्वातीत परात्पर के महामायाबलाधिकार से प्रेरित महामायावच्छिन्न सगुणेश्वर जबतक स्वविश्व के उत्पत्ति–स्थिति–अङ्गभावों के अधिकार में नियुक्त रहता है, तबतक उसकी विश्वेश्वररूप से स्थिति है। अधिकार समाप्त्यनन्तर जिस दिन मायबलग्रन्थि–विमोक होजाता है, ईश्वरसत्ता उस महासत्ता (अत्यनपिनद्धा परात्परसत्ता) में विलीन होजाती है। अपनी इसी विश्वाधिकारमर्य्यादा से मायामय ईश्वर को आधिकारिक-ईश्वर कहा जासकता है। इसकी उपासना करना एक दृष्टिकोण है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है।

५२–सूर्य्य-चन्द्र ग्रहादि का आधिकारिक अचेतन जीवत्व, व्यष्टिरूप प्रत्ययालम्बनार्थ "आदित्यमुद्गीथ मुपासीत" इत्यादि श्रुतिव्याहृतिसङ्गत सूर्यादि उपासना, एवम् आर्षधर्म्मानुगत देवोपासना स्वरूपोपबृंहण—

इस आधिकारिक चेतन ईश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित अवयवरूप सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि जड़ पदार्थ भी आधिकारिक ही हैं। जिसप्रकार परात्पर द्वारा प्राप्त महामायानुगत विश्वाधिकार से ईश्वर आधिकारिक बन रहा है, एवमेव इस आधिकारिक ईश्वर के द्वारा प्राप्त योगमायानुगत तत्तद्विशेषाधिकारों से सूर्य्य–चन्द्रादि भी आधिकारिक ही बन रहे हैं। सूर्य्य–चन्द्रादि किसी कर्म्मभोग के लिए उत्पन्न नहीं हुए है। अपितु ईश्वरीय विश्वकर्म्म में सहायकमात्र है। तत्तद्विशेषाधिकारिक कर्म्मों में अवधानपूर्वक संलग्न रहने वाले ये सूर्य्यादि

सर्गसमाप्त्यनन्तर, अधिकारसमाप्त्यनन्तर, अधिकारसमर्पक ईश्वर में ही लीन होजाते हैं। क्यों कि, ये अचेतन हैं, जड़ हैं, ईश्वरचिदंश से सञ्चालित हैं, अतएव इन आधिदैविक सूर्य्यादि पर्वों को हम **'आधिकारिक अचेतनजीव'** कहेंगे। इस प्रकार समष्टि, व्यष्टिरूप से आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त के आधिदैविक आधिकारिक चेतन ईश्वर, आधिदैविक आधिकारिक अचेतन जीव, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। जिनका मन समष्टि (ईश्वर) के प्रतिरूप को प्रत्ययालम्बन बनाने में असमर्थ है, वे व्यष्टिरूप सूर्य्य-चन्द्रादि-अचेतन-आधिकारिक-ईश्वर-के प्रतिरूपों में से किसी एक को प्रत्ययालम्बन बनाते हुए भी परम्परया उपासना में सफल होसकते हैं। **'आदित्ययुद्गीथ मुपासीत'-''पञ्चविधं-सामोपासित'-'आदित्ये-चन्द्रे--विद्यु ति-आकाशे-वायौ-अग्नौ-अप्सु-उपासते, य एवमुपासते-प्रतिरूपं-हैवैनयुपगच्छति'** इत्यादि श्रुतियाँ इसी व्यष्टिलक्षण आधिदैविक-प्रतिरूपालम्बनता का स्पष्टी करण कर रही हैं। यही आर्षधर्म्मानुगता देवोपासना है। इस प्रकार **ईश्वरप्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता, देवप्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता,** भेद से आधिदैविक-प्राकृतिक प्रतिरूपों के माध्यम से आधिदैविक प्रतिरूप के दो विवर्त्त होजाते हैं। ध्यान रहे, इन दोनों ही आधिदैविक प्रतिरूपविधाओं में मानवीयमन से कल्पित भूतानुगत प्रतिमादि कृत्रिम प्रतिरूपों का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु ईश्वरीय अन्तर्जगत् के आधार पर दृष्टि द्वारा स्वतः त्रिनिर्म्मित ज्ञानीय प्रतिरूप ही यहाँ प्रतिरूपविधा से संग्राह्य हैं। आर्षयुग में एवंविध प्राकृतिक प्रतिरूप का ही प्राधान्य था, जबकि अधिकारी भेद से अन्य कृत्रिम प्रतिरूप (भौतिकप्रतिमा) भी अंशत: संग्राह्य थे। आर्षयुग के मनुष्यों द्वारा होने वाली इन्द्रप्रतिमोपासना, आर्षपुरुष भगवान् रामद्वारा होने वाली शिवप्रतिमोपासना, महाराजसुरथ, महाभाग समाधि वैश्य द्वारा होने वाली मृण्मयी-शक्तिप्रतिमोपासना, दैविक प्रवर्ग्ययाग (धर्म्मयाग) से सम्बन्ध रखने वाली वल्मीकमृत्तिकामयी महावीरोपासना, आदि उपासना-माध्यम कृत्रिम प्रतिरूपों के माध्यम भी सर्वात्मना समर्थन कर रहे हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि, आर्षयुग में क्षत्रिय, वैश्यों को छोड़कर वेदवित् ब्राह्मणवर्ग में, ऋषिसम्प्रदाय में तो प्राकृतिक प्रतिरूपों को ही प्रधानतया प्रत्ययालम्बन माना जाता था, जो कि तत्कालीन-मान्यता तद्युगीय ब्राह्मण-ऋषियों के प्रवृद्धतम ज्ञानक्षेत्र के अनुरूप ही थी। आधिदैविकप्रतिरूपविधा के उक्त दो विवर्त्तों के अनन्तर इसी के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

५३-भारतीयोपासनापथान्तःपातिवैचित्र्यपरिज्ञानार्थ आवश्यक प्रकृति रहस्य ज्ञान एवम् अद्वैतवाद निष्ठा प्रतिष्ठित उपासनाकाण्ड के अनुयायी भारतीयों की विविध देवोपासना के वैचित्र्य का समन्वय —

भारतीय उपासना मार्ग की अनेकाङ्गता, उपास्यों के विविधरूपों का अनुगमन, माध्यमों का स्वरूप-विभेद, सभीकुछ प्रकृति से सम्बन्ध रख रहे हैं। फलत: जबतक प्रकृति के उन रहस्यपूर्ण भेदों का सम्यक्-परिज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता, जबतक भारतीय उपासनामार्गके वैचित्र्य का समन्वय असमम्भवही बना रह जाता है। अनेकविध उपास्य, उपासनामार्गों को देख-सुन कर नीर-क्षीर विवेकियों को भारतीयों की एकेश्वरभावना में सन्देह होने लगता है। और उनका यह सन्देह आगे जाकर इस निष्कर्ष का जन्मदाता बन बैठता है कि, आरम्भ में भारतीयों को एकेश्वरवाद का बोध ही न था। अपितु अपनी प्रारम्भिक दशा में वे

अग्नि–वायु–सूर्य्य–ओषधि–वनस्पति- धातु–आदि जड़ पदार्थों को ही देवता मानते हुए इनकी उपासना किया करते थे। भारतीय रहस्यात्मक परिभाषाज्ञानलव से भी परिचय न रखने वाले इन नीरक्षीर विवेकियों को सम्भवतः यह जानने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ कि, हमारा समस्त उपासनाकाण्ड एकेश्वरवाद की, अखण्ड आत्मवाद की, दूसरे शब्दों में अद्वैतवाद की अभेदशिला पर ही प्रतिष्ठित है। उपासना के जितने भी अवान्तर प्रतिरूपों का शास्त्र में निरूपण हुआ है, सबके मूलमें वही आत्मभावना निहित है। अद्वैतभावना–विरहिता देवोपासना की पदे पदे निन्दा हुई है, अद्वैतभावनात्मिका देवोपासना का संग्रह हुआ है। लक्ष्य सब प्रतिरूपों का एक है, अधिकारी की योग्यता के भेद से माध्यम भिन्न भिन्न है *। प्रत्ययालम्बन भिन्न हैं, प्रत्यय प्रत्ययत्त्वेन समान है, और उस समानप्रत्यय प्रवाहलक्षण उपासना का प्रधान–अन्तिम–लक्ष्य–आत्म–देवता, किंवा एकेश्वर ही है। एकत्त्वानुगत अनेकत्त्वानुगमन ही तो भारतीय उपासनाकाण्ड की वह प्राकृतिक विशेषता है, जिसका अन्यत्र ऐकान्तिक अभाव ही है। माध्यम प्रतिरूपों के साथ साथ ही पदे पदे उसी अद्वैतभावना का समावेश हुआ है। वही वास्तविक उपासना है, जिसके मूल में एकत्वभावना निहित है। प्रकृतिभेदभिन्न विषमवर्त्तन, आत्माभेदाभिन्न समदर्शन ही तो यहाँ का प्रधान पुरुषार्थ है। समदर्शन जहाँ अद्वैतमूलक है, वहाँ विषमवर्त्तन प्रकृतिमूलक है। दोनों विरुद्धभावों का एकत्र जैसा आश्चर्य्यकर समन्वय महर्षियों ने किया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध है। किसी ने भेदात्मक संसार का तिरस्कार किया है, किसी ने इसी को प्रधान लक्ष्य बनाया है। परन्तु यहाँ तो इस नानाभाव के साथ साथ ही एकत्त्व की उपासना हुई है। 'भेदवादसहिष्णु–अभेदवाद' ही हमारे उपासनाकाण्ड का सर्वोत्कर्ष, किंवा अनन्योत्कर्ष है। नानादर्शन जहांघातक है, वहां–समदर्शन आत्मविकास का हेतु है। दर्शनसमान हो, वर्त्तन नानाहो, तो वह नानावर्त्तन–दर्शनसमानता से अमृतलक्षण आत्मप्राप्ति का भी कारण बन जाता है, साथ ही नानावर्त्तन से लोकमर्य्यादा का ही संरक्षण होजाता है। विषमवर्त्तन को जो अनेकता से युक्तदेखता है, दूसरेशब्दों में जिसका पृथग्वर्त्तन नानादर्शन से युक्त होजाता है, उस का मृत्युभाव (नानानुवर्त्तन), अमृतभाव (ऐकत्त्वदर्शन) से वञ्चित रहता हुआ विशुद्ध मृत्युभाव का ही प्रापक बना रहजाता है। अतः मृत्युलक्षण नानानुवर्त्तन के साथ साथ अमृतलक्षण एकत्त्वदर्शन को सुरक्षित रखना चाहिए। निम्नलिखित श्रुतियाँ इसी ज्ञान–कर्म्म, आत्मा-शरीर, अमृत-मृत्यु, सत्-असत्, अमूर्त्त-मूर्त्त, उपास्य-तत्प्रतिरूप, के समन्वयभाव का ही समर्थन कर रही हैं—

१–तदेजति (भूतनुवर्त्तनेन), –तन्नैजति (आत्मदर्शनेन)।
तद्दूरे (भूतानुवर्त्तनेन),–तद्वन्तिके (आत्मदर्शनेन)।
तदन्तरस्यसर्वस्य (भूतानुवर्त्तनेन), तदुसर्वस्य बाह्यतः (आत्मदर्शनेन)॥

२–यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मनं, ततो न विजुगुप्सते॥

---

* **रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।**
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ महिम्नः स्तोत्रम्।

३–यस्मिनृत्सर्वाणि भूतानि–आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्त्वमनुपश्यतः ॥

४–सम्भूतिं च (आत्मदर्शनंच), विनाशं च (भूतानुवर्त्तनंच) यस्तद्वेदो भयंसह (सम–दर्शनानुगत विषम वर्त्तनेन)–विनाशेन (भूतानुवर्त्तनेन) मृत्युं तीर्त्वा, सम्भूत्या (आत्मदर्शनेन) अमृतमश्नुते ॥

—ईशोपनिषत्–५,६,७,१४ ।

५–यद्वाचा मनसा–चक्षुषा–श्रोत्रेण–प्राणेन–अनभ्युदितं, न मनुते, न पश्यति, न शृणोति, न प्राणिति (अपितु) येन–वाक्–मनः–चक्षूंषि–श्रोत्रं–प्राणः–अभ्युद्यते, मतम्, पश्यति, श्रुतं, प्रणीयते,—
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि–नेदं यदिदं (प्रतिरूपं) उपासते ॥

—तलवकारोपनिषत्–१ खण्ड । ४,५,६,७,८, ।

६–प्रतिबोध–(प्रति–प्रतिरूप)–विदितंमतं–अमृतत्त्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्य्यं, विद्यया (समदर्शनेन) विन्दतेऽमृतम् ॥

७–इह चेत्–अवेदीत्, अथ सत्यमस्ति । न चेदिहावेदीत्–महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—तलवकारोपनिषत २ खं० ४।५।

८–मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।

—कठोपनिषत् ४।११

९–अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

—कठोपनिषत ५।६

१०–तदेव शुक्रं (विकृतिः), तद्ब्रह्म (प्रकृतिः), तदेवामृतं (पुरुषः) उच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदुनात्येति कश्चन–एतद्वै तत् ॥

—कठोपनिषत्–५।८।

११-यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।५।

१२-एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

१३-विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति, सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।२,३,।

१४-य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

—श्वे० ४।१

१५-य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थोदधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः सनो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

—श्वे० ४।१

१६-प्रजापतिश्चरसि गर्भे, त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति, यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥

१७-देवानामसि वह्निसमः, पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं, सत्यमथर्व्वाङ्गिरसामसि॥

१८-इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि, सूर्य्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥

१९-यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण। ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति॥

२०-व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पितात्वं मातरिश्वनः ॥
—पिप्पलादोपनिषत् २ प्रश्न, ।७,८,६,१०,११, ।

२१-एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
—श्वे० ६।१५।

२२-तदेवाग्नि, स्तदादित्य, स्तद्वायु, तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदाप, स्तत् प्रजापतिः ॥

२३-त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार, उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

२४-नीलः, पतङ्गो, हरितो, लोहिताक्ष, स्तडिद्गर्भ, ऋतवः, समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥
—श्वे० ४।२,३,४, ।

२५-एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ॥
ऋक् सं०

२६-इन्द्रं, मित्रं, वरुण, मग्नि, माहु-रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋकसं० १।१६४।४६ ।

२७-तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेकं ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।१०।

२८-षड्भाराँ एको अचरन् बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः ।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ॥
—ऋक्सं० ३।५६।३।

२६-"अर्थात् आत्मादेश आत्मैवाऽधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वम् इति। स वा एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्-आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्मयुनः, आत्मानन्दः-स स्वराड्भवति, तस्यसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ प्र० ।२५ खं० । २ कं० ।

३० "स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेद। अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति। आत्मेत्येवोपासीत अत्र ह्येते (प्रतिरूपाभावाः) सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्-पदनीयमस्य सर्वस्य, यदमात्मा। अनेन ह्येतत् सर्वं वेद"।

—बृहदारण्यकोपनिषत् १।४।७

३१-"तदिदमप्येतर्हि-य एवं वेद-'अहं ब्रह्मास्मी'ति, स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स (उपासकः) भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते-'अन्योऽसौ, अन्योऽहमस्मी' तिन स वेद। यथा पशुः, एवं स देवानाम्"

—बृ० उ० १।४।१०

* * * *

५४-जीवनाम्ना व्यवहृत शरीरात्मक ससंज्ञान्तःसंज्ञासंज्ञादिविवर्तमाध्यमेन उपास्य महाप्रत्यय के प्रति स्वकीयाल्पप्रत्यय का अजस्रप्रवाहण, तदुपासना के विवर्तों का उपबृंहण—

उक्त श्रुतियों द्वारा सवव्यापक जिस आत्मब्रह्म का उल्लेख हुआ है, वही अध्यात्मप्रतिरूप के माध्यम से उपास्य है। उपास्य सर्वेश्वरब्रह्म के शरीरात्मक महाविश्व के गर्भ में ससंज्ञ (चेतन), अन्तःसंज्ञ (अर्द्ध-चेतन), असंज्ञ (अचेतन), जितने भी विवर्त्त हैं, सब 'जीव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इनके माध्यम से उस महाप्रत्यय के प्रति अपने अल्पप्रत्यय (ज्ञान) को अजस्ररूप से प्रवाहित करना ही उपासना है जिसके आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक, भेद से तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन तीनों के आगे जाकर जीवसर्ग भेद से अवान्तर अनेक विवर्त्त होजाते हैं। ईश्वरीय चतुर्द्दशविध भूतसग का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में (२४७ पृष्ठ) यह बतलाया गया था कि, अव्ययप्रधान स्वयं ईश्वरविवर्त्त आधिदैविक विवर्त्त हैं, अष्टविधदेवयोनिसर्ग-पञ्चविधतिर्य्यक्सर्ग, ये १३ सर्ग आध्यात्मिक विवर्त्त हैं, एवं ओषधिवनस्पतिरूप अर्द्धचेतनवर्ग, पाषाणलोष्टादिरूप अचेतनवर्ग, उभयसमष्टिरूप १४ वां सर्ग आधिभौतिक विवर्त्त हैं। प्रदर्शित वहाँ के त्रिपीठात्मक-परिलेख की १-२-३ इन तीन पीठिकाओं में क्रमशः इन्हीं तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए यह सिद्ध किया गया था कि, आधिदैविक विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूप-प्रत्ययालम्बनता समष्टिलक्षण चेतन

ईश्वरप्रतिरूपविधा, व्यष्टिलक्षण अचेतन–सूर्य्यादिप्रतिरूपविधा, भेद से दो भागों में विभक्त है। उक्त विधाद्वयी का केवल स्थूलदृष्टिकोण से ही सम्बन्ध समझना चाहिए। वस्तुत: इस आधिदैविकप्रतिरूपविधा के सर्गभेद से चार विवर्त्त होजाते हैं। समष्टिरूप प्रतिरूपविधा एक स्वतन्त्र आधिदैविकविधा है। दूसरी व्यष्टिरूपप्रतिरूपविधा के चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन, भेद से तीन विवर्त्त होजाते है। सम्भूय दो के चार आधिदैविकविवर्त्त बन जाते हैं। दूसरी प्रक्रान्त आध्यात्मिकविधा के भी उसी सर्ग भेद से चार विवर्त्त होजाते हैं। एवमेव तीसरी आधिभौतिकविधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं। सम्भूय तीन विवर्त्तों के १२ विवर्त्त, किंवा १२ प्रतिरूपविधा होजातीं हैं। प्रश्नस्वाभाविक है कि, इन १२ प्रतिरूपविधाओं का मूल क्या है ?। प्रश्नसमाधि के लिए ईश्वर-सर्ग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

५५–अधिदैवतादि त्रिविभागभक्त विश्वसर्ग एवं परावर अक्षर ब्रह्म का प्रतिष्ठा ज्योतिः यज्ञ त्रिसर्ग प्रवर्तकत्व—

क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान, महामायावच्छिन्न, सगुणेश्वर से उत्पन्न विश्वविवर्त्त, किंवा विश्वसर्ग को आरम्भ में स्थूलदृष्टि से अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, इन तीन भागों में विभक्त माना जासकता है 'अवर' नामक क्षर से पर, तथा 'पर' नामक अव्यय से अवर कोटि में प्रतिष्ठित, अतएव 'परावर' नाम से प्रसिद्ध अक्षरपुरुष ही (प्रकृति ही) इस ओर के क्षर की अर्थमात्रा से सर्ववित् बन कर, उस ओर के अव्यय की ज्ञानमात्रा से सर्वज्ञ बन कर, अपनी क्रियाशक्ति से प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ, सर्वप्रथम इन तीन सर्गों का प्रवर्त्तक बनता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म–नामरूप–मन्नञ्चजायते॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

---

* ब्रह्म–प्रतिष्ठा }
नामरूपे- ज्योतिः } अन्नम्–यज्ञः।

५६–अस्त्वण्डादि अण्डसर्गप्रवर्तक अक्षर प्रजापति का ऋक्-साम-यजुस्त्रयी ब्रह्म-प्रतिष्ठात्व, प्रतिष्ठा लक्षणत्रयी–ब्रह्म के खं-वायु-ज्योति-रापः-पृथिव्यात्मक पञ्चविवर्त, एवं विवर्तान्तरों का उपवर्णन—

'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'–'प्रतिष्ठाह्ये तद्ब्रह्म' इत्यादि के अनुसार ऋक्–साम–यजुर्लक्षणा त्रयी–ब्रह्म ही वह प्रष्ठितत्त्व है, जिस पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरु–पुरुषात्मक अक्षरप्रजापति तपद्वारा अस्त्वण्ड, पोषाण्ड, रेतोऽण्ड, यशोऽण्ड, आदि आण्डसर्गों के प्रवर्त्तक बनते हैं। (देखिए शत० ६।१।१। ब्रा०)। त्रयीवेदप्रतिष्ठा के ऋक्–सामपर्व आयतन बनते हैं, आवपन बनते हैं। इनमें अन्तर्भुक्त यजुःपुरुष का यत्–भाग प्राण है, जू भाग वाक् है। वाक् आकाश है, प्राण सुसूक्ष्मवायु है। वायुव्यापार (प्राणव्यापार) से आकाश (वाक्) का अंशभाग संघर्ष से युत होकर अप्सर्ग का कारण बनता है–**'सोऽपोऽसृजत, वाचएव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'**। अनन्तर इसी क्रम से अग्निमयसूर्य्य, आपोमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी

का प्रादुर्भाव होता है। प्रारम्भिक जू भाग आकाश है, तदुत्पन्न आपः पारमेष्ठ्य वायु है, तदुत्पन्न सूर्य्य ज्योति है, तदुत्पन्न चन्द्रमा आपः, है, सर्वान्त में पृथिवी है। इसप्रकार प्रतिष्ठालक्षण त्रयीब्रह्म के खं-वायुः-ज्योतिः-आपः-पृथिवी ये पाँच विवर्त्त होजाते हैं। धारणात्मिका प्रतिष्ठा का अन्तिम पर्व पृथिवी है। यही पञ्चमहाभूतात्मक महाविश्व उस प्रजापति की पहिली ब्रह्मलक्षण (वेदमूला-वेदात्मिका) प्रतिष्ठासृष्टि है, जिसे हम 'आधिदैविकसर्ग कहेंगे। यही आगे जाकर नाम-रूपात्मिका ज्योति का जनक बनता है। नाम-रूप, (कर्म्म भी) ही भौतिकविश्व का प्रकाश है। यही उसका दूसरा आधिभौतिक विवर्त्त है। प्राण-मन-इन्द्रियवर्ग-आदियुक्त अध्यात्म की सृष्टि ही अन्नसृष्टि है, जिसे अग्नि-सोममयी होने से यज्ञसृष्टि भी कह सकते हैं। इस प्रकार वह सर्वज्ञ-सर्ववित् अक्षर ब्रह्मात्मिकाप्रतिष्ठालक्षण आधिदैविकीसृष्टि, नामरूपकर्म्मात्मिका ज्योतिर्लक्षणा-आधिभौतिकसृष्टि, एवं अन्नात्मिका (अग्नीसोमय) * यज्ञात्मिका आध्यात्मिकी सृष्टि, इन तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बनता है, जिनके आगे जाकर अनेक अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं।

अव्ययसम्बन्धेन	स्वाक्षरसंम्बन्धेन	क्षरसम्बन्धेन
सर्वज्ञः	—* सर्वशक्तिः *—	सर्ववित्

अक्षरप्रजापतिः--तस्मात्

एतत्--

आधिदैविकसर्गः—१-ब्रह्म—खं-वायु-र्ज्योति-रापः-पृथिवीलक्षण 'प्रतिष्ठा'

आधिभौतिकसर्गः—२-नामरूपम्-नामरूपकर्म्मात्मकं 'ज्योति':

आध्यात्मिकसर्गः—३अन्नं च——अग्निः-सोममयो-'यज्ञः'

जायते

---

*—'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर !

—गी०

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

—गी०

÷—"यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति"॥

'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमांगतिम्'

—गीता ८।२१

५७-आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक विवर्तों का निमित्तकारण अक्षर पुरुष, उपादान-कारण क्षर पुरुष एवम् "तस्यैव मात्रा मुपादाय सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति" राद्धान्तेन अव्ययपुरुष का विवर्तत्रय मूलकारणत्व—

अव्यय-क्षर-धर्म्मानुगत मध्यस्थ प्रकृतिरूप अक्षर पुरुष आधिदैविकादि तीनों विवर्त्तों का निमित्त कारण है, तो स्वयं अव्ययपुरुष अधिष्ठान (आलम्बन), तथा क्षरपुरुष उपादान कारण है, जिन कारणताओं का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इसप्रकार यद्यपि तीनों का ही कारणत्व सिद्ध होजाता है, तथापि **'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाणिभूतान्युपजीवन्ति'** सिद्धान्तानुसार तत्त्वतः मूलकारण अकारणरूप अव्ययपुरुष ही माना जाएगा। कारण स्पष्ट है। क्षर वाङ्मय बनता हुआ अर्थशक्तिमय है, अक्षर प्राणमय बनता हुआ क्रियाशक्तिमय है। उधर अव्यय मन--प्राण--वाग्घन बनता हुआ सर्वघन है **"सामान्ये सामान्यभावः"** न्यायानुसार मन-प्राण-वाक्-रूप सामान्यभावों में अन्य मन-प्राण-वाग्भावों का अभाव है, अतएव सल्लक्षणप्राण जैसे 'असत्' कहलाया है, एवमेव मनः-प्राण-वाग्घन अव्यय को अमना-अप्राण-अवाक् कहा जाएगा, जिसका तात्पर्य्य होगा-मनःप्राणवाग्रूपः, मनः प्राणवाग्घनः। अक्षर मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ समना-सप्राण-सवाक् है। **'स वा एष आत्मा वाङ्--मयः प्राणमयो मनोमयः। सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति से उपवर्णित मनःप्राणवाङ्मय, काम--तपः--श्रम-व्यापाराधिष्ठाता आत्मा अक्षर ही है। एवमेव क्षर भी वाङ्मय बनता हुआ सवाक् है। परन्तु मनःप्राणवाग्रूप अव्यय तो अमना--अप्राण--अवाक् ही है। इन तीन कोशों के अतिरिक्त आनन्द, विज्ञान, नामक दो अव्यय कोश और हैं। पञ्चकोशात्मक इस अव्ययकोश की आनन्द--विज्ञान--मनः-प्राण--वाङ्--मात्राओं को ले ले कर ही अक्षर--क्षरप्रकृतियाँ निमित्त उपादान कारण बन रही हैं। अतएव अव्यय को ही सर्वत्रयी का मूलप्रभव माना जासकता है। **'प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्'** (गी०········)--**'मत्तः परतरंनान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** इत्यादि स्मृतियाँ भी अव्यय की ही आदिकारणता का समर्थन कर रही हैं। अव्यय की इसी मूलकारणता का समर्थन करती हुई मुण्डक श्रुति कहती है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥१॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥२॥

५८–अणवणीयस (अणु–अणुतर) महाविश्व में व्याप्त "सर्वभूतान्तरात्मा" सगुणेश्वर, इस आधिदैविक (सर्वभूता०) के मुण्डक-निरूपित आधिभौतिकात्मक विवर्त द्वय एवम् चन्द्र-सूर्य्य-वायु-पृथिवी-पर्जन्य-संवत्सरप्रभृति आधिदैविक तपःश्रद्धासत्यास्तिक्य-ब्रह्मचर्य्यादि आध्यात्मिक एवम् समुद्र-गिरि-सर्वरसादि यच्चयावत् आधिभौतिकपर्वों का एतस्मिन् उपनिषन्निरूपितेऽन्तर्भावः—

पञ्चमहाभूतात्मक महाविश्व में अणोरणीयान्–रूप से व्याप्त आधिदैविक विवर्त्तात्मक उक्त लक्षण यही सगुणेश्वर 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से व्यवहृत हुए हैं। आधिदैविक विवर्त्तात्मक इसी सर्वभूतान्तरात्मा के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन दो गर्भीभूत विवर्त्तों का मुण्डकश्रुति में विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में ही देखना चाहिए। चन्द्रमा, सूर्य्य, वाङ्मय स्वायम्भुव सत्यवेद, वायु, पृथिवी, पर्जन्य, सम्वत्सर, यच्चयावत् वैध यज्ञ, तन्तुदेवता, यज्ञियदेवता, साध्य–देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, औषधि–वनस्पतियाँ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, विधि, सप्तप्राण, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तलोक, समुद्र, पर्वत, सिन्धु, सर्वरस, आदि आदि यच्चयावत् आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधि–भौतिकपर्व इसी सर्वभूतान्तरात्मा के व्यापक स्वरूप में अन्तर्भूत हैं, जिनका निम्नलिखित वचनों से विश्लेषण हुआ है—

(आधिदैविक विवर्त्त)–**अग्निर्म्मूर्द्धा, चक्षुषी चन्द्र-सूर्य्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्चवेदाः ।**
वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी,–ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥१॥

(आधिभौतिकविवर्त्त)–**तस्मादग्निः-समिधो यस्य सूर्य्यः, सोमात् पर्जन्य, ओषधयः पृथिव्याम् ।**

(आध्यात्मिकविवर्त्त)–**पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥२॥**

* * *

(अधियज्ञविवर्त्त)–**तस्मादृचः साम यजूंषि, दीक्षा, यज्ञाश्च सर्वे, क्रतवो, दक्षिणाश्च ।**
सम्वत्सरं, यजमानश्च, लोकाः.........................

* * *

आधिदैविकविभूतयः)–............................ **सोमो यत्र पवते, यत्र सूर्य्यः ॥३॥**
तस्माच्चदेवा बहुधा सम्प्रसूताः, साध्याः................ ।

(आध्यात्मिकविभूतयः)–……………………………मनुष्याः, पशवो, वयांसि ।

(जीवनविभूतयः)–प्राणापानौ व्रिहि–यवौ…………………………… ।

(धर्म्मविभूतयः)–……………तपश्च, श्रद्धा, सत्यं, ब्रह्मचर्य्यं, विधिश्च ॥४॥

अर्कविभूतयः)–सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः, समिधः, सप्तहोमाः ।
सप्त इमे लोका, येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥

(आधिभौतिकविभूतयः)–अतः समुद्रा, गिरयश्चसर्व्वेऽ, स्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्व्वा ओषधयो, रसश्च, येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६॥

उपसंहारः–पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥७॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।४।५।६।७।८।६।१०, ।

* * *

५६–आधिदैविक जीवसर्ग का कर्म्मफलभोगानुबन्ध-राहित्य दिग्दर्शन एवं सृष्टिस्थितिलय त्रिकाद्ययुग्म-पर्य्यन्त इन (अग्नि वायु सूर्य्य वरुणादि प्राणात्मक, वामन-वराह-कूर्म्म-मत्स्यादि नित्यावतारात्मक देवों) का कर्म्म संलग्नत्व–(ईश्वरवत्-तद्द्वारैव प्राप्ताधिकारानुरोधेन) एवम् प्रतिसञ्चरकाल में ईश्वराव्ययात्मनि अन्तर्हितत्व—

अब हमें विचार यह करना है कि, उक्त विवर्त्तत्रयात्मक सर्वभूतान्तरात्मा का जीवसर्ग किन अवान्तर भागों में विभक्त है ? सबसे पहिले क्रमप्राप्त आधिदैविक–जीवसर्ग के चारों विवर्त्तों पर ही दृष्टि डालिए । आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले चारों ही जीवसर्ग आधिकारिक हैं । इनका कर्म्मफल भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु ईश्वरवत् ईश्वरद्वारा प्राप्त अधिकार की रक्षा के लिए ये चारों आधिदैविक आधिकारिक जीव यावत् सृष्टिस्थितिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म्म में संलग्न रहते हैं । प्रतिसञ्चरकाल में इन चारों का उसीं महती ईश्वरसत्ता में अव्यय होजाता है । त्रिणाचिकेतादि सप्त आधिदैविक देवस्वर्गों में प्रतिष्ठित अग्नि, वायु, आदित्य, वरुण, इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म, अप्सरसांगण आदि परिगणित स्वर्गीय प्राणदेवता, 'वामन–वराह–कूर्म्म–मत्स्य–आदि परिगणित नित्यावतारदेवता, इन आधिदैविक चेतनदेवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग हैं । स्तौम्यत्रिलोकी में व्याप्त त्रिविक्रम वामन विष्णु, पिण्डरक्षक वाय्वात्मक वराह, कूर्म्मा-

त्रिलोकी में प्रतिष्ठित पश्यक कश्यप, आदि नित्य प्राकृतिक चेतन अवतार हैं। निम्न लिखित श्रुतियाँ उक्त स्वर्गीय प्राणदेवताओं, तथा नित्यावतारों के तात्त्विक स्वरूपों का ही विश्लेषण कर रही हैं।

स्वर्गीयदेवदेवतावर्गः—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्य—अग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं,
स आदित्यलोकं स वरुणलोकं स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम् ×
इन्द्र-प्रजापती द्वारगोपौ। × तंपञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति—

शतं चूर्णहस्ताः, शतं वासो हस्ताः, शतं फलहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं माल्यहस्ताः। * * *

—कौषीतक्युपनिषत्, पर्य्यङ्कविद्या—१।३।

* * *

नित्यावतारवर्गः-(वामनावतारः) (१) "अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
आग्नेयः पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥१॥

इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूलहमस्य पांसुरे ॥२॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्म्माणि धारयन् ॥३॥
विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥६॥

—ऋक् सं० १ २२।१६,१७,१८,१९,२०,२१ मं०।

"विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तर सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः" ॥

—ऋक्सं० १।१५४।१।

(२)–"'अथाक्रमते–'विष्णुस्त्वाक्रमता' मिति । यज्ञो वै विष्णुः । स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे–या एषामियं विक्रान्तिः । इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार, अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन, दिवमुत्तमेन—शत० १।१।२।१३।

"वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे । ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्यछन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्"—शत० १।२।२।४।५।

* * *

(वराहावतारः)— (१)–"प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति ।
वायव्यः महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येतिरेभन् ॥
—सामसं० पू० ६।४।२।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृत् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥"
—अथर्व सं १२।१।४८।

(१)–"अथ वराहविहतम् । 'इयती' अग्रऽआसीत्–इति । इयती ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री । तामेमूष इति वराह उज्जघान । सोऽस्याः पतिः, प्रजापतिः"
—शत० १४।१।२।११

* * *

(कूर्म्मावतारः) (१)–"सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसोदर्विदा ते वायवे बृहस्पतये
त्रैलोक्यरसात्मकः वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवो मद्गुमत्स्यस्ते नदीपतये—
—द्यावापृथिवीयः कूर्म्मः यजुः सं० २४।३४।

(२)–"सोऽकामयत–आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयामिति । तां संक्लिश्य–अप्सु प्राविध्यत् । तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्" ।
—शत० ६।१।१।१२।

"रसो वै कूर्म्मः । यो वै स एषां लोकानामप्सुप्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्म्मः । + + + + । स यत् कूर्म्मो नाम–एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत–अकरोत्तत् । यदकरोत्–तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः–सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः–इति ।"
—शत० ७।४।२।१,५, ।

* * *

(मत्स्यावतारः) (१)–"मनवे ह वै प्रातरवनेग्यमुदकमाजहुः । तस्यावनेनिजानस्य
आख्यः मत्स्यः पाणी आपेदे । स हैवास्मै वाचमुवाद–बिभृहि
मा !, पारयिष्यामि त्वा–इति ।"

* * * —शत० १।८।१।१,

६०–व्यष्टिरूपा आधिदैविक विवर्तत्रयी के प्रथम विवर्त "आधिकारिक चेतन जीव" नाम्ना व्यवहृत स्वर्गीय प्राणदेवता और नित्यावतार, "इल्य" नामा स्वर्गीयवृक्षादि द्वितीय विवर्त एवम् "विजरा नदी" प्रभृति अचेतन आधिकारिक तृतीय विवर्त, सम्भूय चत्वारो विवर्ताः—

स्वर्गीय प्राणदेवता, तथा नित्यावतार, दोनों सर्ग आधिदैविक, साथ ही आधिकारिक हैं । अतएव इन्हें–हम 'आधिदैविक आधिकारिक चेतनजीव' कह सकते हैं । यही व्यष्टिरूपा आधिदैविक विवर्त्तत्रयी का पहिला चेतन विवर्त्त है । दूसरा अर्द्धचेतन आधिदैविक आधिकारिक विवर्त्त है, जिस का स्वर्गस्थान से ही सम्बन्ध है पर्य्यङ्कविद्या में उपवर्णित 'इल्य' नामक स्वगीय वृक्षादि अर्द्धचेतन–आधिकारिक जीव हैं । एवं विजरा नदी, सालज्य संस्थान, विचक्षण आसन्दी, अमितौजा पर्य्यङ्क, इत्यादि स्वर्गीय अचेतन पदार्थों, तथा सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि अचेतन गोलकों का आधिदैविक आधिकारिक अचेतन जीवों में अन्तर्भाव है । इसप्रकार ईश्वरीय आधिदैविक विवर्त्त में सम्भूय चार आधिकारिक विवर्त्त होजाते हैं । चारों के प्रतिरूपों के आधार पर आधिदैविक प्रतिरूपविधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

२–आधिदैविक प्रतिरूपविधा चतुष्टयी—

१ (१)–सप्तवितस्तिकायः, महामायी–विश्वेश्वरः—आधिकारिकश्चेतनेश्वरः समष्टिरूपः आधिदैविकः

२ (१)–अग्निवाय्वादिदेवाः, वामनवराहादि-आधिकारिकाश्चेतनाः आधिदैविकाः जीवाः ससंज्ञा-व्यष्टिरूपाः

३ (२)–ईल्यादयः स्वर्गीयवृक्षाः——आधि० अर्द्धचेतनाः आधिदै० जीवाः अन्तः संज्ञा–व्य० ।

४ (३)–स्वर्गसम्भाराः, सूर्य्य–चन्द्र–ग्रहादिगोलकाः—आधि०-अचेतनाः आधिदै० जीवाः–असंज्ञाः-व्य० ।

सैषा–आधिदैविकप्रतिरूपविधा–चतुर्द्धा विभक्ता द्रष्टव्या

--२--

* * * *

३-आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा (४)

६१-आधिदैविक प्राकृतिक प्रतिरूपविधा चतुष्टयनन्तर क्रमागताध्यात्मिक प्रतिरूपविधा चतुष्टयी का निरूपण—

आधिदैविक प्राकृतिक प्रतिरूपविधा-चतुष्टयी के अनन्तर क्रम प्राप्त आध्यात्मिक-प्राकृतिक-प्रतिरूप-विधा चतुष्टयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस विधा के चारों विवर्त्तों के साथ केवल चेतन जीवों का ही सम्बन्ध है। आध्यात्मिक जीवसर्ग युगधर्म्मानुगत अवतारजीव, नित्यचान्द्रजीव, अनित्य-चान्द्रजीव, अनित्य पार्थिवजीव, भेद से चार भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। चारों में पहिले के दो जीवसर्ग (अवतारजीव, नित्यचान्द्रजीव) ईश्वराधिकारसिद्ध सृष्टिकर्म्म में सहयोग रखते हुए, अतएव कर्म्मफलभोग से पृथक् रहते हुए आधिकारिक हैं। उत्तर के दो जीवसर्ग (अनित्य चान्द्रजीव,) अनित्यपार्थिव-जीव) कर्म्मफल भोक्ता बनते हुए औपपतिक हैं। इन्हीं चारों का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

६२-अखिल पार्थिव प्राणि सर्ग की सुखशान्ति का उत्तरदायी मानव, सृष्टि का शाश्वत धर्म्म "आर्ष" किंवा "सनातन" धर्म्म, मानवकृत अनुकूल-प्रतिकूलाचरण का सर्ग पर प्रभाव एवं प्रतिकूलाचरण क्षुब्ध प्रकृति प्रभावापन्न नित्ययुक्त-पुरुष का मानव शरीरावतार—

"मानवसमाज पर सम्पूर्ण पार्थिव प्राणिवर्ग की सुखशान्ति का उत्तरदायित्व है। यदि मानवसमाज प्रकृति के अनुकूल अपने कर्म्मकलाप का अनुष्ठान करता रहता है, तो प्राकृतिक वातावरण शान्त निरुपद्रव बना रहता हुआ समय पर अनुग्रह करता रहता है। विकृतिरूप मानव समाज प्रकृति का अवयव है। अव-यव शान्ति ही अवयवी की शान्ति का मूलकारण माना गया है। प्राकृतिक नियम समष्टि का ही नाम शाश्वत-धर्म्म है, जो वैज्ञानिक-मानव समाज में, ऋषिसम्प्रदाय में 'आर्षधर्म्म'-सनातनधर्म्म' आदि नामों से प्रसिद्ध है। धर्म्माचरण से प्राकृतिक विवर्त्त यथावस्थित रहता है। यदि अपने प्रज्ञापराध से (जिस के उत्पादक असत्-शिक्षा, सङ्गदोष, अन्नदोष, अज्ञान, आदि माने गए हैं)-मानव समाज प्रकृतिविरुद्ध आचरण करने लगता है, अधर्म्मपथ का अनुगमन करने लगता है, तो प्रकृति क्षुब्ध हो जाती है। क्षुब्ध प्रकृति के कोप से अनावृष्टि, अतिवृष्टि, करकापात, भूकम्प, अकालमृत्यु, जनपदविध्वंसिनी, आदि आदि उपद्रव होने लगते हैं। यदि प्रज्ञापराध साधारण-होता है, तब तो मानव समाज के शिष्ट पुरुष अपने आदेशोपदेशों से स्थिति को संभालते हुए प्राकृतिक कोप शान्त कर देते हैं। यदि प्रज्ञापराध सीमा का उल्लंघन कर जाता है, तो उस अवस्था में शिष्ट पुरुषों के उद्योग व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं, और फलस्वरूप प्रकृति का आत्यन्तिक क्षोभ अनि-वार्य्य बन जाता है। इस प्राकृतिक क्षोभ का प्रभाव प्रकृति से नित्ययुक्त पुरुष पर पड़ता है। पुरुष भी क्षुब्ध हो पड़ता है। क्षुब्ध पुरुष अपने अंशरूप से मानव-शरीर में अवतीर्ण होता है। जिस स्थिति का-**'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया'** (गी०) शब्दों से विश्लेषण हुआ है।

६३–धर्मग्लान्यधर्म्माभ्युत्थानोपशमनार्थ आधिदैविक आधिकारिक सगुणेश्वर का अंशावतार, "यदा यदा हि धर्मस्य" श्लोकानुगत्य पर भारतीयों की अविच्छिन्न–दृढ़ास्था एवं नित्यानित्यावतारस्वरूप निर्वचन—

इसप्रकार युगधर्म्मानुग्रह से समय समय पर होने वाली धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए, साधुवर्ग के त्राण के लिए, धर्म्म (प्राकृतिक नियमों) के पुनः स्थापन के लिए तत्तत् समय विशेषों में आधिदैविक–आधिकारिक–सगुणेश्वर का अंशावतार हुआ करता है। एवं अपने इस आधिकारिक, योगमायावच्छिन्न * अवतार पुरुष सगुणेश्वर द्वारा प्राप्त अधिकारबल से स्वाधिकारानुगत कर्त्तव्य–कर्म्म समाप्त कर पुनः स्वप्रभव में विलीन हो जाते हैं"। यह आर्य्य जाति का चिरन्तन विश्वास है, जिस की मूलप्रतिष्ठा आर्षशास्त्ररूप आप्त–वचन माना गया है। तत्सामयिक होने से ही हम इन राम–कृष्ण–कल्कि–नृसिंहादि मानवावतारों को अनित्यावतार कह सकते हैं। वामन–वराहादि अनित्यावतार जीव जहां आधिकारिक–चेतन–ससंज्ञ–आधिदैविक जीवमाने गए हैं, वहां राम–कृष्णादि अनित्यावतारजीव आधिकारिक–चेतन–ससंज्ञ–आध्यात्मिक जीव माने जाएँगे। क्योंकि, वामनादि नित्यावतार जहां ईश्वरीय महामाया से युक्त हैं, वहां मानवावतार जीवानुगत योग–माया से युक्त रहते हैं। महामाया जहां आधिदैविक विवर्त्त की प्रतिष्ठा है, वहां योगमाया आध्यात्मिक विवर्त्त की प्रतिष्ठा मानी गई है *।

६४–सूर्य्याद्यचेतना––धिदैविकजीवेषूपास्यप्रत्ययालम्बनाशक्तिमज्जनार्थम् अनित्य मानवावतारेष्वपि स्वप्रत्ययालम्बनेन लक्ष्यावाप्ति–निरूपणम्, भरत––व्याध––विभीषण––हनूमद्–व्यास–भीष्माज्जुर्न–भिल्लपुरन्ध्रि–कुब्जा–विदुरादिद्वारा एवञ्च तत्तदनित्य–मानवावतारकालात्ययेऽपि तत्प्रतीकद्वारा श्रद्धाजुषाम्प्रत्ययालम्बनसाफल्य निरूपणम्—

समष्टिलक्षण आधिदैविक सगुणेश्वर की व्यष्टिलक्षण नित्यावतारजीव, अर्द्धचेतनजीव, सूर्य्यादि अचेतनजीव, इन तीनों आधिदैविक तत्त्वात्मक जीवों की प्रत्ययालम्बनता में भी जो अधिकारी असमर्थ हैं, वे इन मानवावतारों में से किसी एक के प्रतिरूप को स्वप्रत्यय का आलम्बन बना कर लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं।

---

*–भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्ल मल्लिकाः।
वीक्ष्य, रन्तुं मनश्चक्रे योगमायासमावृतः॥

—श्रीमद्भागवत १० स्क० पू० रासपञ्चाध्यायी।

---

*–"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गी० ७।२५।

तत्तदवतारपुरुषों के तत्तद्युगविशेषों में तत्तदवतारपुरुष समकालीन–भरत–व्याध–विभीषण–हनूमान्–व्यास–भीष्म–अर्जुन–भिलनी–कूबरी–विदुर–आदि आदि तत्तन्मानवविभूतियों ने इसी मानवावतार माध्यम से लक्ष्य प्राप्त किया था। अवतारपुरुषों के लीलासंवरण कर जाने के अनन्तर भी उन के शास्त्रीय शब्दोपवर्णन के आधार पर–**'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'** न्याय से उन उन अवतार पुरुषों की ज्ञानीय प्रतिमा बना कर ध्यानयोग से तद्योगियों ने तत्पद प्राप्त किया है। कुछएक ने अवतारपुरुषों की प्रतिमाएँ बना कर अपनी प्रत्ययालम्बनता को सफल बनाया है। भौतिक अवतारप्रतिरूप (पाषाणादि विनिर्मित प्रतिमाएँ) कृत्रिम हैं, ज्ञानीय प्रतिरूप प्राकृतिक हैं। अपने अन्तर्जगत् में शब्दज्ञानाधारेण अवतारस्वरूप की भावना करने वाले भक्तों के लिए उपास्यतत्त्व तत्प्रतिरूप से ही समुपस्थित होजाते हैं। प्राकृतिक प्रतिरूपों के एवंविध आध्यात्मिक भक्त ध्यानयोगी) ही उदाहरण बनते हैं। यही आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा का उदाहरण माना जाएगा। भौतिकप्रतिरूपों (धातु–पाषाणमयी प्रतिमाओं) का तो भौतिक प्रतिरूपविधा से ही सम्बन्ध है, जैसा कि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, मानवावतार आधिकारिक आध्यात्मिक जीव हैं, इन के प्रतिरूप माध्यम से भी परम्परया उपास्य के प्रति स्वप्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है। यही आध्यात्मिक विवर्त्त की प्रथमाविधा है।

६५-चन्द्रमण्डलानुबन्धी द्वितीय आध्यात्मिक जीव वर्ग, प्राकृतिक वैकारिक विवर्त्तभिन्न (भिदावाप्त) अष्टाविंशतीन्द्रियात्मक "आपात" जीव, वैकारिक चान्द्रजीवों का अध्यात्मप्रतिरूपविधात्मक प्रत्ययालम्बन एवम् भूत-प्रेत-पिशाच–गुह्यकादि चान्द्र देवयोनियों का पश्चिमाम्नायसम्बन्धि "उपासना" न्वय—

दूसरा आध्यात्मिक जीववर्ग चान्द्रमण्डल से सम्बन्ध रखता है। आधिदैविकविधा-प्रकरण में प्रदर्शित परिलेख में ब्रह्म, प्रजापति, आदि जिन अष्टविध, २८ इन्द्रियात्मक, सौम्य जीवों का उल्लेख हुआ है, वे ही पुरुषविध चान्द्र देवता हैं। इन में केवल पादप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव इन्हें 'आपात्'–जीव माना गया है। इन के प्राकृतिक, वैकारिक, भेद से दो विवर्त्त हैं। प्राकृतिक चान्द्रदेवता ईश्वरीयसृष्टि–कर्म्म में नियुक्त रहते हुए आधिकारिकजीव हैं। ये नित्यधर्म्मा हैं। मानवशरीर परिच्छिन्न जीवात्मा भी तत्तद्विशेष कर्म्मातिशयों से तत्तद्विशेष चान्द्रदेवस्वरूपों में परिणत हो सकता है। ये ही कर्म्मफलभोक्ता चान्द्रदेवता औपपातिक जीव हैं, जिन्हें वैकारिक जीव भी माना गया है। इसप्रकार आधिकारिक, औपपातिक-वैकारिक, भेद से चान्द्रदेवों के दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों ही ससंज्ञहोने से चेतन जीव हैं। आधिकारिक चेतन प्राकृतिक अष्टविध चान्द्रदेवताओं में से किसी को प्रत्ययालम्बन बनाना एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है, एवं औपपातिक चेतन वैकारिक-कर्म्मफलभोक्ता चान्द्रजीवों में से किसी को भी प्रत्ययालम्बन मानना अन्यप्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है। आगमशास्त्रोपवर्णित उपासनामार्ग की प्रतिरूपविधा का प्रधानतः आधिकारिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है, एवं आगमशास्त्र के ही अङ्गभूत पश्चिमाम्नाय से सम्बन्ध रखनेवाली भूत–प्रेत-पिशाचादि उपासनामार्ग का औपपातिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है। इसप्रकार चान्द्रदेवानुगता प्रतिरूपविधा के दो विवर्त्त होजाते हैं।

तत्तदवतारपुरुषों के तत्तद्युगविशेषों में तत्तदवतारपुरुष समकालीन–भरत–व्याध–विभीषण–हनूमान्–व्यास-भीष्म-अर्जुन–भिलनी–कूब्री–विदुर–आदि आदि तत्तन्मानवविभूतियों ने इसी मानवावतार माध्यम से लक्ष्य प्राप्त किया था। अवतारपुरुषों के लीलासंवरण कर जाने के अनन्तर भी उन के शास्त्रीय शब्दोपवर्णन के आधार पर–**'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'** न्याय से उन उन अवतार पुरुषों की ज्ञानीय प्रतिमा बना कर ध्यानयोग से तद्योगियों ने तत्पद प्राप्त किया है। कुछएक ने अवतारपुरुषों की प्रतिमाएँ बना कर अपनी प्रत्ययालम्बनता को सफल बनाया है। भौतिक अवतारप्रतिरूप (पाषाणादि विनिर्मित प्रतिमाएँ) कृत्रिम हैं, ज्ञानीय प्रतिरूप प्राकृतिक हैं। अपने अन्तर्जगत् में शब्दज्ञानाधारेण अवतारस्वरूप की भावना करने वाले भक्तों के लिए उपास्यतत्त्व तत्प्रतिरूप से ही समुपस्थित होजाते हैं। प्राकृतिक प्रतिरूपों के एवंविध आध्यात्मिक भक्त ध्यानयोगी) ही उदाहरण बनते हैं। यही आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा का उदाहरण माना जाएगा। भौतिकप्रतिरूपों (धातु–पाषाणमयी प्रतिमाओं) का तो भौतिक प्रतिरूपविधा से ही सम्बन्ध है, जैसा कि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, मानवावतार आधिकारिक आध्यात्मिक जीव हैं, इन के प्रतिरूप माध्यम से भी परम्परया उपास्य के प्रति स्वप्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है। यही आध्यात्मिक विवर्त्त की प्रथमाविधा है।

६५–चन्द्रमण्डलानुबन्धी द्वितीय आध्यात्मिक जीव वर्ग, प्राकृतिक वैकारिक विवर्त्तभिन्न (भिदावाप्त) अष्टाविंशतीन्द्रियात्मक "आपात" जीव, वैकारिक चान्द्रजीवों का अध्यात्मप्रतिरूपविधात्मक प्रत्ययालम्बन एवम् भूत-प्रेत-पिशाच-गुह्यकादि चान्द्र देवयोनियों का पश्चिमाम्नायसम्बन्धि "उपासना" न्वय—

दूसरा आध्यात्मिक जीववर्ग चान्द्रमण्डल से सम्बन्ध रखता है। आधिदैविकविधा-प्रकरण में प्रदर्शित परिलेख में ब्रह्म, प्रजापति, आदि जिन अष्टविध, २८ इन्द्रियात्मक, सौम्य जीवों का उल्लेख हुआ है, वे ही पुरुषविध चान्द्र देवता हैं। इन में केवल पादप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव इन्हें 'आपात्'–जीव माना गया है। इन के प्राकृतिक, वैकारिक, भेद से दो विवर्त्त हैं। प्राकृतिक चान्द्रदेवता ईश्वरीयसृष्टि–कर्म्म में नियुक्त रहते हुए आधिकारिकजीव हैं। ये नित्यधर्म्मा हैं। मानवशरीर परिच्छिन्न जीवात्मा भी तत्तद्विशेष कर्म्मातिशयों से तत्तद्विशेष चान्द्रदेवस्वरूपों में परिणत हो सकता है। ये ही कर्म्मफलभोक्ता चान्द्रदेवता औपपातिक जीव हैं, जिन्हें वैकारिक जीव भी माना गया है। इसप्रकार आधिकारिक, औपपातिक-वैकारिक, भेद से चान्द्रदेवों के दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों ही ससंज्ञहोने से चेतन जीव हैं। आधिकारिक चेतन प्राकृतिक अष्टविध चान्द्रदेवताओं में से किसी को प्रत्ययालम्बन बनाना एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है, एवं औपपातिक चेतन वैकारिक-कर्म्मकफलभोक्ता चान्द्रजीवों में से किसी को भी प्रत्ययालम्बन मानना अन्यप्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है। आगमशास्त्रोपवर्णित उपासनामार्ग की प्रतिरूपविधा का प्रधानतः आधिकारिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है, एवं आगमशास्त्र के ही अङ्गभूत पश्चिमाम्नाय से सम्बन्ध रखनेवाली भूत–प्रेत-पिशाचादि उपासनामार्ग का औपपातिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है। इसप्रकार चान्द्रदेवानुगता प्रतिरूपविधा के दो विवर्त्त होजाते हैं।

६६–मनुष्य–पशु–पक्षि–कीट–कृमिजीवों की रजस्विनी आध्यात्मिक–ससंज्ञजीव–निरुक्ति एवम् मानव प्रतिरूप विधात्मिकोपासना के समर्थक "मातृदेवोभव" "पितृदेवोभव" "आचार्य्यदेवोभव" इत्याद्यादेश—

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, ये पाँच रजोविशाल आध्यात्मिक ससंज्ञजीव हैं। कर्म्मफलभोग सम्बन्ध से ये भी औपपातिक वैकारिकजीव ही माने गए हैं। मनुष्यविध औपपातिक आध्यात्मिक जीवों में से सर्वदेवप्रतिरूपमूर्त्ति द्विज, विद्याप्रदाता आचार्य्य, माता, पिता, देवगुणविभूषित अन्य विभूतिशायी महापुरुष भी प्रतिरूपविधा से उपासना के माध्यम बनाए जासकते हैं, बनाए जाते हैं। 'आचार्यदेवोभव, मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, इत्यादि आदेश इसी मानवप्रतिरूपविधाका समर्थन कर रहे हैं। *

६७-गो वृषाश्वादि का पशु प्रतिरूपविधात्वेन प्रत्ययालम्बन निदर्शन—

पशुओं मे गौ, वृषभ, अश्व, आदि के माध्यम का भी संग्रह हुआ है। गौ सूर्य्य का, अश्व रैवन्त का प्रतिरूप है। शीतलावाहत्त्वेन तत्प्राणात्मकतया रासभ भी माध्यम बनता है। यज्ञकर्म्म में कश्यपप्रजापति शेष प्रतिरूप कूर्म्म (कछुआ) भी चितिरूप से उपास्य माना गया है। तत्तद्विशेषदेवतानुगत तत्तद्विशेष यज्ञों में तत्तद्विशेषदेवप्राणात्मक तत्तद्विशेष अज–वृषभ–गौ–अश्व–भी उपास्य माने गए हैं। इसप्रकार पशुसर्ग भी प्रतिरूपविधा का समर्थक बन रहा है।

६८–तार्क्ष्य–नीलकण्ठ–श्येन शरभादि पक्षिविशेषों का गायत्रब्रह्म नीलग्रीव–सुपर्णात्मिका-गायत्री–आगमप्रोक्त पक्षिराट् प्रातिरूप्य, एवं तत्तद् विवर्तों का विशकलन-

गरुड़पक्षी, नीलकण्ठ, श्येन (बाज), शरभ, आदि पक्षिविशेष भी प्रतिरूपविधा से प्रत्ययालम्बन बनते हैं। गरुड़पक्षी गायत्रब्रह्म का नीलकण्ठपक्षी नीलग्रीव शिवतत्त्व का श्येनपक्षी सुपर्णात्मिका गायत्री का शरभपक्षी आगमशास्त्रोक्त पक्षिराज का प्रतिरूप माना गया है। वासुकि–अनन्त–तक्षक–आदि नाग कृमि–कीटादि प्रतिरूप भावों का समर्थक बनरहा है। इसप्रकार कर्म्मफलभोक्ता रजोविशाल पाँचों वैकारिक–औपपातिक आध्यात्मिक ससंज्ञ जीवों से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपविधा भी शास्त्र में संगृहीत है, जिसका एक विभिन्न दृष्टिकोण से भक्तियोग–परीक्षा पूर्वखण्डान्तर्गत–'वेदयुग कालीन उपासना मार्ग' नामक प्रकरण में (पृ० सं० २०० से ३३९ पृ० पर्य्यन्त) भी विश्लेषण हुआ है। इन प्रतिरूपोपासनाओं के श्रौत-स्मार्त्त प्रमाण भी तत्प्रकरण में हीं उद्धृत हुए हैं। प्रस्तुत विधाओं के समन्वय के लिए तत्प्रकरण पर भी एक बार दृष्टि डाल लेनी चाहिए। प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, मानवावतार, चान्द्रनित्य–देवता, चान्द्र अनित्यदेवता, पार्थिव ससंज्ञजीव, भेद से आधिदैविक प्रतिरूपविधावत् आध्यात्मिक प्रतिरूप–विधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं। ईश्वरीयआध्यात्मिक जीवसर्ग का चातुर्विध्य ही आध्यात्मिक प्रतिरूप–विधा के चातुर्विध्य की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है।

---

* मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद–श्रुतिः।

३–आध्यात्मिकप्रतिरूपविधा–चतुष्टयी—

(१)–राम--कृष्ण-कल्कि--आदिरूपाः, युगावतारलक्षणाः, दिव्यशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, मानवावतारात्मकाः, ससंज्ञाः, आधिकारिकाः, चेतनाः–आध्यात्मिकजीवाः सत्त्वविशालाः--पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः। तत्प्रतिरूपोपासना प्रथमाविधा।

(२)--ब्रह्म--प्रजापति--पितर--इन्द्र--गन्धर्व--यक्ष--राक्षस--पिशाच--भेदभिन्नाः, अष्टविधाः, चान्द्र-मण्डले प्रतिष्ठिताः, सृष्टिकर्म्मणिनियुक्ताः, प्राकृतिकाः, नित्याः, देवयोनिलक्षणाः, सोमशरीरात्मकाः, योग-मायावच्छिन्नाः, पुरुषविधाः, पादरहिताः, २८ इन्द्रियात्मकाः, ससंज्ञाः, आधिकारिकाः, चेतनाः,–आध्यात्मिक-जीवाः सत्त्वविशाला ऊर्ध्वस्थाः–तत्प्रतिरूपोपासना द्वितीयाविधा।

(३)--ब्रह्म--प्रजापति--पितर--इन्द्र--गन्धर्व--यक्ष--राक्षस--पिशाच--भेदभिन्नाः, अष्टविधाः, पृथिवी-स्थानात् चान्द्रमण्डलेगताः, कर्म्मफलभोक्तारः, वैकारिकाः, अनित्याः, देवयोनौ परिणताः, सोमशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, पुरुषविधाः, पादरहिताः, २८ इन्द्रियात्मकाः, ससंज्ञाः, औपपातिकाः, चेतनाः,–आध्यात्मि-कजीवाः, सत्त्वविशाला ऊर्ध्वस्थाः–तत्प्रतिरूपोपासना तृतीया विधा।

(४)--मनुष्य--पशु--पक्षि--कीट--कृमि--भेदभिन्नाः, पञ्चविधाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, कर्म्मफल भोक्तारः, वैकारिकाः, अनित्याः, पार्थिवशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, २-४-६-८-८-१००-१००० पाद--युक्ताः, पादरहिताश्चान्तिमाः, ११ इन्द्रियलक्षणाः, ससंज्ञाः, औपपातिकाः, चेतनाः, आध्यात्मिकजीवाः--रजोविशालाः--मध्यस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना चतुर्थीविधा।

सैषा–आध्यात्मिकप्रतिरूपविधा–चतुर्द्धा विभक्ता द्रष्टव्या

--३--

* * * * *

४–आधिभौतिकप्रतिरूपविधा (४)—

तीसरी क्रमप्राप्त आधिभौतिक प्रतिरूपविधा है। इस विधा के दो विवर्त्त अर्द्धचेतन जीवों से सम्बन्ध रखते हैं, एवं दो विवर्त्त अचेतन जीवों से सम्बन्ध रखते हैं। अश्वत्थ, वट, तुलसी, बिल्व, अथर्ववेदोपवर्णित अन्यान्य दिव्य--सत्त्वयुक्त ओषधिवनस्पतियाँ आधिकारिक आधिभौतिक अन्तःसंज्ञ जीव हैं। इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी प्रथमाविधा है। शालग्रामशिला, गङ्गा, यमुना, नर्म्मदा, आदि दिव्य पाषाण--सरित्--आदि आधिकारिक आधिभौतिक असंज्ञजीव हैं। इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी द्वितीया विधा है।

दिव्यौषधि--वनस्पतिवर्ग के अतिरिक्त कर्म्मफलभोक्ता व्रीहि--यव--तिल--माष--गोधूम--आदि आदि ओषधिवनस्पतिवर्ग औपपातिक आधिभौतिक अन्तः संज्ञजीव हैं। **'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व'** इत्यादिरूप से इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी तृतीया विधा है। दिव्यपाषाण, दिव्यसरित् के अतिरिक्त सरित्, सागर, पर्वत, पाषाण, लोष्ट, आदि यच्चयावत् अचेतन आधिभौतिक प्रपञ्च औपपातिक आधिभौतिक असंज्ञजीववर्ग हैं। **'ओषधे त्रायस्व'-शृणोतु ग्रावाणः'** इत्यादिरूप से इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी चौथी विधा है। ब्राह्मणोक्त यज्ञकर्म्मों में इन चारों विधाओं के शतशः उदाहरण उद्धृत हुए हैं, जो तत्स्वाध्याय सापेक्ष हैं। निम्न लिखित तालिका से चारों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण होरहा है-

४-आधिभौतिकप्रतिरूपविधा-चतुष्टयी—

(१)--**अश्वत्थ--वट--तुलसी--बिल्व--मन्दार--पारिजात**--आदि भेदभिन्नाः, दिव्यौषधि--वनस्प--तिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, त्वगिन्द्रियलक्षणाः, अन्तःसंज्ञाः, आधिकारिकाः, अर्द्धचेतनाः आधिभौतिकजीवाः--**तमोविशालाः-मूलस्थाः**। तत्प्रतिरूपोपासना प्रथमाविधा।

(२)--**शालग्रामशिला, गङ्गा, यमुना, नर्म्मदा,** आदि भेदभिन्नाः, दिव्यशिला-रत्न-तोयादिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, प्रवाहिताश्च, पार्थिव-जलीयशरीरात्मकाः, अनिन्द्रियाः, असंज्ञाः, आधिकारिकाः, अचेतनाः, आधिभौतिकजीवाः-**तमोविशालाः-मूलस्थाः**। तत्प्रतिरूपोपासना द्वितीयाविधा।

(३)--**व्रीहि--यव--तिल--माष--तन्दुल--गोधूमादि** भेदभिन्नाः-पार्थिवौषधिवनस्पतिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, त्वगिन्द्रियलक्षणाः, अन्तःसंज्ञाः, वैकारिकाः, औपपातिकाः, कर्म्मफल-भोक्तारः, अर्द्धचेतनाः आधिभौतिकजीवाः-तमोविशालाः, मूलस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना तृतीयाविधा।

(४)--**सरित्--सागर--पर्वत--पाषाण--लोष्टादि** भेदभिन्नाः, पार्थिवभूतरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, अनिन्द्रियाः, असंज्ञाः, वैकारिकाः, औपपातिकाः, कर्म्मफलभोक्तारः अचेतनाः, आधिभौतिकजीवाः-**तमोविशालाः--मूलस्थाः**। तत्प्रतिरूपोपासना चतुर्थीविधा।

सैषा-आधिभौतिकप्रतिरूपविधा चतुर्द्धाविभक्ता द्रष्टव्या

----४----

* * * * *

सर्वविधा-संग्रहः—

१-	(१)	१-महामायी सगुणेश्वरः——आधिकारिकः-विशिष्टः-आत्मन्वी-ईश्वरः	
१-	(२)	२-नित्यदेवाः, नित्यावताराश्च——आधिकारिकाः-विशिष्टाः-चेतनाः ससंज्ञजीवाः	क अधिदैवतम् ४
२-	(३)	३-ईल्यादि दिव्यौषधिवनस्पतयः——आधिकारिकाः-अविशेषाः-अर्द्धचेतनाः-अन्तःसंज्ञजीवाः	
३-	(४)	४-स्वर्गसम्भाराः, ग्रहोपग्रहाश्च——आधिकारिकाः-अविशेषाः-अचेतनाः-असंज्ञजीवाः	
४-	(५)	१-मानवावतारपुरुषाः——आधिकारिकाः-विशिष्टाः-चेतनाः-ससंज्ञजीवाः	
५-	(६)	२-नित्याश्चान्द्रदेवाः——आधिकारिकाः-विशिष्टाः-चेतनाः-ससंज्ञजीवाः	ख अध्यात्मम्
६-	(७)	३-औपपातिकाश्चान्द्रदेवाः——औपपातिकाः-विशिष्टाः-चेतनाः-ससंज्ञजीवाः	
७-	(८)	४-औपपातिकाः पार्थिवप्राणिताः——औपपातिकाः-विशिष्टाः-चेतनाः-ससंज्ञजीवाः	
८-	(९)	१-अश्वत्थादि दिव्यौषधिवनस्पतयः-आधिकारिकाः-अविशेषाः-अर्द्धचेतनाः-अन्तःसंज्ञजीवाः	
९-	(१०)	२-शालग्राम-गङ्गादि-दिव्यभूतानि——आधिकारिकाः-अविशेषाः-अचेतनाः-असंज्ञजीवाः	ग अधिभूतम्
१०-	(११)	३-व्रीह्यादि पार्थिवौषधिवनस्पतयः——औपपातिकाः-अविशेषाः-अर्द्धचेतनाः-अन्तःसंज्ञजीवाः	
११-	(१२)	४-सरित्-पाषाणादि-पार्थिवभूतानि औपपातिकाः-अविशेषाः-अचेतनाः-असंज्ञजीवाः	

एकश्चरति भुवनेषु-ईश्वरः-आधिकारिकः

तद्गर्भे

त्रयोदशविधा जीवाश्चरन्ति

तेषु

(७) सप्त-आधिकारिकाः-सृष्टिकर्म्मणिनियुक्ताः-ब्रह्माश्वत्थानुयायिनः

(४) चत्वारः-औपपातिकाः-कर्म्मफलभोक्तारः-कर्म्माश्वत्थानुयायिनः

मध्यस्थे अध्यात्मविवर्त्ते पारीणस्थाधिदैविकस्य, अवारस्याधिभौतिकस्य च समन्वयः। तेनैष आध्यात्मिकः पुरुषः पूर्णः। ततएव चोपासना प्रतिरूपविधा द्वादशधाविभक्ता। उपासनया च पूर्णतासम्पत्तिराध्यात्मिके पुरुषे। तामेतामौपासनिकां पूर्णतामभिप्रेत्यैवाहुराचार्य्याः—

पूर्णमदः—(अधिदैवितम्)

पूर्णमिदम्—(अधिभूतम्)

पूर्णात् (अधिदैवतात्-अधिभूताच्च)

पूर्णमुदच्यते—(अध्यात्ममुदच्यते)

पूर्णस्य (अधिदैवतस्य, अधिभूतस्य च)

पूर्णमादाय (समन्वयेन)

पूर्णमेवावाशिष्यते (पुरुषः पूर्णतागतो भवति-उपासनया)

* * *

६९-प्रकृतप्राप्त प्रतिरूपविधोदाहरण एवं तत्तद् द्वादश विवर्त वर्गीकरण विनियोग—

जैसाकि आरम्भ में निवेदन किया गया था, उदाहरण से पहिले प्राकृतिक द्वादश विवर्त्तों का परिचय प्राप्त करलेना आवश्यक है, तत्प्रतिज्ञानुसार प्रासङ्गिक प्राकृतिक द्वादश प्रतिरूपविधाओं का दिग्-दर्शन कराया गया। अब प्रकृतप्राप्त प्रतिरूपविधा के कुछ एक उदाहरण उद्धृत किएजाते हैं। बतलाया गया है कि, १२ विवर्त्तों में से सबसे पहिला आधिदैविक विवर्त्त तो आधिकारिक ईश्वर विवर्त्त है, एवं शेष ११ विवर्त्त जीवविवर्त्त हैं। इनमें से ७ विवर्त्त तो आधिकारिक हैं, एवं ४विवर्त्त औपपातिक हैं, ७ आधिकारिक विवर्त्तों में से ३ विवर्त्त आधिदैविक हैं, २ विवर्त्त आध्यात्मिक हैं, २ विवर्त्त आधिभौतिक हैं। ४ औपपातिक विवर्त्तों में से २ विवर्त्त आध्यात्मिक हैं, २ विवर्त्त आधिभौतिक हैं। आधिदैविक प्रपञ्च में औपपातिक विवर्त्त का अभाव है। इसप्रकार निम्न लिखितरूप से इन १२ विवर्त्तों के वर्गीकरण को लक्ष्य बनाकर उदाहरणों की मीमांसा करनी चाहिए—

(१)	१–आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त ——— आधिदैविक*—समष्टिः		
(२)	१–आधिकारिक नित्यावतारविवर्त्त ——— आधिदैविक(१)	-३-	आधिदैविकआधिकारिक
(३)	२–आधिकारिक दिव्यौषधिवनस्पतिविवर्त्त ——— " (२)		
(४)	३–आधिकारिक ग्रहोपग्रहविवर्त्त ——— " (३)		
(५)	४–आधिकारिक मानवावतारविवर्त्त ——— " (४)	-२-	आध्यात्मिकआधिकारिक
(६)	५–आधिकारिकनित्यचान्द्रदेवविवर्त्त ——— " (२)		
(७)	६–आधिकारिक अश्वत्थादिपार्थिवविवर्त्त ——— आधिभौतिक(१)	-२-	आधिभौतिकआधिकारिक
(८)	७–आधिकारिक शालग्रामादिपार्थिवविवर्त्त ——— " (२)		
(९)	१–औपपातिकअनित्यचान्द्रदेवविवर्त्त ——— आध्यात्मिक(१)	-२-	आध्यात्मिकऔपपातिक
(१०)	२–औपपातिक पार्थिवप्राणिविवर्त्त ——— " (२)		
(११)	३–औपपातिक व्रीहियवादिविवर्त्त ——— आधिभौतिक(१)	-२-	आधिभौतिकऔपपातिक
(१२)	४–औपपातिकसरित्पाषाणादिविवर्त्त ——— " (४)		

७०–प्रतिरूपविधा के प्राकृतिक-कृत्रिम विवर्त, आहार्य्य और कृत्रिम प्रतिरूपविधा का परस्पर पार्थक्य—

द्वादशधा–विभक्त उक्त ईश्वरीयविवर्त्त के माध्यम से मनःसंयमद्वारा उपास्य के प्रति स्वप्रत्यय को समासरूप से प्रवाहित करना ही उपासना निष्कर्ष है । अधिकारी भेद से बारहों के प्रतिरूपों को प्रत्ययालम्बन बनाया जासकता है । जैसाकि वतलाया गया है—प्रतिरूप प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो भागों में विभक्त है । इस द्वैध के कारण प्रतिरूपविधा के भी प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं । 'अग्नि–मूर्द्धा॰' इत्यादिरूप से उपनिषदों में उपवर्णित पूर्वप्रदर्शित ईश्वरस्वरूप का जहाँ प्राकृतिक प्रतिरूपविधा

से सम्बन्ध है, वहाँ पाषाणमयी भगवत्-प्रतिमा का कृत्रिम प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध है। कृत्रिम प्रतिरूपविधा एवं पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आहार्य्यारोपविधा में थोड़ा ही अन्तर है। किसी पार्थिवभूत को उपास्यभावनायुक्त समझलेना आहार्य्यारोविधा है, पार्थिव भूतों से शब्दवर्णन के (ध्यान के) आधार पर शिल्पीद्वारा बनी हुई प्रतिमाओं को उपास्य भावना से (निदानद्वारा) युक्त समझना * कृत्रिमप्रतिरूपविधा है। आहार्य्यारोपविधा में जहाँ आकार-प्रकार सन्निवेश अनपेक्षित है, वहाँ कृत्रिमप्रतिरूपविधा में आकार-प्रकार सन्निवेश आवश्यकरूप से अपेक्षित है। भूतत्वेन दोनों समान हैं, स्वरूपतः दोनों विभिन्न हैं।

७१-अन्तर्जगत् प्रतिविम्बता ध्यानयोगात्मिका एवं अन्य प्रतिविधाओं के स्वरूप का निरूपण—

प्रतिरूपविधा के कृत्रिमविवर्त्त के अतिरिक्त। (जिसका मानवीय शिल्प से सम्बन्ध है), दूसरी प्राकृतिक प्रतिरूपविधा के दो विवर्त्त होजाते हैं। प्रथमविधा तो वह है, जिसका अन्तर्जगत् में प्रतिम्बित ज्ञानीयप्रतिरूपों से सम्बन्ध है, एवं यही ध्यानयोगात्मिका वास्तविक प्रतिरूपविधा है। इसविधा में विदित प्रतिरूप विशुद्ध ज्ञानात्मक है। प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर, अथवा तो शब्दोपवर्णन के आधार पर ज्ञान से विनिर्म्मित ज्ञानीय प्रतिमाओं को माध्यम बनाना ही प्रथम प्राकृतिक प्रतिरूपविधा है। दूसरी प्राकृतिक प्रतिरूपविधा का ईश्वरीयशिल्प से सम्बन्ध है। स्वयं ईश्वरीय व्यापार से विनिर्म्मित आधिभौतिक प्रतिरूपों को माध्यम बनाना ही द्वितीया प्राकृतिक-प्रतिरूपविधा है। प्रथमा ज्ञानीय प्राकृतिक प्रतिरूप विधा के उदाहरण **'अग्निर्मूर्द्धा०'-'आदित्यमुद्गीथमुपासीत'** इत्यादिरूप से पूर्व में बतलाए जाचुके हैं। अब द्वितीया भौतिक-प्राकृतिक-प्रतिरूपविधा के उदाहरणों का दिग्दर्शन कराना शेष रहजाता है। ईश्वरीय १२ विवर्त्तों का **'चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन'** इन तीन विवर्त्तों में अन्तर्भाव किया जासकता है। इसी आधार पर तीन उदाहरण वतला देने से विषय गतार्थ बनजाता है। चेतनप्रतिरूप, अर्द्धचेतनप्रतिरूप, अचेतन प्रतिरूप, तीनों उदाहरण प्राकृतिक हैं। तीनों का निर्म्माण ईश्वरीय प्रेरणा से हुआ है। जो महानुभाव प्रतिरूपोपासना (प्रतिमोपासना) की अवैदिकता घोषित करते हुए अणुमात्र भी लज्जा से अवनत नहीं होते, वे देखेंगे कि, तीनों भौतिक प्रतिरूपों का वेद में न केवल वर्णन ही हुआ है, अपितु उसके माध्यम से आधिभौतिकलक्ष्य प्राप्ति का भी उसी वेद में स्पष्टीकरण हुआ है। अस्तु, 'अपने अध्यात्म को अधिभूत प्रतिरूप के माध्यम से अधिदैवत के साथ युक्त करदेना ही उपासना है'-इस तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए हमें क्रमशः तीनों ईश्वरीय (ईश्वरविनिर्म्मित-पाकृतिक) प्राकृतिक प्रतिरूपों का ही संक्षेप से निरूपण करना है—

—५—

---

* इन कृत्रिमप्रतिरूपविधाओं का स्वरूप, दूसरे शब्दों में मनुष्यशिल्पी द्वारा विनिर्म्मित मिट्टी, काष्ठ, इष्टपाषाण, धातु आदि की प्रतिमाओं का स्वरूप पुराणशास्त्र में विशेषरूप से उपबृंहित हुआ है। विशेष-जिज्ञासुओं को मत्स्यपुराण के २५८, २५९, २६०, २६३, अध्यायों का एवं अग्निपुराण के ४, ५, १९, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२ अध्यायों का, अवलोकन करना चाहिए। इन स्थलों में कृत्रिमप्रतिरूपविधाओं (अवतारादि की प्रतिमाओं) का विशदरूप से विश्लेषण हुआ है।

७२–आत्म–प्राण-पशु–इन्द्र–वायु–पर्जन्यादि का प्रजापति शब्दान्वयित्व—

सुप्रसिद्ध पार्थिव आध्यात्मिक कर्म्मफलभोक्ता प्राकृतिक 'कच्छप' प्राणी (कुछआ) ही इस चेतन– प्रतिरूप का प्रधान उदाहरण है । प्राकृतिक, आधिकारिक, कूर्म्मप्रजापति का जैसा स्वरूप है, कच्छप प्राणी का स्वरूप ठीक वैसा ही है । अतएव इस कच्छप भौतिक प्रतिरूप के माध्यम उस आधिदैविक देवसत्यलक्षण ईश्वरप्रजापति (कूर्म्मप्रजापति) की ओर स्वप्रत्यय को प्रवाहित किया जासकता है । वेदशास्त्र में पठित 'प्रजापति' शब्द का शतशः समन्वय हुआ है । अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण, पर्जन्य, आदि सभी के लिए प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है । क्यों कि—'आत्म–प्राण–पशुत्त्वं प्रजापतित्वम्' लक्षण का सभी के साथ समन्वय होरहा है । प्रकृत में हमें केवल 'प्रजापति' शब्द से उन प्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस का निम्न लिखित लक्षण किया जाता है ।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजुः सं ८।३६।

७३–"यस्मान्न जातः परो" यजुः संहितोक्त मन्त्र की तात्पर्यावगति, एवं त्रिज्योतिः-सम्परिष्वक्त ईश्वर के अमृत- ब्रह्म- देवसत्य त्रिविवर्त स्वरूप का उपबृंहण—

'जिस से अतिरिक्त उत्पन्न होने वालों में दूसरा नहीं है, अर्थात् उत्पन्न वस्तु मात्र जो स्वयं ही है, जो इन सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट है, जो अपनी उत्पन्न प्रजा से सम्बन्धित है, ऐसा वह षोडशी प्रजापति तीन ज्योतियों से सम्परिष्वक्त है' एवं लक्षण ईश्वर प्रजापति को वैज्ञानिकों ने **'अमृतसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य'** भेद से तीन विवर्त्तभावों में विभक्त माना है । निष्कल, किंवा एककल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, इन १६ कलाओं की समष्टि ही षोडशी (षोडशीकल) प्रजापति है । षोडशीकल प्रजापति का निष्कल, अर्द्धमात्रिक, परात्पर भाग **'ज्योतिषां ज्योतिः'** है । पञ्चकल अव्ययभाग **'ज्ञानज्योति'** है, पञ्चकल अक्षरभाग **'क्रियाज्योति'** है, एवं पञ्चकल आत्मक्षरभाग **'अर्थज्योति'** (सूर्य–चन्द्र–विद्युत्–अग्नि, ताराभेदभिन्नपञ्चभूतज्योति) है । इन तीन ज्योतियों से वह षोडशी सर्वत्र अविभक्त रूप से व्याप्त है ।

७४–अमृत ब्रह्म देवसत्य विवेचन एवं साक्षी–भोक्तासुपर्ण का उपवर्णन—

परात्पररूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित ज्ञानज्योतिर्म्मय अव्यय 'अमृतसत्य' है । क्रिया–ज्योतिर्म्मय अक्षर 'ब्रह्मसत्य' है । एवं अर्थज्योतिर्म्मय आत्मक्षर 'देवसत्य' है । अमृतसत्य पुरुषविवर्त्त है, ब्रह्मसत्य प्रकृतिविवर्त्त है, देवसत्य विकृतिविवर्त्त है । तीनों ही सत्य त्रिपुरुष (अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर) पुरुषात्मक बनते हुए सर्वात्मक हैं । अमृतसत्य अक्षर–क्षरपुरुषद्वयी-गर्भित अव्ययपुरुष प्रधान है, ब्रह्मसत्य अव्यय–क्षरपुरुषद्वयीगर्भित अक्षरपुरुषप्रधान है, देवसत्य अव्यय–अक्षरपुरुषप्रधान है, देवसत्य अव्यय-अक्षर-

पुरुषद्वयी गर्भित आत्मक्षरप्रधान है। अतएव अमृत से अव्यय का, ब्रह्म से अक्षर का, देव से आत्मक्षर का भी (प्रधानतया) ग्रहण किया जासकता है। अव्ययप्रधान अमृतसत्य विज्ञानभाषा में **'महेश्वर'** कहलाया है। अक्षरप्रधान-ब्रह्मसत्य **'उपेश्वर'** कहलाया है। एवं आत्मक्षरप्रधान देवसत्य **'ईश्वर'** कहलाया है। **'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया०'** इत्यादि ऋङ्मन्त्र में उपवर्णित दोनों सुपर्णों में एक साक्षी सुपर्ण एक भोक्तासुपर्ण है। साक्षी सुपर्ण ईश्वर माना गया है, भोक्तासुपर्ण जीव माना गया है। वैश्वानराग्नि, तैजसवायु, प्राज्ञ इन्द्र, तीनों की समष्टिरूप अग्नि-वायु-आदित्यदेवमूर्तिभोक्ता जीवात्मा-अग्नि लक्षणविराट् वायुलक्षण हिरण्यगर्भ, आदित्यलक्षण सर्वज्ञ, तीनों की समष्टिरूप जिस साक्षी सुपर्ण का सखा माना गया है, वह आत्मक्षर प्रधान देवसत्यलक्षण 'ईश्वर' विवर्त्त ही है।

७५-सहस्रवल्शेश्वर महामायावच्छिन्न प्रजापति का "उपेश्वरत्व" एवं वल्शेश्वरलक्षण उपेश्वर का ब्रह्मसत्यान्तर्भाव—

अमृतसत्यमूर्त्ति, अव्ययप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, यही महेश्वर है, जिसे 'सहस्रवल्शेश्वर' भी कहा जासकता है। महामायावच्छिन्न होने से ही-**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'** (श्वे० उप०) के अनुसार यह महेश्वर कहलाए हैं। मायी महेश्वर के गर्भ में वेदतत्त्वानुगता सुप्रसिद्ध 'साहस्रीविधा' के आधार पर एक सहस्र योगमायाविवर्त्तों का प्रादुर्भाव होता है। प्रत्येक योगमायाविवर्त्त से परिच्छिन्न योगमाया ब्रह्मसत्यमूर्त्ति, अक्षरप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, यही उस महामायी सहस्रवल्शेश्वर-लक्षण महेश्वर के उप रहता हुआ 'उपेश्वर' कहलाया है। इस का योगमायात्मिका केवल एकवल्शा से सम्बन्ध है, जिस वल्शा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पुण्डीर हैं। पाँच पुण्डीरों के सम्बन्ध से ही यह वल्शा 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' कहलाई है। प्रत्येक वल्शा का अन्तिम पर्व पृथिवी है। पृथिवी पर्व अग्नि-प्रधानता है। अग्नि चित्य (मर्त्य), चितेनिधेय (अमृत) भेद में दो प्रकार का है। चित्याग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, एवं इस चित्याग्निलक्षणा पृथिवी (भूपिण्ड) का वल्शेश्वरलक्षण उपेश्वरनामक ब्रह्मसत्य में ही अन्तर्भाव है। चितेनिधेयाग्नि से प्राणात्मिका त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। तदवच्छिन्न-अग्नि-वायु-आदित्य कृतमूर्ति, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक योगमायी, देवसत्यमूर्ति, आत्मक्षरप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, जिसे रोदसीत्रैलोक्य प्रजा का ईशिता (ईशत-ईशनीभिः-श्वे० उ०....) होने से 'ईश्वर' कहा जासकता है।

७६-षोडशी प्रजापति के मायानुबन्धी अमृत-ब्रह्म-देव त्रिविवर्त, एवं त्रिविवर्त की "षोडशी" नामान्वितिमूलाव्याख्या—

सहस्रवल्शेश्वर अमृतसत्य (महेश्वर), एकवल्शेश्वर ब्रह्मसत्य (उपेश्वर), महापृथिव्यात्मक-प्रजेश्वर देवसत्य (ईश्वर), तीनों उस ही षोडशी प्रजापति के मायानुबन्धी तीन विवर्त्त हैं। वही अपने अमृतलक्षण अव्ययरूप से महेश्वर है, ब्रह्मलक्षण अक्षररूप से उपेश्वर है, एवं देवलक्षण, किंवा शुक्रलक्षण

अत्मत्तररूप से ईश्वर है—**'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'**। तीनों सत्यों में (प्रत्येक में) भुक्त तीन ज्योति विवर्त्त सम, विषमरूप से दो दो भागों में विभक्त माने गए हैं। अव्ययात्मकज्ञानज्योति अक्षरात्मक क्रियाज्योति, क्षरात्मक अर्थज्योति, तीनों स्थानों में **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** न्याय से समान हैं, अतएव तीनों को 'षोडशी' कहना अन्वर्थं बनता है। इस समान भाव के अतिरिक्त महेश्वर में ज्ञान–क्रिया–अर्थज्योतियों का प्राधान्य है, उपेश्वर में–वाक्–विद्युत्–अग्नि ज्योतियों का प्राधान्य है, एवं ईश्वर में सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–ज्योतियों का प्राधान्य हैं। इस दृष्टि से तीनों के तीनों ज्योति विवर्त्त विषम बने हुए है।

७७-आत्म-शुक्र-भूत-ज्योतिस्त्रिक एवं आत्मा के अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक पर्वत्रय—

दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि, **आत्मज्योति, शुक्रज्योति, भूतज्योति**, भेद से ज्योति तीन भागों में विभक्त है। आत्मा के अव्यय (ज्ञान), अक्षर (क्रिया), क्षर (अर्थ), तीन पर्व हैं, जिन के लिए **'आत्मा उ वा एकःसन्नेतत्त्रयम, त्रयं सदेकमयमात्मा** (शत० १४।.........) यह कहा जाता है। मनोमय अव्यय ज्ञानज्योतिर्म्मय है, प्राणमय अक्षर क्रियाज्योतिर्म्मय वाङ्मय क्षर अर्थज्योतिर्म्मय है। इस त्रिज्योति का ही नाम आत्मज्योति है, जिस का प्रधानतः अमृत–सत्यलक्षण मायी महेश्वर प्रजापति से सम्बन्ध है।

७८-शुक्रज्योति के वागबग्निरूप त्रिविवर्त एवं इन त्रिविवर्तों के स्वरूप का विशकलन—

शुक्र के वाक्–आपः–अग्निः, ये तीन विवर्त्त हैं। वाक् स्वायम्भुव तत्त्व है, यही सत्यावाक् है। आपः–पारमेष्ठ्य तत्त्व है, अग्नि सौरतत्त्व है। शुक्र के मर्त्यस्वरूपों का क्रमशः सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड से सम्बन्ध है। मर्त्य सूर्य्य–मर्त्याग्निशुक्रमय है, चन्द्रमा मर्त्य अप्–शुक्रमय है, भूपिण्ड मर्त्यवाक्शुक्रमय है। भूपिण्ड मध्यस्थ–सूर्य्य में अमृताग्नि शुक्र, मर्त्याग्नि शुक्र, दोनों का समन्वय होरहा है, जैसाकि–**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च'** श्रुति से प्रमाणित है। इस प्रकार स्वयम्भू-परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य–मर्त्यसूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड, इन ६ बल्शापर्वों में क्रमशः अमृतवाक्, अमृतअप्, अमृताग्नि, मर्त्याग्नि, मर्त्यापः, मर्त्यावाक्, इन ६ शुक्रों का उपभोग होरहा है। ६ के शुक्रत्वेन वाक्–आपः–अग्निः–ये तीन ही विवर्त्त रह जाते हैं। वागज्योति अव्ययानुगत ज्ञानज्योति से अब्ज्योति अक्षरानुगत क्रियाज्योति से, अग्निज्योति क्षरानुगत अर्थज्योति से समतुलित हैं। यही त्रिज्योति शुक्रज्योति है, जिसका प्रधानतः ब्रह्मसत्यलक्षण उपेश्वर प्रजापति से सम्बन्ध है।

७९–पार्थिवाग्नि-(विद्युद्वाय्वनुगत) अन्तरिक्ष्य-चन्द्र-दिव्यसूर्य त्रिविवर्तात्मक पार्थिव-भूत, एवं प्रक्रान्त परिलेख परिचायी अग्निचन्द्रादित्य-ज्योतिःस्वरूप-निरूपण—

पार्थिवभूत के अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य्य, ये तीनविवर्त हैं। अग्नि पर्थिव है, चन्द्रमा (तदनुगत वायु, और विद्युत्) आन्तरिक्ष्य है। सूर्य्य (सूर्य्यप्रवर्ग्यभूत एकविंशस्थ आदित्यप्राण) दिव्य है। पार्थिवस्तौम्य त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न विराट्पर्व से तदवच्छिन्न अग्निज्योति का सम्बन्ध है।

पार्थिव आन्तरिक्ष्य पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न हिरण्यगर्भ पर्व से तदवच्छिन्न चान्द्रज्योति (एवंविद्य ज्ज्योति) का सम्बन्ध है । एवं पार्थिव (दिव्य) एकविंशस्तोमावच्छिन्न सर्वज्ञपर्व से तदवच्छिन्न आदित्यज्योति का सम्बन्ध है । सर्वज्ञपर्वानुगत आदित्यज्योति अव्ययानुगतज्ञानज्योति से, हिरण्यगर्भ पर्वानुगत चान्द्रज्योति अक्षरानुगत क्रियाज्योति से, एवं विराट्पर्वानुगत अग्निज्योति क्षरानुगत अर्थज्योति से समतुलित है । यही त्रिज्योति भूतज्योति है, जिसका प्रधानत: देवसत्यलक्षण ईश्वरप्रजापति से सम्बन्ध माना गया है । * निम्नलिखित परिलेखों से तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण होरहा है—

(१) सहस्रवल्शेश्वर:-माहामाया-महेश्वरप्रजापति:-षोडशी—

(अमृतसत्यप्रजापति:--अव्ययप्रधान)

१-अव्यय:—ज्ञानज्योति: (मनोमय:-मनोज्योति:)

२-अक्षर:—क्रियाज्योति: (प्राणमय: - प्राणज्योति:) } -आत्मज्योति:

३--आत्मक्षर:—अर्थज्योति: (वाङ्मय:-वाग्ज्योति:)

* * *

(२)-एकवल्शेश्वर:-योगमायी-उपेश्वरप्रजापति:-षोडशी— ब्रह्मसत्यप्रजापति:-अक्षरप्रधान:-

स्वयम्भू:-वाङ्मय: (१)

परमेष्ठी—आपोमय: (२)

अमृतसूर्य्य:—अग्निमय:
मर्त्यसूर्य्य:—अग्निमय: } -(३) } अग्निज्योति: -क्षरानुगतम् } आपोज्योति: -अक्षरानुगतम् } वाग्ज्योति: -अव्ययनुतम् } शुक्रज्योति:

चन्द्रमा:—आपोमय: (४)

पृथिवी—वाङ्मय: (५)

* * *

---

* इन तीनों विवर्त्तों का भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड में भी अन्यदृष्टिकोण से समन्वय किया जाचुका है ।

(३)–बल्शाग्रभागस्थः–योगमायी–ईश्वरप्रजापतिः–षोडशी–देवसत्यप्रजापतिः–आत्मक्षरप्रधानः–

१–एकविंशस्तोमावच्छिन्नः–आदित्यानुगतः सर्वज्ञः— { सूर्य्यज्योतिः अव्ययानुगतम् }
२–पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः–चन्द्रानुगतः– हिरण्यगर्भः– { चन्द्रज्योतिः अक्षरानुगतम् } —भूतज्योतिः
३–त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः —पृथिव्यनुगतः —विराट्— { अग्निज्योतिः क्षरानुगतम् }

* * *

सर्वसंग्रहः—

१–अक्षरात्मक्षरगर्भितः, सहस्रवल्शेश्वरः–सहस्रोपेश्वराध्यक्षः–महामायी–अमृतसत्यः षोडशी

२–अव्ययात्मक्षरगर्भितः, एकवल्शेश्वरः–पञ्चपुण्डीराध्यक्षः–उपेश्वरः—ब्रह्मसत्यः षोडशी

३–अव्ययाक्षरगर्भितः, बल्शाग्रस्थः– पार्थिवप्रजाध्यक्षः–ईश्वरः— देवसत्यः षोडशी

तदित्थम्–अमृतसत्यसंस्थायां ज्ञान–क्रिया–र्थज्योतिर्भावैः, आत्मभावेन, ब्रह्मसत्यसंस्थायां–वाक्–आपः–अग्निज्योतिर्भावैः, शुक्रभावेन, देवसत्यसंस्थायां–सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–ज्योतिर्भावैः, भूतभावेन व्याप्तः सन्–अव्ययानुगतज्ञानज्योति–अक्षरानुगत–क्रियाज्योति–आत्मक्षरानुगतार्थज्योतिभावैः सर्वत्र त्रिषु स्थानेषु व्याप्तः सन्–प्रजापतिः षोडशी–एवेदं सर्वंयदिदं किञ्च ।

* * *

८०–आधिदैविकोपास्यतत्वस्य त्रिप्राजापत्यविवर्ताधारेणैव प्रतिज्ञात–चेतनार्धचेतानाचेतन प्रतिरूप प्रतिष्ठानम्, कच्छपाश्वत्थशालग्राम–प्रतिरूप–निरूपणम्, एवं चानुक्रमेणे–श्वरमहेश्वरोपासना समन्वितिसमाधानम् —

आधिदैविक उपास्यतत्त्व के उक्त तीनों प्राजापत्य विवर्त्तों के आधार पर ही प्रतिज्ञात चेतन–अर्द्ध–चेतन–अचेतन प्रतिरूप प्रतिष्ठित हैं। अर्द्धचेतनात्मक अश्वत्थवृक्ष (पिप्पलवृक्ष) महामायीमहेश्वर का

अर्द्धचेतनप्रतिरूप है । अचेतनात्मक शालग्राम योगमायी उपेश्वर का अचेतनात्मक प्रतिरूप है । चेतनात्मक कच्छप प्राणी योगमायीद्यावापृथिव्य ईश्वर का चेतनात्मक प्रतिरूप है । अश्वत्थवृक्ष के माध्यम से महेश्वर लक्ष्य बनता है, शालग्राम के माध्यम से उपेश्वरोपासना गतार्थ बनती है, एवं कच्छप के माध्यम से ईश्वरोपासना का निर्वाह होता है । इस दृष्टिकोण से भी हमने इन तीन उदाहरणों का ही सम्बन्ध विज्ञानमोदित माना है ।

१–मायीमहेश्वरः—तत्प्रतिरूपः–अश्वत्थवृक्षः (अर्द्धचेतनप्रतिरूपः (२)

२–उपेश्वरः— —तम्प्रतिरूपः–शालग्रामः (अचेतनप्रतिरूपः) (३)

३–ईश्वरः— —-तत्प्रतिरूपः–कच्छपः (चेतनप्रतिरूपः) (१)

८१–आधिदैविकेश्वरप्रजापतिनिगूढकूर्म्मप्रजापतिप्रतिरूपाशङ्कानिराकृतये "ईशावास्य मिदं सर्वम्" "कश्यपात् सकलं जगत्" प्रभृति औपनिषद-स्मार्त-सिद्धान्त-निरूपण —

तीनों सृष्टिक्रम में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन, यह क्रम है । इस क्रम से उदाहरणविधाओं में भी कच्छप, अश्वत्थ, शालग्राम, यही क्रम रक्खा जाएगा । इस क्रम के अनुसार प्रथमस्थानीय चेतनकच्छप प्रतिरूप की ओर ही सर्वप्रथम तत्त्वोपासकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । कच्छप प्राणी आधिदैविक देवसत्यात्मक ईश्वरप्रजापति (कूर्म्मप्रजापति) का प्रतिरूप कैसे है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए संक्षेप से कूर्म्मप्रजापति के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण अपेक्षित होगा । **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्'** इस औपनिषद सिद्धान्त से समतुलित–**'कश्यपात् सकलं जगत्'** इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार कश्यपप्रजापति से ही सम्पूर्ण लोकसृष्टि की उत्पत्ति हुई है । इसी आधार पर यह भी किंवदन्ती प्रचलित हुई है कि,–जिसका कोई गोत्र नहीं, उसका कश्यपगोत्र' ।

८२–कश्यप-कौशिक-वशिष्ठागस्त्य-हारीतादि ऋषिनामों के प्राण-प्राणिविध दो भेद, आधिदैविक सृष्टिकर्म्म-नियुक्त स्वायम्भुवापौरुषेयतत्व वेदानुगत-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दमात्रातीताधामच्छदमौलिक प्राणविध-ऋषिवर्ग, एवं तदाधारेणैव "ऋषिभ्यः पितरो जाताः" इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धान्त समन्वित प्राणिविध ऋषिवर्ग, तद्दिग्दर्शन —

कश्यप, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, आदि आदि जितने भी ऋषिनाम सुने जाते हैं, उनके प्राणविध, प्राणीविध, भेद से दो दो विवर्त्त समझने चाहिए । आधिदैविक–सृष्टिकर्म्म में नियुक्त स्वायम्भुवअपौरुषेयतत्त्ववेदानुगत रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दमात्रातीत होने से अधामच्छद (अमूर्त्त–इन्द्रियातीत) मौलिक तत्त्वविशेष ही 'असल्लक्षण प्राण' कहलाए हैं, ये मौलिक प्राण ही—**'ते सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेणतपसा अरिषन्, तस्मादृषयः'** इस निर्वचन से 'ऋषि' कहलाए हैं, यही प्राणविध

ऋषिवर्ग है * । प्राणविध ऋषिवर्ग के आधार पर ही—'ऋषिभ्यः पितरोजाता, पितृभ्यो देवदानवाः, देवेभ्यश्चजगत्-सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः' (मनु··········) इत्यादि स्मार्त्तसिद्धान्तों का, एवं-'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' (शत०··········)-'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेऽप्यङ्गिराः सन्बभूव' (··············) 'वागेवात्रिः' (शत०··········) इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों का समन्वय हुआ है । इन ऋषिप्राणों की परीक्षाकर इनके आधार पर यज्ञविधा का आविष्कार करने वाले मानवऋषि प्राणी-विधऋषि कहलाए हैं । जिसप्राण का जिस तत्त्ववेता ने सर्वप्रथम आविष्कार किया, वह तत्त्ववेत्ता भी उसी नाम से प्रसिद्ध होगया । यही उस तत्त्ववेता का यशोनाम कहलाया, जैसाकि उपनिषद्विज्ञान,भाष्यभूमिका-द्वितीय-खण्ड के 'ऋषिस्वरूपनिरूपण' प्रकरण में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है । प्रकृत में प्राणविध ऋषि-तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले कश्यप स्वरूप का ही दिग्दर्शन अपेक्षित है ।

८३ -अम्भः-मरीचि-मर-आपः-चतुःश्रेणि विभक्त अप्तत्व, एवं तत्स्वरूपोपबृंहण—

अप्तत्त्व के **अम्भः, मरीचिः, मरमः**, आपः, ये चार श्रेणिविभाग माने गए हैं । उपेश्वर स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए जिन स्वयम्भू आदि ब्रह्मापुरों का उल्लेख किया गया था, उन पाँच विश्वपर्वों में सर्व प्रथम प्रतिष्ठित, प्रादुर्भूत स्वयम्भू में अप्तत्त्व का अभाव है । शेष चारों विवर्त्तों में अप्तत्त्व का समन्वय है । स्वायम्भुवी वेदवाक् से सर्वप्रथम जो अप्तत्त्व उत्पन्न होता है *, वही परमेष्ठी [illegible]ा का स्वरूप समर्पक बनता है । एवं यही पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व **'अम्भः'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि, प्रकृत्या सोमगुणक माना गया है । सूर्य्यात्मक द्युलोक से परे परमेष्ठी में ही इस की प्रथमव्याप्ति है । अम्भःरूप सोम ही सौर सावित्राग्नि में आहुत होकर सौर द्युलोक की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव अम्भः को द्यु-प्रतिष्ठा माना गया है । यही अम्भः उत्तर दिगनुगामी बनकर भूतल से स्पर्शकर 'गङ्गा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । गाङ्गेय का माहात्म्य इसी अम्भः पर निर्भर है ।

---

*-"असद्वा इदग्न आसीत् । तदाहुः-'किंतदसदासीत्' इति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत् । तदाहु'-'के ते ऋषयः' इति ?, प्राणा वा ऋषयः । ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा-रिषंस्तस्माहषयः;"—शत० ६।१।१।१।

***-"आत्मा (स्वयम्भूः) वा इदमेक एवाग्र आसीत , न्यान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत-'लोकान्नु सृजा' इति । स इमाँल्लोकानसृजत-अम्भो मरीचि मर आपः । अदोऽम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा । अन्तरिक्ष मरीचयः । पृथिवी मरः । या अध स्तात्-ता आपः" ।**

—ऐ० उप० १।१,२ ।

'ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥१॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः, स एव स्वयमुद्बभौ ॥२॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीज मवासृजत ॥३॥

मनु--: १।६,७,८,

८४-"अम्भो" लक्षण "आपः-से पूर्ण परमेष्ठी गर्भ में सूर्य्य-जन्म, रश्मि संघर्षोत्पन्न "मरीचि" एवम् गाङ्गेय यामुनेय-अम्भः का सौम्याग्नेय-प्रकृतिमत्त्व—

अम्भोलक्षण आपः से परिपूर्ण परमेष्ठी के गर्भ में सूर्य्य का जन्म होता है । इस के लिए— '**तासुबीजमवासृजत**' कहा जाता है । सूर्य्यरश्मियाँ प्रतिक्षण प्राणन-अपानव्यापार करती रहती हैं । रश्मियों के इस प्राणनापानन से संघर्ष होता है । संघर्ष से सौरअग्नि '**अग्नेरापः**' सिद्धान्तानुसार अब्रूप में परिणत होजाता है । रश्मिसंघर्ष से उत्पन्न. अग्निगुणक यही सौरपानी 'मरीचि' कहलाया है । जहाँतक सौर रश्मियाँ व्याप्त हैं, वहाँ तक यह तेजोमय मरीचि व्याप्त है । अतएव सौररश्मिमण्डल को अवश्य ही 'मरीचिमण्डल' कहा जासकता है । जिस प्रकार गाङ्गेय के साथ पारमेष्ठ्य अम्भः का, सम्बन्ध है, एवमेव यामुनेय के साथ सौरमरीचि पानी का सम्बन्ध है । अतएव गाङ्गेय जहाँ प्रकृत्या सौम्य है, वहाँ यामुनेय प्रकृत्या आग्नेय है । इसी मरीचि-सम्बन्ध से सौरप्राणविशेष 'यम' को यमुना का भ्राता माना गया है । इसी आधार पर 'भ्रातृद्वितीया' [भइया दोज] को यमुना तट पर सहोदर भ्राता को भोजन कराते का विशेष महत्त्व भाना जाता है, जैसा कि-'**हिन्दू त्यौहारों का वैज्ञानिक रहस्य**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध के तत्प्रकरण में विस्तार से निरूपित है ।

८५-प्राणि-तृषा-शामक पार्थिवमृद्भाग मूर्च्छित "मर" नाम्ना प्रसिद्ध अप्तत्व, एवं चान्द्र-सौम्य-पितृ तृषा-शामक श्रद्धाप्राण "आपः" अप्तत्व का निर्वचन—

पार्थिव मृत्-भाग से मूर्च्छित पेय पानी 'मर' नाम से प्रसिद्ध है । यह मरणधर्म्मा मनुष्यों की तृषाशान्त करता है । चान्द्रपानी 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है, जिस से चान्द्र-सौम्य पितरों की तृषा शान्त होती है । यही श्रद्धा 'आपः' नामक चौथा पानी है । सृष्टिक्रम में चन्द्रमा अन्तिम पर्व है । अतएव इस चन्द्र-आपः के लिए-'**या अवस्तात्-ता आपः**' कह दिया जाता है । 'श्रद्धा का निरूपण पूर्व के '**उपासना लक्षण निर्वचन**' प्रकरण में विस्तार से किया जाचुका है । इस प्रकार परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, भेद से अप्तत्त्व अम्भः-मरीचि-मरम्-आपः-रूप से चार प्रकार का होजाता है ।

८६–कूर्म्म प्रजापति का सौररश्मि मण्डलस्थ आग्नेय "मरीचि" से सम्बन्ध, एवं तत्प्राणयुक्त-कश्यप (कूर्म्म) अनुबन्धी निर्वचन—

उक्त चारों पानियों में से प्रकृत में सौररश्मिमण्डलस्थ आग्नेय 'मरीचि' पानी से ही हमारे कूर्म्म प्रजापति का सम्बन्ध है। भौतिक मरीचि पानी का आधार भूत आप्य प्राण भी 'मरीचि' कहलाया है। प्राणात्मक यही 'मरीचि' ऋषि ही दूसरे शब्दों में मरीचिप्राणयुक्त मरीचि पानी ही कूर्म्म प्रजापति का जनक बनता है। मरीचि—अप्तत्त्वानुगत मरीचि ऋषि [प्राण] का जिस विद्वान् ने सर्वप्रथम अन्वेषण किया, वह भी 'मरीचि' नाम से ही प्रसिद्ध होगया। मरीचिप्राण से उत्पन्न कश्यय [कूर्म्म] प्राण की परीक्षा मरीचि ऋषि के पुत्र ने की, अतएव वे 'कश्यप' नाम से प्रसिद्ध होगए। बड़ा ही आश्चर्यप्रद समन्वय है, जो एकमात्र मरीचि, और कश्यपप्राण के सम्बन्ध में ही घटित हुआ है। प्रकृति में मरीचि प्राण पितृ स्थानीय है, कश्ययप्राण पुत्रस्थानीय है। वहाँ भी पितृस्थानीय मरीचि प्राण का साक्षात्कार पिता मरीचि ने किया, एवं पुत्रस्थानीय कश्यप प्राण का साक्षात्कार मरीचिपुत्र कश्यप महर्षि ने किया।

८७–सौरमरीचिमण्डलावच्छिन्न द्यावापृथिव्य रसात्मक "कश्यप" एवं दिति-अदिति आदि तत् पत्नियाँ—

सौरमरीचिमण्डलावच्छिन्न द्यावा–पृथिव्य रसात्मक तत्त्वविशेष ही 'कश्यप' है। सौरदिव्यप्राण, आन्तरिक्ष्यव्यान, पार्थिवअपान, तीनों प्राणों से सौरमरीचि प्राणाधारेण उत्पन्न लोकत्रयरसात्मकयोगजप्राण ही कश्यप है। क्योंकि, सौरमरीचिप्राण इस की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे अवश्य ही 'कश्यपो वै मारीचः' के अनुसार 'मरीचिपुत्र' कहा जासकता है। पितुःपरिमण्डल ही पुत्रावासभूमि बनता है। अदिति, दिति, दनु, आदि तेरह दाक्षायणी इस कश्यप की पत्नियाँ मानी गई हैं *। दक्षवृत्त के सौरप्राणात्मक कश्यप के सम्बन्ध से (त्रयोदशमासात्मक–सम्वत्सर विधा से) तेरह अवयव होजाते हैं। इन्हीं अवयवों से यह दर्शपूर्णमास नामक प्राकृतिक यज्ञद्वारा प्रजासृष्टि में समर्थ होता है।

---

*–मरीचेः कश्यपः पुत्रः, कश्यपात्तु इमाः प्रजाः।
प्रजज्ञिरे महाभाग दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥१॥
अदिति, दिति, दनुः, काला, दनायुः, सिंहिका तथा।
क्रोधा, प्राधा च, विश्वा च, विनता, कपिला, मुनिः ॥२॥
कद्रुश्च, मनुजव्याघ्र ! दक्षकन्यैव भारत !"
—महाभारत–१।६५।११–१३।

८८-श्रीमद् भागवत वर्णनानुसृत सप्तदश दक्ष कन्याओं एवं तत्तत् प्रसूतियों का वर्णन—

श्रीमद्भागवत में १३ के स्थान में १७ दक्ष कन्याओं का उल्लेख हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि, [1] अदिति से देवदेवता, [2] दिति से दैत्य, [3] दनु से दानव, [4] काष्ठा से अश्वादि, [5] अरिष्टा से गन्धर्व, [6] सुरसा से राक्षस, [7] इला से वृक्ष, [8] मुनि से अप्सरोगण, [9] क्रोधवशा से सर्व [10] ताम्र से श्येन [बाज] गृध्रादि, [11] सुरभि से गो-महिषादि, [12] सरमा से श्वापद, [13] तिमि से यादोगण, [14] विनता से गरुड़-अरुण, [15] कद्रु से नाग, [16] पतङ्गी से पतङ्ग, [17] यामिनी से शलभ उत्पन्न हुए हैं। (देखिए श्रीमद्भागवत········)।

८९-"द्वादश वै मासा, संवत्सरस्य, त्रयोदश वा" इत्यादि वैज्ञानिक दृष्ट्याधारेण आदित्यात्मक "कश्यप" की भोगानुबन्धिनी दक्ष कन्याओं का त्रयोदशत्व, दक्ष वृत्त के चन्द्र-धर्म्मारिष्टनेमि-कृशाश्वाङ्गिराभृगुपुत्रभोगसम्बन्धेन सप्त चत्वारिंशत विभाग एवं कश्यपभुक्त त्रयोदश दक्षकन्या समन्वयेन सम्भूय षष्टि विभाग, तन्निरूपण—

वस्तुतस्तु अन्यपुराण-सन्दर्भों के अनुरोध से, तथा 'द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य, त्रयोदश वा (मलिम्लुच सहयोगेन)' इत्यादि वैज्ञानिक दृष्टि से आदित्यात्मक कश्यप के भोग से सम्बन्ध रखने वाली दक्षगन्या १३ ही मानी जानी चाहिए। मार्कण्डेय ने जिन १७ दक्षकन्याओं का कश्यप से सम्बन्ध बतलाया है, उन का १३ में ही अन्तर्भाव है। अवान्तर विभूतियों के सम्बन्ध से ही वहाँ १७ का उल्लेख कर दिया गया है। दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु' इत्यादि पुराणवचनानुरोध से भी १३ ही पत्नियाँ सिद्ध होती हैं। चान्द्र-परिभ्रमरण वृत्त ही 'दक्ष' कहलाया है। सोमात्मक होने से यह योषाप्राणरूप है। योषा सम्बन्ध से ही इस के सौम्य पर्व 'कन्या' [स्त्रीसन्तान] कहालाए हैं। २७ नक्षत्र भेद से नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के परिभ्रमणानुरोध से पूरे दक्ष के २७ विभाग होजाते हैं, ये ही चन्द्रमा की २७ पत्नियाँ मानी गई हैं। धर्म्मतत्त्व सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के १० विभाग होजाते हैं। खस्वस्तिकानुगत चतुर्द्धा विभक्त अरिष्टनेमि के सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के ४ विभाग होजाते है। कृशाश्वा के सम्बन्ध से पूरे दक्ष के २ विभाग होजाते हैं। अङ्गिरा के सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के २ विभाग होजाते हैं। इसप्रकार चन्द्रमा-धर्म्म-अरिष्टनेमि-कृशाश्वा-अङ्गिरा-भृगुपुत्र-के भोग-सम्बन्ध से एक ही दक्षवृत्त २७-१०-४-२-२-२-सम्भूय [४७] विभाग होजाते हैं। शेष कुल १३ ही विभाग होजाते हैं। त्रयोदशमासात्मक, आदित्यप्राणमूर्त्ति कश्यप के भोग सम्बन्ध से दक्ष के १३ ही विभाग प्रकृतिसिद्ध हैं। १३ के समन्वय से ६० विभाग होजाते हैं। निम्न लिखित वचन इसी विभाग का समर्थन कर रहा है—

दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु—सप्तविंशतिमिदन्वे ॥
ददौ, स दश धर्म्माय, कश्यपाय त्रयोदश ॥१॥
द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादात, द्वे कृशाश्वाय धीमते ॥
द्वे चैव भृगुपुत्राय, चतस्रोऽरिष्ट नेमिने ॥२॥
(सर्वपुराणेषु)

९०–प्रजासृष्टि के साथ कश्यप का साक्षात् और परम्परा सम्बन्ध, परम्परा सम्बन्ध निदर्शनानुवर्ती अन्न का रसासृक्-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-सञ्चरित "शुक्र" रूप परिणमन, वनस्पति-अन्नादि के द्रवत्व का सौराग्नि प्रवेश से घनभाव, दुग्ध में दधि आतञ्चन का लौकिक उदाहरण, मधुविद्या रहस्य एवं पर्य्युषितान्नादि प्रकरण का "तृणं स्पृशति" निदर्शन—

कश्यप की प्रजासृष्टि के साथ कश्यप का साक्षात्, परम्परया, उभयथा सम्बन्ध है। पहिले परम्परा–सम्बन्ध को ही लीजिए। पार्थिव शरीराग्नि में आहुत अन्न ही रस--मल के क्रमिक विश्लेषण से रस, असृक्, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, रूप में परिणत होता हुआ सातवें सञ्चर में 'शुक्र' रूप में परिणत होजाता है। यही शुक्र योषिद्गर्भस्थशोणिताग्नि में आहुत होकर प्रजारूप में परिणत होता है, जैसा कि—'पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः' [मुण्डक २।१।५] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। * प्रजा का उपादान भूत शुक्र परम्परया अन्नात्मक है। पार्थिव अन्न की उत्पत्ति–लोकत्रय, प्रतिष्ठित हैं। अन्नगत घन भाग [दाना] 'दधि' रस है। घनीभूत दुग्ध ही दधि कहलाया है। अपरिपक्वावस्था में खेतों का अन्न प्रवाही रस (दुग्ध–दूधिया–कच्चा) से युक्त रहता है। सौराग्नि द्वारा प्रविष्ट इन्द्र के समावेश से कालान्तर में यही अन्नगत दुग्ध घन भाव में परिणत होजाता है-(पक जाता है, जम जाता है)। यही अन्नदुग्ध की दध्यवस्था है। दधिभाव के लिए इन्द्रतेज का समावेश अपेक्षित है। अतएव लोक में भी दुग्ध को दधिरूप में परिणत करने के लिए 'दधि' का ही आतञ्चन (जीवण) दिया जाता है। दधि का वैदिक नाम 'सान्नाय्य' है, जो दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए विहित है। सान्नाय (दधि) इन्द्र–प्राणात्मक होने से ही इन्द्रतर्पक माना गया है। अतएव दधि का ही आतञ्चन दिया जाता है। दधि प्रतिष्ठित इन्द्र प्राण दुग्धगत तरल सोमरस का कालान्तर में पान कर जाता है। दुग्ध दधिरूप में परिणत हो जाता है। वही स्थिति अन्न में समझिए। अन्नगत तरलरसात्मक (सोमात्मक) दुग्ध रश्मिगतइन्द्रप्राणरूप सान्नाय्य के समावेश से कालान्तर में इन्द्रभुक्त बन जाता है। परिणामस्वरूप अन्न घनावस्था में परिणत होजाता है। यही अन्नगत 'दधि' भाग है, जिसे हम 'पार्थिवरस' कहेंगे। अन्न में एक प्रकार का स्नेहन (चिकनाई) रहता है। आटा

---

* रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।
—आयुर्वेद शास्त्र०

गोंदने पर उस में एक प्रकार की मसृणता (लुआब) आजाती है। यही दूसरा घृतरस है, जिस का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का पृथक् पृथक् मिठास होता है। यही तीसरा 'मधु' रस है, जिसका द्युलोक से, किंवा द्युलोकस्थ 'देवमधु' नामक आदित्य से सम्बन्ध है। छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्ध 'मधुविद्या' का इसी मधु-रस से सम्बन्ध है। जब सूर्य्य भरणी--नक्षत्र पर आता है, तो द्युलोकस्थ मधुरस, सुषुम्णा-नाडी से अतिशय मात्रा में पृथिवी में भुक्त होता है। अतएव भरणीनक्षत्र 'मधुच्छत्र' कहलाया है। प्रत्येक अन्न में एक विशेष प्रकार का 'स्वाद' रहता है। परन्तु 'स्वाद' मधु से विभिन्न है। पर्य्युषित (बासी) कलाकन्द में मधु भाग अवश्य है, परन्तु 'स्वाद' नहीं है। स्वाद सोमात्मक अमृततत्त्व है, प्राणभाग है। यही चौथे आपोलोक का रस है, जिसे हमने पूर्व में 'अम्भोमय-परमेष्ठी' कहा है। 'यो वः शिवतमो रसः' के अनुसार अम्भोरूप स्वादुरस ही शिवतमरस है। इस प्रकार पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः, चारों लोकों के दधि-घृत-मधु-अमृत-चार रसों के समन्वय से अन्न का स्वरूप निष्पन्न होता है। अन्नगत पार्थिवदधिभाग से शरीर अस्थि-मांस-चर्म्म-आदि घन धातुओं का, आन्तरिक्ष्य घृतभाग से रस, असृक्, मेदा, मज्जा (चर्बी), आदि तरल धातुओं का, दिव्य मधुभाग से शुक्र रूप विरल धातु का, एवं चौथे अमृतभाग से सौम्यमन का स्वरूप निर्म्माण होता है। यही कारण है कि, अमृतरस से रहित पर्य्युषित अन्न मन को प्रिय नहीं होता। अस्वादु भी अन्न शरीर-अन्यधातुओं की जहाँ क्षति-पूर्ति कर देता है, वहाँ अस्वादु अन्न से मनःस्वरूप का विकास सम्भव नहीं है। अतएव पर्य्युषित अन्न निषिद्ध माना गया है। परिपक्व सद्यः ताजा) अन्न अमृतरस से युक्त रहता है। वायुगत इन्द्र रस का ग्रहण करता रहता है। अतएव कालान्तर में अन्न गतरस बन जाता है। दिन में तो फिर भी यथाकथञ्चित् अन्न में थोड़ी बहुत अमृतमात्रा रहती है। परन्तु यातयाम अन्न तो सर्वथा ही नीरस होजाता है। प्रकृत में यही कहना है कि, चारों रसों का जिस लोकचतुष्टयी से अन्न में आगमन होता है, तल्लोक चतुष्टयी ही कश्यप का वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार शुक्र द्वारा उत्पन्न प्रजा का परम्परया रसचतुष्टयकृतमूर्त्ति कश्यप ही अन्नद्वारा प्रजा का उत्पादक बन रहा है।

९१-खगोलीय "कश्यप" के आधार पर प्रत्येक शुक्र के पृथक् "खस्वस्तिक" का निर्म्माण, शुक्र केन्द्राधारेणैव अध ऊर्ध्व तिर्य्यक् चतुरस्रत स्तत्तद् खगोलावच्छिन्न रसमात्राचतुष्टयी का गर्भ में आगमन, एवम् एक समय में एक ही प्राणी का आविर्भाव तदाधारेण ज्यौतिष शास्त्रीय फलादेश-निरुक्ति-सत्यत्व—

इसके अतिरिक्त-साक्षात्-रूप से भी यह कश्यपप्रजापति गर्भस्थिति से आरम्भ कर निधनक्षणपर्य्यन्त अपने लम्बन से प्रजावर्ग में रस प्रदान किया करते हैं। खगोलीय कश्यप के आधार पर प्रत्येक शुक्र के केन्द्र एक 'खस्वास्ति' का निर्म्माण होता है। किसी भी शुक्र को लक्ष्य बना लीजिए। शुक्र गर्भाशयस्थ-शोणिताग्नि में आहुत होता है। जिस समय पुरुष द्वारा योषिदग्नि में शुक्राहुति होती है, उस समय इस दम्पती के खस्वस्तिक के आधार पर खगोल की स्थिति रहती है, वह इस दम्पती का प्रातिस्विक कश्यप-प्रजापति कहलाया है। गर्भस्थ शुक्र को केन्द्र बनाकर ऊर्ध्व-तिर्य्यक्-चारों ओर से ततखगोलावच्छिन्ना रसमात्राचतुष्टयी का गर्भ में आगमन होने लगता है, जिसके मात्रातारतम्य के, दैवासुर भावविशेषों के, उत्कर्षापकर्षभावों के निमित्त गर्भस्थ औपपातिक जीवात्मा के जन्मान्तर के ज्ञानजनितभावना, कर्म्मजनित-

वासनासंस्कार बनाकरते हैं। यदि आप शुक्र केन्द्र को तदनुगत खगोल से समतुलित करेंगे, तो तदाकाशस्थिति ठीक कच्छप जैसी मिलेगी। इसीप्रकार प्रत्येक शुक्रकेन्द्र के भेद से प्रत्येक का खगोलीय-आधिदैविक ग्रहोपग्रहभावयुक्त कश्यप पृथक् पृथक् मिलेगा। इसीके आधार पर ज्योतिष में प्रत्येक की उत्पत्ति का समय पृथक् पृथक् माना गया है। 'एक समय में एक ही प्राणी उत्पन्न होता है'-यह सिद्धान्त ही प्रत्येक प्राणी के भाग्यभेद का मूलकारण है। युग्मसन्तानों में भी शुक्रकेन्द्र भेद से कश्यप भेद स्वभाविक है। प्रतिशुक्र केन्द्र के लम्बन से बनने वाली खगोलीय स्थिति प्रत्येक प्राणी की सर्वथा विदूर होगी। क्योंकि पार्थिव ३६० अंश से खगोलीय ३६० अंश उत्तरोत्तर बृहत्-बृहत्तर-बृहत्तम होते हुए समतुलित रहते हैं। यहाँ का (गर्भस्थिति का) सुसूक्ष्मभी अन्तर वहाँ के (खगोल के) लिए पर्य्याप्त अन्तर का निमित्त बनजाता है। इस प्रकार हृदयभेदनिबन्धन कश्यपसंस्था भेद से किसी भी प्राणी के आधिदैविक-ग्रहोपग्रहभाव परस्पर समान नहीं होने पाते। फलतः जो महानुभाव- "देखते हैं-एक ही समय में उत्पन्न होने पर भी, एक ही ग्रहस्थिति में उत्पन्न होने पर भी अफ्रीका में वर्बरता का समावेश रहता है, उसी समय में भारतीय ब्राह्मण के घर द्विजन्मा पैदा होता है, चाण्डाल के घर चाण्डाल। अतएव ज्योतिषशास्त्र का फलादेश नितान्त भ्रान्त है' इत्यादि कुतर्कों को आगे कर फलादेश का उपहास करते हैं, उनका यह उपहास उन्हीं की प्रातिस्विक सम्पती बना रह जाता है। तत्त्वतः-एक समय में अनेक उत्पन्न हो ही नहीं सकते। कालमापक हमारा भातिसिद्ध घटिका-यन्त्र (घड़ी) नहीं है, अपितु प्रत्येक प्राणी के उपादान भूत शुक्र की केन्द्र बिन्दु से समतुलित कश्यपसंस्था ही है, जिसे न जानकर अल्पज्ञ लोग उपहास के पात्र बन रहे हैं।

६२-प्रजासर्गनिमित्त--सौररश्म्यवच्छिन्न-मरीचिमण्डलाधार प्रतिष्ठित "मारीचाख्य" पार्थिव दध्यादि रसाप्लुत 'कश्यप'' प्रजापति का देवसत्यात्मक स्वरूप, तदुपबृंहण एवम् विज्ञान-चिति-सञ्चार-यज्ञ-परिभाषानुसृत-स्तौम्यत्रिलोकी-अषाढा-उषा--पुष्करपर्ण-नामालिनिरूपण—

परम्परया, एवं साक्षात्रूप से, उभयथा प्रजासर्ग के निमित्त बननेवाले, सौररश्म्यवच्छिन्न मरीचिमण्डल के आधार पर प्रतिष्ठित रहने से 'मारीच' नाम से व्यवहृत होने वाले, पार्थिवादि लोकों के दध्यादिरसों से ओतप्रोत रहने वाले, पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त रहने वाले कश्यप प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप देवसत्यात्मक है, यह प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट किया जाचुका है। सौरमरीचिमण्डल को एक ओर रखते हुए स्वतन्त्र रूप से कश्यप के स्वरूप का विचार कीजिए। महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर नामकी विवर्त्तत्रयी का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया था कि, ईश्वर का ही नाम देवसत्य है, एवं इसकी प्रतिष्ठापार्थिव त्रैलोक्य है। चित्याग्निमय भूपिण्ड के केन्द्राधार से वितायमान चितेनिधेयाग्निमण्डल ही वह महापृथिवी है, जिसके

आधार पर ईश्वरीय देवसत्य का वितान हुआ है। महापृथिवी के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश, ये तीन स्तोम प्रदेश क्रमशः महापृथिवी पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, ये तीन लोक हैं। यही त्रैलोक्यात्मिका महापृथिवी है, जिसे विज्ञानभाषा में '**स्तौम्यत्रिलोकी**'-चितिपरिभाषा में '**अषाढा**' संचारपरिभाषा में '**उखा**', यज्ञपरिभाषा में '**पुष्करपर्ण**' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। भूकेन्द्र से आरम्भकर महापृथिवी के २१ वें अहर्गण व्याप्त चितेनिधेय अग्नि (प्राणाग्नि, देवाग्नि, यज्ञाग्नि, सम्वत्सराग्नि) की घन-तरल-विरल-भेद से तीन अवस्था होजाती है। अवस्थात्रयी सम्बन्ध से त्रिधाविभक्त पार्थिव अग्नि क्रमशः त्रिवृदादि तीनों स्तोमों में प्रतिष्ठित होकर अग्नि-वायु-आदित्य नाम धारण किए हुए है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष में वायु, चन्द्रमा, विद्युत्, इन्द्र, चारों हैं। अतएव प्रकरण भेद से श्रुतियों में यत्रातत्र चारों से किसी का भी संग्रह कर लिया है। उदाहरण के लिए '**त्रीणिज्योतीषि**' के सम्बन्ध से हमने पूर्व में चन्द्रमा को देवसत्य का आन्तरिक्ष्यपर्व बतलाया है। परन्तु, प्रकृत कश्यपस्वरूप मीमांसा में हम वायु को ही आन्तरिक्ष्यपर्व मानते हुए कश्यपस्वरूप की मीमांसा करेंगे।

६३-विराट्-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ का क्रमशः सहस्रपात्-सहस्रशीर्ष सहस्राक्ष-स्वरूप, एवम् ससंज्ञ-प्रभृति त्रिविध प्रजासर्ग-उपादान कारण "देवसत्य" प्रजापति के स्वरूप का निर्वचन—

त्रिवृत् स्तोमानुगत धनाग्नि अग्नि) में पञ्चदश-एकविंशस्तोमानुगत वायु-आदित्य की आहुति होने से अग्नि-वाय्वादित्यमूर्त्ति, किन्तु अग्निप्रधान जो अपूर्वस्वरूप उत्पन्न होता है, वही अग्निप्रधानस्वरूप '**विराट्**' कहलाया है। पञ्चदशस्तोमानुगत तरलाग्नि (वायु) में त्रिवृत्-एकविंशस्तोमानुगत अग्नि-आदित्य की आहुति होने से वाय्वग्न्यादित्यमूर्त्ति, किन्तु वायुप्रधान जो अपूर्वस्वरूप उत्पन्न होता है, वही आदित्य प्रधान स्वरूप '**सर्वज्ञ**' कहलाया है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ ही क्रमशः सहस्रपात्-सहस्राक्षः-सहस्रशीर्षः-त्रैलोक्यव्यापक-देवत्रयीमूर्त्ति-देवसत्य प्रजापति है। देवसत्यप्रजापति के तीनों रूपों से उत्पन्न प्रजा चेतनप्रजा (अस्मदादि) कहलाई है। चेतन प्रजा का जीवात्मा ससंज्ञ है। इसके आग्नेय **वैश्वानर**, वायव्य **तैजस**, आदित्यात्मक **प्राज्ञ**, तीनों रूप क्रमशः देवसत्य के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ के अंश हैं। देवसत्य के हिरण्यगर्भ, विराट्-इन दो रूपों से उत्पन्न प्रजा अर्द्धचेतनप्रजा (वृक्षादि) कहलाई है। अर्द्धचेतनप्रजा का जीवात्मा अन्तःसंज्ञ है। इसके आग्नेय वैश्वानर, वायव्य तैजस, दोनोंरूप देवसत्य के विराट्-पर्व से उत्पन्न प्रजा अचेतन प्रजा (पाषाण लोष्ठादि) कहलाई है। अचेतनप्रजा का आत्मा असंज्ञ है। इसका आग्नेय वैश्वानररूप देवसत्य के विराट् का अंश है। इसप्रकार वही देवसत्य अपने तीनोंरूपों से त्रिविधप्रजासर्ग का उपादान बनता हुआ अपने कर्तृत्त्व का समर्थक बनरहा है।

६४–देवसत्य प्रजापति के घन-तरलाद्यवस्थापन्नभाव, अमृतरसगर्भस्थ दधि-मधु-घृत लक्षण विराट् हिरण्यगर्भ ''कूर्म्म'' एवम् ईश्वरीय देवसत्य-प्रत्यक्षीकरण-विधा विश्लेषण—

देवसत्यलक्षण ईश्वर प्रजापति का पार्थिव विराड्रूप घनावस्थापन्न अग्नि प्रधान बनता हुआ दधिरस से, आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भरूप तरलावस्थापन्न वायु--प्रधान बनता हुआ घृतरस से, दिव्य सर्वज्ञरूप विरलावस्थापन्न आदित्यप्रधान बनता हुआ मधुरस से युक्त है। दधि, घृत, मधु, तीन रस ही इसके स्वरूप निर्म्मापक हैं। चौथा पारमेष्ठ्य सोमात्मक अमृतरस तो इसका चारों ओर से वेष्टन करने वाला ही बनरहा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में, दूसरे शब्दों में अमृतरस के गर्भ में दधि–घृत–मधु–लक्षण विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति देवसत्य प्रतिष्ठित है, जिसका अनुपद में ही कूर्म्मरूप से विश्लेषण होने वाला है। क्योंकि देवसत्य स्वरूप में रसत्रय का ही सहयोग है, अतएव श्रुति ने इसे रसत्रयात्मक ही बतलाया है। रसत्रयात्मक देवसत्य का पार्थिव सम्बत्सर से सम्बन्ध है, जिसे हम 'रथन्तरसामात्मक' भी कह सकते हैं। पार्थिव रथन्तरसाम की प्रतिष्ठा सौर बृहत् सामलक्षण सौर संवत्सर है। सौर बृहन्मण्डल के आधार पर ही पार्थिव रथन्तरमण्डल का वितान हुआ है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि, सौर रश्मियुक्त मरीचि नामक आप्य–प्राण मण्डल ही रसत्रयात्मक देवसत्य का जन्मदाता बनता है। देवसत्य का मूलप्रभव सौरमरीचिप्राण ही है। अतएव इस देवसत्य को अवश्य ही 'मारीच' भी कहा जासकता है। एक ऐसा परिलेख बनाइए; जिसके ऊर्ध्व भाग में तो सूर्य्य प्रतिष्ठित हो, अधोभाग में भूपिण्ड प्रतिष्ठित हो। भूपिण्ड के केन्द्र को काटता हुआ सूर्य्यकेन्द्र का स्पर्श–करता हुआ पार्थिव रेखावृत्त हो। रेखावृत्त में सौर रश्म्यवच्छिन्न मरीचिप्राण व्याप्त हो। भूपिण्ड–केन्द्र से सूर्य्यपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्त २१ अहर्गणों में से २१–१५–९ अहर्गण प्रदेशों में सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–व्याप्त हों। चारों ओर पारमेष्ठ्य समुद्र व्याप्त हो। यही ईश्वरीय देवसत्य का प्रत्यक्ष निदर्शन होगा, जिसके लिए निम्नलिखित नालिका सहायक बनसकेगी—

पार्थिवत्रिलोकी मण्डलात्मकः, सौरप्राणमण्डलगर्भितः—पार्थिव सम्वत्सरः																	
पृथिवी—१						अन्तरिक्षम्—१						द्यौः—३					
४ (१)	५ (२)	६ (३)	७ (४)	८ (५)	९ (६)	१० (१)	११ (२)	१२ (३)	१३ (४)	१४ (५)	१५ (६)	१६ (१)	१७ (२)	१८ (३)	१९ (४)	२० (५)	२१ (६)
अर्थमूर्त्तिः—विराट् दधिरसोपेतः						क्रियामूर्त्तिः—हिरण्यगर्भः घृतरसोपेतः						ज्ञानमूर्त्तिः—सर्वज्ञः मधुरसोपेतः					
अग्निर्योनिः		वायुः		आदित्यः		वायुर्योनिः		अग्निः		आदित्यः		आदित्योयोनिः		अग्निः		वायु	
अग्नि—वायु—आदित्यकृतरूपः अग्निप्रधानः—विराट् वैश्वानराधिष्ठाता असंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः						वायु—अग्नि—आदित्यकृतरूपः वायुप्रधानः—हिरण्यगर्भः तैजसाधिष्ठाता अन्तःसंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः						आदित्य—अग्नि वायुकृतरूपः आदित्यप्रधानः—सर्वज्ञः प्राज्ञाधिष्ठाता ससंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः					
दधि—हैवास्यलोकस्यरूपम्						घृतमन्तरिक्षस्य						मध्वमुष्य					
अमृतरसात्मकः पारमेष्ठ्यसमुद्रे गर्भितः सम्परिष्वक्तः, सौररश्म्यवच्छिन्न मरीचिप्राणमण्डले भुक्तः, दधि—घृत—मधुरसोपेतः—पार्थिवस्तौम्यत्रैलोक्यस्य पू० अ० धु० स्थानेषु विराट्—हिरण्गर्भ—सर्वज्ञरूपेण प्रतिष्ठितः—अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः— **देवसत्यप्रजापतिः**																	
म री चि म ण्ड ल																	

९५–रसत्रयात्मक (दधि घृत मधु) अन्नद्वारा शुक्ररूप परिणत प्रजासर्ग (प्रभव) निदान-भूत देवसत्य, शुक्रकेन्द्राधारेण प्रतिप्राणि-भेद-विभक्त रसप्रद (देवसत्य) इति देव-सत्यानुबन्धि दृष्टिकोण द्वयी एवं प्रजासृष्टि संलग्न कूर्म्म प्रजापति स्वरूप निरूपण—

उक्त लक्षण देवसत्य प्रजापति रसत्रयात्मक अन्नद्वारा शुक्ररूप में परिणत होता हुआ प्रजासर्ग का प्रभव बनता है, यह एक दृष्टिकोण है। एवं शुक्रकेन्द्र के आधार पर प्रतिप्राणी भेद से विभक्त रहता हुआ स्वतन्त्ररूप से प्रजा में रसप्रदान करता है, यह दूसरा दृष्टिकोण है। दोनों का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जाचुका-है। प्रकृत में दूसरे दृष्टिकोण की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। क्योंकि, कश्यपस्वरूप का इसी से सम्बन्ध है। रसत्रयात्मक देवसत्यप्रजापति कूर्म्मरूप में परिणत होकर ही रसप्रदान किया करते हैं। दृश्य खगोल में देवसत्यसंस्था का स्वरूप कूर्म्माकार (कछुए जैसा) ही है। कछुए का उपरिभाग वर्त्तुल होता है, अध: प्रदेश सम होता है। ठीक इसी आकार में परिणत होकर प्रजापति सृष्टिकर्म्म किया करते हैं, जिस कूर्म्माकार का किसी भी निरावरण प्रान्त में साक्षात्कार किया जा सकता है। निरावरण प्रान्त (खुले मैदान) में किसी एक स्थान पर खड़े होकर प्राकृतित स्थिति पर दृष्टि डालिए। आप देखेंगे–आप का पार्थिव धरातल ठीक कछुए के निम्नधरातल के समान सम (चपटा) है। एवं आकाश वर्त्तुलाकाराकारित बनता हुआ चारों ओर के पार्थिव-सम क्षितिज से संलग्न है। यही तो र्म्म का प्रत्यक्ष आकार है। देवसत्यप्रजा–पति के इस आकार में पार्थिव-दधि–आन्तरिक्ष्यघृत-दिव्यमधु, तीनों प्राणरस परिपूर्ण हैं। इन रसों से इसी आकाररूप में परिणत हो कर ही तो आधिदैविक कूर्म्मप्रजापति प्रजासृष्टि कर्म्म में संलग्न हैं। रसत्रय सम्बन्ध से इन्हें **'रसमूर्त्ति'** कहा जा सकता है। सौररश्मि युक्तमरीचिप्राण सम्बन्ध से इन्हें **'मारीच'** कहा जासकता है। प्रतिष्ठात्मक आदित्य प्राण सम्बन्ध से इन्हें 'आदित्य' कहा जासकता है। लोकद्रष्टा होने से 'पश्यक' बनते हुए यही **'कश्यप:–पश्यको भवति'** इस नैगमिक सिद्धान्तानुसार **'कश्यप'** (पश्यक–द्रष्टा) कहला सकते हैं। कश्यपाकार (कछुए के से आकार) रूप में परिणत होने से भी इन्हें **'कश्यप'** कहना अन्वर्थ बन सकता है। प्रजाकर्तृत्त्व से–**'यदकरोत्'** निर्वचन से इन्हें **'कूर्म्म'** भी कहा जासकता है। त्रैलोक्य रसात्मक होने से इन्हें–**'द्यावापृथिव्य'** भी कहा जासकता है।

९६–पशु विशेष कच्छप का "कूर्म्मा" भिध देवसत्य प्रजापतित्व निरूपण—

'कच्छेन पिबति' निर्वचन से पशु विशेष कच्छप कहलाया है। यही प्रतिरूपविधा से कूर्म्म नाम से भी प्रसिद्ध होगया है। वस्तुत: 'यदकरोत्' निर्वचन से 'कूर्म्म' नाम आधिदैविक देवसत्य प्रजापति का है। परन्तु क्योंकि कच्छप–पशु तदाकाराकारित है, अतएव वह नाम इस से भी सम्बद्ध होगया है। कच्छप का अधर कपाल पृथिवी की प्रतिकृति है, ऊर्ध्वकपाल द्युलोक की प्रतिकृति है। इसप्रकार कच्छप पशु तदाकारात्मक बनता हुआ अवश्यमेव उस का प्रतिरूप बन रहा है।

९७–भौतिक पशुविशेष "कूर्म्म" माध्यमेन आधिदैविककूर्म्मसंग्रहणे मानम्, उभयोस्तारतम्य-निदर्शनम्—

कूर्म्म पशु आधिदैविक कूर्म्मप्रजापति की प्रतिकृति है, प्राकृतिक प्रतिरूप शिल्प (ईश्वरीय प्रतिमा) है, यहउक्तसन्दर्भ से प्रमाणित होजाता है। इस के माध्यम से अवश्य ही वह आधिदैविक कूर्म्म उपास्य बन जाता

है। कूर्म्म उस का प्रतिरूप है, यह माना। परन्तु, इस के माध्यम से आधिदैविक कूर्म्म का संग्रह होजाता है, इस में क्या प्रमाण ? किस आधार पर ऐसी प्रतिरूपविधा का समर्थन किया गया ? यह प्रश्न अभी शेष है। इस के समाधान के लिए वेदोक्त चितियज्ञ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। चयनयज्ञ-द्वारा आध्यात्मिक अग्नि में आधिदैविक मण्डल के तत्त्वों की चिति की जाती है। उन सब आधिदैविक चितियों के एकमात्र साधन तत्प्रतिरूपविध आधिभौतिक पदार्थ ही माने गए हैं। भौतिकप्रतिरूपों के माध्यम से ही आधिदैविक तत्त्वचिति की भावना की जाती है। एवं इसी प्रतिरूपविधा से यह भावना कार्य्यरूप में परिणत होजाती है। द्यावापृथिव्य, रसत्रयात्मक-देवसत्यात्मक-कूर्म्म भी आधिदैविक तत्त्व है। चयन कर्म्म में इस की भी यजमान के आध्यात्मिक अग्नि में चिति अपेक्षित है। श्रुति के सामने समस्या उपस्थित हुई कि, किस भौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाने से आधिदैविक कूर्म्म प्राण का चयन सम्भव हो सकता है ?, श्रुति ने कूर्म्म-पशु के माध्यम से समस्या का निराकरण किया। और स्पष्ट किया अनेक दृष्टियों से कूर्म्म का कूर्म्मत्व। आधिदैविक कूर्म्म यदि रसात्मक है, तो यह कूर्म्म पशु भी रसात्मक है। क्योंकि, आपोमयी-लोकसृष्टि से शेष बचे हुए-प्रवर्ग्यभूत आप्यरस से ही जलीय इस कूर्म्म पशु का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। इसप्रकार रसापेक्षया यह उस का प्रतिरूप है। अतएव इस के उपधान से भावना द्वारा वह रसात्मक प्रजापति अवश्य ही उपहित हो जाता है। कूर्म्म पशु की चिति करना इस के माध्यम से लोकत्रयात्मकरस की ही (भावनाद्वारा) चिति करना है—

१-कूर्म्ममुपदधाति। रसो वै कूर्म्मः। रसमेवैतत् (कूर्म्मोपधानकर्म्मणा) उपदधाति। यो वै स एषां लोकानां (पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां) पराङ् रसोऽत्यक्षरत, स एष (प्रवर्ग्यरस एव) कूर्म्मः (कूर्म्मस्वरूपोपपादकः)। तमेवैतदुपदधाति"

६८-कूर्म्मोऽयं पशु रस्तु किं त्रिजगतां मध्ये रसेनप्लुतः-(एतादृक्) शङ्कातङ्क-तमस्विनी-त्रिलयन-प्राग्भार-जुष्टा-श्रुतिः—

रस त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है। त्रैलोक्यरस की चिति अपेक्षित है। कूर्म्म प्रवर्ग्य रसात्मक अवश्य है, परन्तु इस में त्रैलोक्य का समावेश कहां है ? जबतक इस में त्रैलोक्य प्रतिरूपता नहीं, तबतक त्रैलोक्य-रस चिति की भावना गतार्थ नहीं। इसी लोकप्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई आगे जाकर श्रुति-कहती है कि-जहाँ तक (आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः- लोमकेशों, और नखाग्रभागों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में) रस व्याप्त रहता है, वहां तक भूतात्मा व्याप्त रहता है। रसात्मक भूतात्मा जिस कूर्म्म पशुस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह कूर्म्म शरीर त्रैलोक्य का ही प्रतिरूप है। कूर्म्मपशु का अधरकपाल-आदर्शोदर-भूमिप्रतिष्ठित-समभाग-पृथिवी है। यह भूमि पर ठहरा रहता है। उधर पृथिवीलोक भी ठहरा हुआ सा है। अतएव तत्सम कछुए का अधर कपाल अवश्य ही पृथिवीलोक (का प्रतिरूप) माना जा सकता है। कूर्म्म का पृष्ठभाग, जो उभरासा है, उन्नत है, वर्त्तुल है, वही द्युलोक है। यह ऊर्ध्व भाग नीचे के समभाग से पृथक् उठा हुआ सा रहता है। उधर आकाशरूप द्युलोक भी भूलोक से उठा हुआ सा ही रहता है। इसी सादृश्य से कछुए के ऊर्ध्व-भाग को द्युलोक (का प्रतिरूप) माना जा सकता है। अधर कपाल, उत्तर भाग, दोनों के मध्य का उदर

भाग ही अन्तरिक्षलोक है । क्योंकि, पृथिवी, और द्यौ का मध्य प्रदेश ही तो अन्तरिक्ष माना गया है । इस-प्रकार कूर्म्म शरीर रसवत् तीनों लोकों का भी प्रतिरूप बन रहा है । फलतः कूर्म्मोपधान से रसात्मक तीनों लोकों का भी उपधान गतार्थ बन रहा है । इसी लोकत्रय-प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है

२-'यावानु वै रसस्तावानात्मा । स एष इमऽएव लोकाः । तस्य (पशोः) यदधरं कपालं, अयं स लोकः (पृथिवीलोकः) । तत् (अधरकपालं) प्रतिष्ठितमिव भवति । प्रतिष्ठित-इव ह्ययं लोकः । अथ यदुत्तरं सा द्यौः । तत् (उत्तरं वत्तुलकपालं) व्यवगृहीतान्तमिव भवति । व्यवगृहीतान्तेव द्यौः । अथ यदन्तरा-तदन्तरिक्षम् । स एष (कूर्म्मः) इमऽएवलोकाः (लोकानां प्रतिरूपः) । (कूर्म्मोपधानेन) इमानेवैतल्लोकानुपदधाति" ॥ ।

९९-"तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन" श्रुतिसाक्ष्य द्वारा दधि घृतमधु सम्परिष्वक्त कूर्म्म का सर्वात्मना अधिदैवत कूर्म्म प्रातिरूप्य-निर्वचन—

लोकत्रयरसप्रवर्ग्य भाग से उत्पन्न होने के कारण सामान्य रस सम्पत्ति का एवं अधर सम कपाल-उत्तर वत्तुल कपाल, उभय मध्यप्रदेशरूप से लोकत्रय सम्पत्ति की प्रतिरूपता का तो यहां ग्रहण हो जाता है । परन्तु, तीनोंलोकों में रहनेवाले दधि-धृत-मधु-इन तीन रसों की पृथक्त्वेन साक्षात्रूप से प्रतिरूपता का कूर्म्म में अभाव है । आहार्य्यारोपविधा में तो केवल आरोपबुद्धि से भी काम चल जाता है । परन्तु प्रतिरूपविधा तो वही मानी गई है, जिस में आदर्श के प्रत्येक स्वरूप का, अवयव का समावेश रहे । कूर्म्म में क्योंकि दध्यादिरसों के प्रतिरूपों का अभाव है, अतएव चयनयज्ञ में गृहीत कूर्म्म का इन तीनों रसों के प्रतिरूपभूत दधि-(दही), घृत (घी), मधु (शहद) तीनों से अभ्यञ्जन किया जाता है । इन तीनों के अभ्यञ्जन (अनुलेपन) से कूर्म्म सर्वात्मना उस अधिदैवत कूर्म्म का प्रतिरूप बन जाता है । इसी वैध प्रति-रूपता का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

३-"तमभ्यनक्ति-दध्ना, मधुना, घृतेन । दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य । स्वेनैवैनमेतद्रूपेण समर्द्धयति । अथो दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृत-मन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य । स्वेनैवैनमेतद्रसेन समर्द्धयति" ।

१००-अपतत्व प्रतिरूप "अवका" (शैवाल)-वेष्टित कूर्म्म का दध्यादिरसत्रयातिरिक्त चतुर्थामृतरस सम्पन्नत्त्व, एवं अवका अधस्ताद् भवन्ति···" श्रुति द्वारा एत-न्निरूपण—

सबकी प्रतिरूपता का समन्वय होगया । परन्तु अभी एक प्रतिरूपता की कमी रह गई । बतलाया गया है कि, आधिदैविक देवसत्यात्मक कूर्म्मप्रजापति के चारों ओर आपोमय परमेष्ठी व्याप्त है, यही चौथा आपो-लोकानुगत अमृतरस है, जिसे स्वादुरसात्मक सोम बतलाया गया है । इसकी प्रतिरूपता के लिए यहाँ कूर्म्म-

पशु के ऊपर-नीचे 'अवका' (शैवाल) रक्खे जाते हैं। 'अवका' अप्तत्त्व का ही प्रतिरूप है। जिस प्रकार त्रैलोक्यरसों के प्रतिरूपभूत दध्यादि तीनों रसों से कूर्म्म रसत्रय सम्पत्ति से युक्त होजाता है, एवमेव चतुर्थ-लोकीय आप्यरस से प्रतिरूपभूत अवकाओं के सर्वत: वेष्टन से यह कूर्म्म उस चौथी अमृतरस सम्पत्ति से भी युक्त होजाता है। दोनों ओर अवका के उपधान से कूर्म्मपशु दोनों के मध्य में उसी प्रकार उपहित होजाता है, जैसेकि अधिदैवत लोकत्रयात्मक कूर्म्मप्रजापति-**'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'** (यजुःसं०) इत्यादि यजुर्म्मन्त्रवर्णनानुसार-आपोमय समुद्र के मध्य में उपहित है। इसी अप्-प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

४-"अवका अधस्ताद् भवन्ति, अवका उपरिष्टात्। आपो वा अवकाः। अपामे-नैनमेतन्मध्यतो दधाति"।

१०१-अधिदैवत कूर्म्म प्रजापति में आधार रूप से आदित्यप्राणों का समावेश—

बतलाया गया है कि, अधिदैवत कूर्म्मप्रजापति में आधाररूप से आदित्यप्राण का भी समावेश है अतएव कूर्म्म को आदित्य भी कहा जासकता है। इसी आधार पर श्रुति कहती है कि, कूर्म्मपशु का उपधान करना प्रतिरूपविधा से आदित्य का भी उपधान करना है। प्राकृतिक सम्वत्सराग्निलक्षण चयन यज्ञ में आदित्य का पूर्वतः प्रत्यङ्रूप से ही उपधान होता है।

१०२-योषा प्राणात्मिका "अषाढा" वृषा प्राणात्मिका "कूर्म्मचिति" एवं अरत्निमात्र प्रदेशान्तर पर योषा दक्षिणाहि वृषा का शयन—

'अषाढा' चिति स्त्रीलिङ्गत्वेन योषा-प्राणात्मिका (स्त्रीप्राणात्मिका) है, कूर्म्मचिति पुल्लिङ्गत्वेन वृषाप्राणात्मिका (पुरुषप्राणात्मिका) है। दूसरे शब्दों में 'कूर्म्म' पशु अपने लिङ्गधर्म्म से वृषा (पुरुष) का भी प्रतिरूप बन रहा है। प्रजोत्पादक-प्राकृतिक आध्यात्मिक दाम्पत्ययज्ञ में योषा (स्त्री) से दक्षिणभाग में वृषा (पुरुष) अरत्निमात्र प्रदेशान्तर पर शयन करता है। अतएव वृषाप्रतिरूप कूर्म्म का योषाप्रतिरूपा अषाढाचिति के दक्षिणभाग में अरत्नि-मात्र प्रदेश के अन्तर पर ही उपधान होता है।

१०३-प्राणापान व्यानत्रयी प्रतिरूप कूर्म्म, एवं एतद् द्वारा अपूर्व मिथुन सम्पत्ति का संग्रह—

पार्थिव आग्नेय प्राण **'अपान'** आन्तरिक्ष्य वायव्यप्राण **'व्यान'** है, द्युलोकस्थ आदित्यप्राण **'प्राण'** है। इस दृष्टि से त्रैलोक्यरसात्मक कूर्म्मप्रजापति प्राणात्मक भी बन रहा है। अतएव तत्प्रतिरूप कूर्म्मपशु को लोकत्रयावच्छिन्ना प्राणत्रयी का भी प्रतिरूप माना जासकता है। फलतः कूर्म्मपशुरूप प्रतिरूप के उपधान से यज्ञकर्त्ता यजमानात्मा में भी प्राणों का भी [भावनाद्वारा] उपधान होजाता है। इस प्राणाधान से एक अपूर्व अन्य मिथुनसम्पत्ति का संग्रह और होजाता है। अषाढाचिति उसी प्रतिरूपविधा से योषा के अतिरिक्त 'वाक्' भी है। कूर्म्मचिति वृषा के अतिरिक्त प्राण भी है। प्राण-वाक् का मिथुन ही प्रजोत्पादक है। इस दृष्टि से

[प्राणप्रतिरूपविधा से] कूर्म्मचिति इस मिथुन सम्पत्ति की भी संग्राहिका बन रही है। इसप्रकार देवसत्य-प्रजापतिरूपकूर्म्म के प्रतिरूप के साथ साथ यह कूर्म्मपशु आदित्यप्राण, वृषा, आध्यात्मिक प्राणत्रयी, मिथुनभाव, आदि सम्पत्तियों का भी संग्राहक बन रहा है, जिनका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

५–"स य सः कूर्म्मः–असौ स आदित्यः। अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति। तं (कूर्म्म-पशुं) पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधाति, अमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति, अमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति। तस्मादसावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते"।

६–"दक्षिणतोऽषाढायै (अषाढायाः–दक्षिणभागे उपदधाति कूर्म्मपशुम्।) वृषा वै कूर्म्मः (वृषाप्रतिरूपः- पुल्लिङ्गत्वात्)। योषा अषाढ़ा (योषाप्रतिरूपा-स्त्रीलिङ्गत्वात्)। दक्षिणतो वै वृषा योषा मुपशेते। अरत्निमात्रे (अषाढाया दक्षिणतः अरत्निमात्र प्रदेशान्तरे कूर्म्ममुपदधाति)। अरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते"।

७–"यद्वेव कूर्म्ममुपदधाति-प्राणो वै कूर्म्मः। प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति। प्राणमेवैतदुपदधाति। यजमानेतत् प्राणं दधाति"।

८–"दक्षिणतोऽषाढायै (उपदधाति)। प्राणो वै कूर्म्मः। वागषाढा। प्राणो वै वाचो वृषा (वाग्रूपिण्या अषाढ़ायाः प्राणरूपः कूर्म्मः–वृषा–पतिः)। प्राणो मिथुनम् (मिथुनमेवैतदुपदधाति)।"

१०४–त्रिमूर्ति--अग्निप्रधानविराट्--वायुप्रधानहिरण्यगर्भ--आदित्यप्रधानसर्वज्ञ--त्रितय-पर्वात्मक देवसत्य स्वरूप निष्पत्ति, कूर्म्मोपधान में आग्नेय त्रिवृत् सम्पत्ति का ऋचावाप्त संग्रह एवं त्रिवृत् प्रतिरूपता दिग्दर्शनानुबन्धि श्रुतिप्रामाण्य—

एक प्रतिरूप सम्पत्ति का समन्वय और कर लीजिए। बतलाया गया है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यावच्छिन्न पार्थिव अग्नि की घनादि तीन अवस्थाओं [अग्नि–वायु–आदित्यों] से ही प्राकृतिक कूर्म्मप्रजापति का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। पार्थिव अग्निलक्षण अग्नि, अन्तरिक्ष्य वायुलक्षण अग्नि, दिव्य आदित्यलक्षण अग्नि, तीनों के त्रिवृत्करण से त्रिस्त्रिमूर्त्ति अग्निप्रधान विराट्, वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, आदित्यप्रधान सर्वज्ञ एतत्त्रितयपर्वात्मक देवसत्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नि की इस त्रिवृत् सम्पत्ति का संग्रह भी कूर्म्मोपधान में होना आवश्यक है। यह सम्पत्ति ऋचा से प्राप्त होजाती

है। तीन ही मन्त्रों से तो कूर्म्म का दधि मधु-घृत से अभ्यञ्जन* होता है, एवं तीन ही मन्त्रों से कूर्म्म का उपधान÷ होता है इस प्रकार त्रिरभ्यञ्जन, एवं त्रिरुपधान से अग्न्यनुगता त्रिवृत् सम्पत्ति का भी कूर्म्मप्रजापति के प्रतिरूप कूर्म्मपशु के साथ सम्बन्ध होजाता है। इसी त्रिवृत्प्रतिरूपता का दिगदर्शन कराती हुई श्रुति कहती है।

९-"गायत्रीभिस्तिसृभिः (अभ्यनक्ति)। त्रिभिरुपदधाति। त्रय इमे लोकाः। अथोत्रिवृदग्निः यावानग्निः, यावात्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतदुपदधाति। त्रिभिरभ्यनक्ति। तत् षट्। तस्योक्तो बन्धुः॥"

१०-"अपां गम्भन्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः॥
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥१॥
त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्॥
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥२॥
मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्॥
पिप्रतां नो भरीमभि॥३॥ (इत्युप्रधानमन्त्रत्रयी)

१०५-"कूर्म्म" शब्द निरुक्ति, पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्य्ययेन सर्वलोक द्रष्टृ-स्वरूपात् "पश्यक" शब्द का "कश्यप" विपर्य्यय, काश्यपी प्रजा, एवं कच्छपपशु का कूर्म्म-प्रजापति व्याहार—

कूर्म्मपशु से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण होगया। अब केवल नाम निर्वचन का प्रश्न शेष रहा। इस पशु का नाम 'कूर्म्म' क्यों रक्खा गया?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, (अग्नि–वायु–आदित्यात्मक, त्रैलोक्यव्यापक, रसत्रयमूर्ति, देवसत्य लक्षण ईश्वर) प्रजापति

---

*—"मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः॥
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥१॥
मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः॥
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥२॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य्यः॥
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥३॥ (इत्यभ्यञ्जनमन्त्रत्रयी)
—यजुः सं० १३,२७,२८,२९।

इस पशु के आकार में परिणत होकर ही (कछुए जैसा ऊपर से वर्तुलाकार, नीचे से आदर्शवत् समआकार रूप में परिणत होकर ही) प्रजा उत्पन्न करता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। जो कि प्रजापति इस आकार में परिणत होकर प्रजा उत्पन्न करता है, वह उत्पादन कर्म्म ही करता है। इस कर्म्म सम्बन्ध से ही वह आधिदैविक प्रजापति 'यदकरोत्' निर्वचन से 'कूर्म्म' कहलाया है। वह कूर्म्म अपने आधिदैविक स्वरूप से सर्वलोकद्रष्टा बनता हुआ 'कश्यप' है। अतएव परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा में वह पश्यक ही वर्णविपर्य्य से 'कश्यप' कहलाया है। इसी से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई है, होरही है, होगी, अतएव प्रजा को 'काश्यपी' कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, इस पशु के आकार से समतुलित होता हुआ अपने कर्तृत्व धर्म्म से वह कूर्म्म कहलाया है। यह पशु उसी का प्रतिरूप है। अतएव उसके कूर्म्म नाम का इस कच्छप पशु के साथ सम्बन्ध होगया है। इसप्रकार प्रतिरूपविधा से यह कच्छप पशु भी 'कूर्म्म' इस प्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगगया है—

२०-"स यत् कूर्म्मो नाम-एतद्वै रूपं (कच्छपरूपं) कृत्वा प्रजापतिः
प्रजा असृजत। यदसृजत-अकरोत्तत्। यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः।
कश्यपो (पश्यको) वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' इति"।

—शत० ब्रा० ७ कां० । ५ अ० । १ ब्रा० । १ क० से ११ क० पर्य्यन्त।

१०६-पुराण शास्त्रोक्त "अमृत मन्थन" आख्यान का कूर्म्म प्रजापति से सम्बन्ध, एवं आधुनिक वैदिकम्मन्यों के प्रौढवाद पर कटाक्षेप—

पुराणशास्त्रोक्त सुप्रसिद्ध 'अमृतमन्थन' आख्यान का भी इसी कूर्म्मप्रजापति से सम्बन्ध है। रोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त अर्णवसमुद्र का पार्थिव सौर प्राणात्मक देव देवताओं, तथा आप्यप्राणात्मक असुरों के द्वारा ग्रहात्मक नागवायु व्यापार से मन्थन होता है। इस मन्थन की मूलप्रतिष्ठा त्रैलोक्य व्यापक कूर्म्म-प्रजापति ही बनते हैं। देवासुरों की इसी मन्थन प्रक्रिया से चौदहरत्नों का उद्गम होता है, जिनका पुराणादि निबन्धों में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। उपवर्णित कूर्म्मप्रजापति देवसत्यात्मक है, मायीमहेश्वर का अवतार है, अंश है। अंशी से अभिन्न है। इस दृष्टि से यद्यपि कूर्म्मप्रजापति को महेश्वररूप भी माना जासकता हैं। तथापि तत्त्वदृष्टया इसे उसका अवताररूप ही माना जाएगा। वामन-वराह-कूर्म्म-सूर्य्य-चन्द्र-आदि सभी कुछ वही हैं। परन्तु वामन वराह नहीं है, वराह वामन नहीं है। वाक् प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-आदि सभी सर्वाङ्गशरीरव्यापक आत्मापेक्षया जहाँ अभिन्न हैं, अहंलक्षण हैं, वहाँ **'गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्'** न्याय से ये परस्पर विभिन्न तत्त्व हैं। ऐसी स्थिति में कूर्म्म-वामन-वराहादि विभिन्न तत्त्वों को परस्पर अविभिन्न बतलाना कथमपि विज्ञासम्मत नहीं माना जासकता। यदि इन्हें विभिन्न मान लिया जाएगा, तो अनेकदेवतावाद प्रमाणित हो जाएगा, और उस दशा में प्रतिरूपोपासना (प्रतिमोपासना) भी प्रामाणिक बन जाएगी, एकमात्र इस स्वकल्पित अवैदिक सिद्धान्त की रक्षा के लिए कूर्म्मादि को परमेश्वर परक लगाना आधुनिक वैदिकम्मन्यों का केवल प्रौढवाद ही रहजाता है।

१०७-"स यत् कूर्म्मो नाम" इत्यादि शतपथ श्रुति पर "परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात्तस्य कूर्म संज्ञा" इत्यात्मक श्रीमद्यानन्द स्वामी के भाष्य का समालोचन---

स्वामी दयानन्द भी अन्यभाष्यकारों की तरह सम्भवतः तत्त्वज्ञान की ओर से उदासीन ही थे। यही कारण है कि, उन्होंने उक्त शतपथी श्रुति का भाष्य करते हुए यह प्रकट किया है कि-**'परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा'** (ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका)। तत्त्वतः-स्थिति तो यह है कि, परमेश्वर का न तो नाम ही कूर्म्म है, एवं न परमेश्वर सृष्टिकर्त्ता ही है। सर्वबल विशिष्ट रसैकघन मायातीत अखण्ड-परात्पर ही तत्त्वदृष्टया परमेश्वर है। सृष्टिकर्तृत्त्व की मूल प्रतिष्ठा कामना (इच्छा) है। अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना होती है। व्यापक परात्पर-परेश्वर अपनी व्यापकता से आत्मकाम है, आप्तकाम है, नित्यतृप्त है। जब वहाँ किसी वस्तु का अभाव ही नहीं तो कामना कैसी। कामना नहीं, तो उसका सृष्टि कर्तृत्त्व कैसा? **'कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्'** (ऋक् सं०·········) इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार मन का व्यापार है, मन का रेत है। **'हृत् प्रतिष्ठिं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** (यजुः सं०······) इत्यादि यजुर्वर्णनानुसार मन की प्रतिष्ठा हृदय है। हृदय (गर्भ-केन्द्र) सीमित वस्तु से ही सम्बन्ध रखता है। असीम परात्पर परमेश्वर में सीमानुबन्धी हृदय का ही जब अभाव है, तो कामनामय मन का वहाँ सम्बन्ध ही कैसे सम्भव है। यदि अभ्युपगमवाक् का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए स्वामी जी के परमेश्वर को सीमित मान लिया जाय, तब भी उनका निराकार-सिद्धान्त कैसे सुरक्षित रहेगा ?, इस प्रश्न की सम्भवतः उन्होंने मीमांसा ही न की होगी। श्रुति कूर्म्मप्रजापति को त्रैलोक्यात्मक बतला रही है, उसका **'एतद्वै रूपं कृत्त्वा'** रूप से कूर्म्मपशुसम निश्चत आकार बतला रही है। श्रुति कहती है-कूर्म्मपशु उसका प्रतिरूप है, श्रुति-भक्त स्वामी जी करते हैं, न उसका कोई आकार है, न प्रतिरूप (प्रतिकृति-प्रतिमा) है। कैसे अद्भुत श्रुति-समन्वय है, और कैसी है उनकी अभिनन्दनीय (?) वेदनिष्ठा।

१०८-प्रतिरूपमाध्यम को अवैदिक घोषित करने वाले महाशयों से प्रश्न—

तत्त्वज्ञान शून्य महानुभाव प्रतिरूप माध्यम की अवैदिकता घोषित करते हुए कहा करते हैं कि, प्रतिमा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जड़ प्रतिमा से कहीं चेतन का ध्यान सम्भव हुआ है? ठीक। हम उन प्रतिरूप-माध्यम विरोधियों से पूछते हैं कि, क्या कूर्म्मपशु सचमुच उस त्रैलोक्यव्यापक कूर्म्मप्रजापति से समतुलित है? क्या थोड़े से दधि-घृत-मधु-लिम्पन से कूर्म्मपशु त्रैलोक्यविभूति से युक्त होजाता है ?, क्या दोनों ओर लगाए गए अपका (शैवाल) व्यापकपारमेष्ठय समुद्र माना जासकता है ?। यदि नहीं, तो श्रुति ने इनके माध्यम से उन आधिदैविक तत्त्वों का संग्रह कैसे स्वीकार किया? यदि हाँ, तो प्रतिमा माध्यम द्वारा विहित उपासनामार्ग का विरोध किस आधार पर किया गया ? दे सकेंगे वेद भक्त इस प्रश्न का उत्तर ?, कर सकेंगे वे प्रकृत कूर्म्मोंप्रधान श्रुति का समन्वय ? त एव प्रष्टव्याः।

१०६-जड़ भगवत् प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा, भावनात्मक भूतमाध्यम से उपास्य-प्रत्ययालम्बन का साफल्य, एवं "उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" सिद्धान्त का निर्वचन—

भगवत्प्रतिमा जड़ है, मानते हैं। परन्तु वेदमन्त्रों द्वारा इसमें प्राणप्रतिष्ठा द्वारा चेतन भावना का समावेश किया जाता है। भले ही प्रतिमा को यह विदित न हो कि, मैं उस व्यापक उपास्य का प्रतिरूप हूँ। परन्तु हमारी भावना सफल होजाती है। क्या कूर्म्मपशु को यह विदित है कि, मैं त्रैलोक्यव्यापक कूर्म्मप्रजापति का प्रतिरूप हूँ ? क्या वह जानता है कि—**'मधुव्राता ऋतायते०'** इत्यादि गायत्रिच से मेरा दध्यादि से अभ्यञ्जन होरहा है, और मैं त्रैलोक्यरसों से युक्त होरहा हूँ ?, क्या वह यह अनुभव कर रहा है कि—**'अपां गम्भन् सीद०'** इत्यादि उत्तर चित्र से मैं समुद्र की गहराई में प्रतिष्ठित होरहा हूँ ?, क्या उसे यह बोध है कि मैं आदित्यप्राणात्मक हूँ, वृषा हूँ, प्राण हूँ ?, कदापि नहीं। फिर कैसे श्रुति ने कूर्म्मपशु के उपधान से इन तत्त्वों का संग्रह कर लिया ? । उत्तर वही भावानात्मिका प्रतिरूपविधा है। हमारी भावना ही भूतमाध्यम से उपास्य प्रत्ययालम्बनता की साधिका बन जाती है। सम्पूर्ण वैदिकयज्ञकर्म्म, वैदिक उपासना इसी भावना पर अवलम्बित है। **'देवो भूत्वा देवं भावयेत'-'यद्यत्स्वरूपमादतेतेन तेन स यज्यते'-'तं यथायथोपासते, तथैवभवति'**-श्रद्धामयोऽयं पुरुषः **योयच्छ्रद्धः स एव सः'-'उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना'** इत्यादि आर्ष सिद्धान्त इसी श्रद्धामयी भावना का समर्थन कर रहे हैं, जिसके आधार पर एक जलीय पशु (कूर्म्म) आधिदैविक प्रजापति की उपासना का साधक बन रहा है। एवं जिस भावना के अभाव से मन्दबुद्धियों का भावात्मक अन्तर्जगत् अभावस्वरूप में परिणत होता हुआ नष्ट होरहा है—**'काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः'**।

११०-चेतन प्रतिरूपात्मक प्रथम कूर्म्मोदाहरण की संक्षिप्त मीमांसा—

प्रकृतमनुसरामः। कूर्म्मपशु नित्यावतारलक्षण, देवसत्यात्मक-ईश्वरप्रजापति का चेतन प्रतिरूप है। इसके माध्यम से इसकी सुप्रसिद्ध * कूर्म्माङ्गवृत्ति का अनुसरण करता हुआ तद्द्वारा आधिदैविक प्रजापति के साथ स्वप्रत्यय को प्रवाहित करने में अवश्य ही समर्थन होसकता है। इसीप्रकार चेतन गौपशु, चेतन माता-पिता-आचार्य्य के माध्यम से भी तदनुरूप आधिदैविक तत्त्वों का अध्यात्म में आधान किया जासकता है। यही चेतन प्रतिरूपात्मक प्रथम कूर्म्मोदाहरण की संक्षिप्त मीमांसा है।

*** यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्व्वशः।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गी० २।५८।

—६—

७-अर्द्धचेतनप्रतिरूपोदाहरणम्-(अश्वत्थवृक्षः)—

कूर्म्मपशु चेतन उपास्य का चेतनप्राणी प्रतिरूप भी बन सकता है, ऐकात्म्यभावानुगति से चेतन उपास्य के लिए चेतनमाध्यम का यथाकथञ्चित् समादर भी किया जासकता है। परन्तु जड़-भौतिक पदार्थ की प्रतिरूपता का तो उस चेतन आधिदैविक के साथ अणुमात्र भी साम्य नहीं है। और हम (प्रतिमा-माध्यम विरोधी लोग) ऐसी जड़ोपासना के ही विरोधी हैं" उक्त कूर्म्मोदाहरण में यह थोड़ा सा अस्वारस्य आजाता है। इस अस्वारस्य की निवृत्ति प्रकृत 'अश्वत्थोदाहरण' से अंशतः हट रही है। उसी का स्वरूप उद्धृत होरहा है।

११२-आधिभौतिक, आधिकारिक, प्राकृतिक "अश्वत्थ" का अर्द्धचेतन-प्रतिरूपविधा मुख्योदाहरणत्व—

सुप्रसिद्ध, पार्थिव, आधिभौतिक, आधिकारिक, प्राकृतिक 'अश्वत्थवृक्ष ही अर्द्धचेतन प्रतिरूपविधा का मुख्य उदाहरण माना जासकता है। प्राकृतिक, आधिदैविक, आधिकारिक अश्वत्थब्रह्म का जैसा स्वरूप है, कई अशों में अश्वत्थवृक्ष उससे समतुलित है। अतएव इस अश्वत्थवृक्षात्मक भौतिक प्रतिरूप के माध्यम से उस आधिदैविक अमृतसत्यलक्षण महेश्वरप्रजापति की ओर स्व-आध्यात्मिक प्रत्यय प्रतिपादित किया जासकता है। जिस अश्वत्थ प्रजापति का यह अश्वत्थवृक्ष प्रतिरूप है, पहिले उस तत्वात्मक आधिदैविक अश्वत्थ के स्वरूप की ओर विष्णूपासकों का ध्यान आकर्षित कियाजाता है।

११३-महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-त्रिविभागभक्त प्रजापति, महेश्वर-उपेश्वरादि में अन्तर्लीन (प्रतिष्ठित) अस्मदादि चतुर्दश भूतसर्ग, "परमेश्वर" का सर्वातिशायी रूप एवं ईश्वरोपेश्वरों के सहस्राधि विवर्तों का निरूपण—

चेतनप्रतिरूपोदाहरण-परिच्छेद के उपक्रम में 'प्रजापति' शब्द की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि महेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, भेद से प्रजापति तीन भागों में विभक्त है। महेश्वर के गर्भ में उपेश्वर प्रतिष्ठित है, उपश्वर के गर्भ में ईश्वर प्रतिष्ठित है, ईश्वरगर्भ में अस्मदादि चतुर्दशविध भूतसर्ग (प्रजावर्ग) प्रतिष्ठित है। प्रजाध्यक्ष ईश्वर देवसत्यात्मक क्षरप्रधानतत्त्व है। ईश्वराध्यक्ष उपेश्वर ब्रह्मसत्यात्मक अक्षर-प्रधानतत्त्व है। उपेश्वराध्यक्ष, किंवा सर्वाध्यक्ष महेश्वर अमृतसत्यात्मक अव्ययप्रधानतत्त्व है। ये तीनों जिस एक अखण्ड-अद्वय-मायातीत-सर्वबलविशिष्टैकरसमूर्त्ति परात्पर के अंश हैं, वही अखण्ड विश्वातीत परात्पर 'परमेश्वर' कहलाया है। अनाद्यनन्त महासमुद्र में जो स्थिति सीमाभावपन्न बुद्बुदों (बुलबुलों) की है, तत्सम अखण्ड परात्पर धरातल पर प्रतिष्ठित महेश्वरादि तीनों की वही स्थिति है। महेश्वरस्वरूप को जन्म देने वाली महामाया अपने असंख्य विवर्त्तभावों से बुद्बुद्वद् उस अनाद्यनन्त परात्पर समुद्र में अविर्भूत-तिरोभूत होती रहती है। एक एक महामाया से एक एक उस मायी महेश्वर का उद्गम होता है, जिस मायी महेश्वर के गर्भ में सहस्रयोगमायाओं के पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य वल्शा के अध्यक्ष एक सहस्र वल्शेश्वर (उपेश्वर), एवं इतने ही देवसत्यलक्षण ईश्वर प्रतिष्ठित हैं। एक सहस्र ईश्वर, एक सहस्र उपेश्वर, दोनों

सहस्र सहस्र विवर्त्तों को अपने गर्भ में भुक्त रखने वाले महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे असंख्य महेश्वर (असंख्य महामाया विवर्त्तों के कारण) जिस अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित हैं, वह परात्पर परमेश्वर संख्यातीत है, एक है। उस एक ही अखण्ड परात्पर के–'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार महेश्वरादि अनन्त विवर्त्त हैं।

११४–महावन-समतुलित परात्पर परमेश्वर, तन्मायानन्त्य, एवं इस ब्रह्म वृक्ष का तैत्तिरीय ब्राह्मणोपवर्णित प्रश्नोत्तरों से स्पष्टीकरण—

अनन्त महामायाबलों को अपने गर्भ में रखने वाला अखण्ड परात्पर परमेश्वर उस 'महावन' से समतुलित है, जिस निःसीम महावन में अनन्त–असंख्य वृक्ष प्रतिष्ठित रहते हैं। महावनरूप परात्पर ब्रह्म के गर्भीभूत एक एक माहामाया बल से सहस्रोपश्वर–सहस्रेश्वर गर्भित जिस एक एक महामायी महेश्वर उद्गम होता है, वह वृक्षरूप से समतुलित है। मायानन्त्य से उस परात्परवन में ऐसे अनन्त वृक्ष हैं। इन अनन्त वृक्षब्रह्मों (मायी महेश्वरों) में से हमारा सम्बन्ध केवल एक वृक्षब्रह्म से है। इस एक वृक्षब्रह्म के क्षर भाग को काट-छांट कर अक्षर प्रकृति ने जिस एक पञ्चपुण्डीरात्मिका प्राजापत्य बल्शा का निर्म्माण किया है, वह बल्शा एक योगमायी उपेश्वर है। द्यावापृथिवीरूप उपेश्वर वृक्षकाष्ठ से निर्म्मित एक पुर से समतुलित है। परात्पररूप वन, महेश्वररूप वृक्ष, उपेश्वररूप पुर, तीनों एक ही परात्पर के मायातीत, महामायी, योग-मायी विवर्त्त हैं। इस दृष्टि से तीनों को 'ब्रह्म' इस समान नाम से व्यवहृत करते हुए यह कहा जासकता है कि–ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वृक्ष है, ब्रह्म ही द्यावा पृथिवी रूप वह पुर है, जिसे ब्रह्मवृक्ष को काट-छांट कर निर्म्मित किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी रूप से इस तत्त्वत्रयी का विश्लेषण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट है–

* १–प्रश्नश्रुतिः–"किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत्–यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु–यद् ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! ॥"

२–उत्तरश्रुतिः–"ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्–यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः–ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥"
—तै० ब्रा० २ कां०।८ प्र०।९ अ०।६,७ कं०।

---

*–"किंस्विद्वनं, क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
सन्तस्थाने अजरे इत ऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥१॥
नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षास द्यावापृथिवी बिभर्त्ति ॥
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावत् यदीं सूर्य्यं न हरितो वहन्ति ॥२॥
—ऋक् सं० १०।३१।७,८।

किंस्विद्वनं, क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतत्–यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥१॥
—यजुःसं० १७।२०।
—तै० ब्रा० २ ब्रा० २ कां०।८ प्र०।९ अ०।६,७ कं०।

१-ब्रह्मवनम्—-अखण्डः परात्परः—-सत्यस्य सत्यम्—परात्परः-परमेश्वरः।
२-ब्रह्म स वृक्षः-महामायी महेश्वरः—-अमृतसत्यम्—-पुरुषः-अव्ययः।
३-द्यावापृथिवी-योगमायी उपेश्वरः—-ब्रह्म-देथसत्ये—-प्रकृतिरक्षरः, विकृतिः क्षरश्च।
(देवसत्यगर्भितः)

* * *

११५-क्षराक्षर गर्भित महेश्वर रूप "अश्वत्थ" की सहस्रशाखाएँ, मायी महेश्वर गर्भ प्रतिष्ठित योगमाया के सहस्र विवर्त्तों का स्वरूपोपबृंहण—

परात्पररूप महावन के एक मायात्मक महेश्वर-वृक्ष का ही प्रकृत की श्रद्ध चेतन प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध है। महेश्वररूप क्षराक्षरगर्भित वृक्ष ही 'अश्वत्थवृक्ष' कहलाया है। इस अश्वत्थवृक्ष की एक सहस्र शाखा मानी गई हैं। उपेश्वर स्वरूप सम्पादिका योगमाया के एक सहस्र विवर्त्त मायी महेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। एकमात्र इसी आधार पर इसे 'सहस्रवल्श' माना गया है। प्रत्येक वल्श में तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्' न्याय से वह मनोमय महेश्वर प्रतिष्ठित है, अतएव वह 'सहस्रचेताः' नाम से प्रसिद्ध है। (ऋक् सं० १।१००।१२)। इसी साहस्री के आधार पर वह 'सहस्रऽअक्षराः'-'सहस्रचक्षाः'-'सहस्र-जित्'-'सहस्रद्वारं'-'सहस्रधारः'-'ससस्रपर्णः'-'सहस्रशीर्षा'-'सहस्राक्षः'-'सहस्रपात्'-'सहस्रशृङ्गः' (ऋक् सं० (१।१६४।४१)-(७।३४।१०)-(१।१८८।१)-(७।८८।१)-(६।२६।२)-८।७७।७)-(१०।६०।१)-(१।७६।१२)-(१०।६०।१)-(५।१।८)—) इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। निम्न लिखित मन्त्र श्रुतियाँ अश्वत्थवनस्पतिरूप सहस्रवल्श इसी महेश्वर का दिग्दर्शन कर रही हैं—

> १-वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम॥
> यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय॥
> —ऋक् सं० ३।८.११।
>
> २-त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति॥
> यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः॥
> —ऋक् सं० ७।३३।६।

११६-पुरुष एवेदं सर्वम्" आधारेण सत्यपि पुरुष वैशिष्ट्ये किमिति महेश्वर समष्टि-वर्णने "वृक्ष" इत्यभिधीयत इति शङ्कायाम् कृतप्ररोहि वृक्षस्य कृताप्ररोहि-पुरुषापेक्षया वैशिष्ट्यात् समष्टि महेश्वरस्य "वृक्ष" इत्येव संज्ञा किन्तु, वृक्षापेक्षया-ऽधिक चेतनधर्म्मान्वितः "पुरुषः" किमिति पुन र्नः प्ररोहते—

महेश्वर विवर्त्त 'अश्वत्थ' क्यों कहलाया?, यह तो प्रश्नान्तर है। पहिले हमें इस के वृक्षसामान्य नाम का विचार करना चाहिए। वैसे तो 'पुरुषो वै प्रजापते र्नेदिष्ठम्' (शत० ……) इत्यादि

ब्राह्मणश्रुति के अनुसार चेतन प्रजापति के धर्म्मों से चेतन पुरुष ही सर्वात्मना समतुलित है। अतएव उसे यत्र तत्र–**'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुः सं०………) इत्यादि रूप से भी व्यवहृत किया गया है। परन्तु समष्ट्यात्मक वर्णन में उसे 'वृक्ष' नाम से ही व्यवहृत करना उचित समझा गया है। कारण यही है कि, पुरुष चेतन तो अवश्य है, परन्तु इस के अवयव विस्रस्त होकर पुनः प्ररोहित नहीं होते। यदि हाथ–पैर काट दिए जाते हैं। तो पुनः इन का उद्‌गम नहीं होता। परन्तु वृक्ष की शाखा-पल्लव–फल–आदि सब कुछ काट देने पर भी पुनः उस का प्ररोहण होजाता है *। इसी लिए तो इसे असमाधेय प्रश्न माना गया है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया है कि, पुरुषापेक्षया स्वल्पमात्रा में चेतन धर्म्म का अनुगमन करने वाले वृक्षादि काट दिए जाने पर पुनः प्ररोहित होजाते हैं, तो क्या कारण है कि, वृक्षापेक्षया अधिक चेतन धर्म्मों का अनुगमन करता हुआ भी पुरुष काट दिए जाने पर पुनः–प्ररोहित नहीं होता ?। देखिए !

"तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—यथा वृक्षो वनस्पति स्तथैव पुरुषोऽमृषा ॥
तस्य पर्णानि लोमानि, त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥
त्वच एवास्यरुधिर प्रस्यन्दित्वच उत्पटः ॥
तस्मात्तदातुन्नात्प्रैति रसोवृक्षादिदतात् ॥२॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ॥
अस्थीन्यतरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥
यद्‌वृक्षो वृक्णो रोहति, मूलान्नवतरः पुनः ॥

—शत० १४।६।१०।३०,३१,३२,३३,।

११७-सतत विस्रंसन–प्राजापत्य–सृष्टि–निर्म्माण, तदीयचिति द्वारा पुन स्तत् सर्ग, एवं एतत्सामान्यधर्म्म द्वारैव प्रजापति की "वृक्ष" नामान्विति—

प्रजापति का सृष्टिनिर्म्माण कर्म्म में सतत विस्रंसन होता रहता है। परन्तु वह पुनः अपने क्षतभाग से (चितिद्वारा) पूर्ण बनता रहता है। इसी समधर्म्म से इसे 'वृक्ष कहना अन्वर्थ बनता है। संवरणार्थक 'वृक्ष' धातु से अच् प्रत्ययद्वारा 'वृक्ष' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ है–अपने परिणाह (घेर) से स्वाश्रितों का संवरण करने वाला। प्रजापति भी अपने साहस्री–मण्डल से इसी प्रकार त्रैलोक्य का संवरण किए हुए है, अतएव इसे भी संवरणसाधर्म्यात् 'वृक्ष' कहना अन्वर्थ बनता है। वृक्ष का मूल स्थिर रहता है, शाखा–प्रशाखा–पत्रादि अस्थिर–कम्पित रहते हैं। एवमेव प्रजापति भी अपने मूलात्मक हृदयभाव से सर्वथा निश्चल रहता है, एवं मूलात्मक प्रजाभाग से विचाली बना रहता है। वृक्षबीज के मूल–मध्य–अग्र भागों में क्रमशः प्रतिष्ठालक्षणा स्थिति (ब्रह्मा) अर्वाग्गतिलक्षणा आगति (विष्णु), पराग्गतिलक्षणा गति (इन्द्र, किंवा शिव) प्रतिष्ठित रहती है। उधर प्रजापति संस्था के मूल–मध्य–अग्र भागों में में भी इसी रूप से तीनों धर्म्म प्रतिष्ठित हैं, जबकि अध्यात्मसंस्था (पुरुषशरीर) में तीनों विपर्य्यय रूप से प्रतिष्ठित हैं। वृक्ष **'आत्मग्राम'** माना गया है। पत्र–पुष्प–फल–शाखा–प्रशाखा–वल्कल–आदि सब वृक्षाव-

यवों की उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग पृथक् पृथक् है। जिसप्रकार पुरुषसंथा में आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः एक आत्मा है, वैसे वृक्ष में एक आत्मा नहीं हैं। पत्ते पृथक् समय में उत्पन्न होते हैं, रक्त-हरित-पीतादिवर्णों में परिणत होते हुए झड़ जाते हैं। यही अवस्था फल-पुष्पादि की है। यही स्थिति प्राजापत्य संस्था की है। योगमायानन्त्य भेद से इसका प्रत्येक सृष्टिपर्व स्वतन्त्र आत्मभाव से युक्त है। अनेक खण्डात्म समष्टि से एक ईश्वरीय प्राजापत्य संस्था का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इन्हीं सब समान धर्म्मों के आधार पर महर्षियों ने प्रजापति को वृक्ष नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ माना है।

११८-सर्वरूप "अश्वत्थ" वृक्ष की महिमा का निरूपण—

वृक्षों में भी इसे अश्वत्थ वृक्ष क्यों कहा गया है, यह द्वितीय प्रश्न है। इसी का संक्षिप्त समाधान उपस्थित किया जाता है। * मायीमहेश्वर, योगमायीउपेश्वर, योगमायीईश्वर, प्रजापतिलक्षण महा वृक्ष के ये तीन मुख्य विवर्त्त हैं। इसदृष्टि से यों भी कहा जासकता है कि, महामायाप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले विश्ववृक्ष के अवान्तर तीन वृक्ष माने जासकते हैं। सामान्य 'वृक्ष' अभिधा के गर्भ में प्रतिष्ठित वे विशेष अभिधाएँ ही क्रमशः **'अश्वत्थ, पलाश, वट'** नाम से व्यवहृत हुई हैं। अव्ययप्रधान महामायी महेश्वर वृक्ष 'अश्वत्थवृक्ष' है। अक्षरप्रधान योगमायी उपेश्वर (एकवल्शेश्वर) वृक्ष 'पलाशवृक्ष' है। आत्मक्षर प्रधान योगमायी द्यावापृथिव्य ईश्वर (देवसत्य) वृक्ष 'वटवृक्ष' हैं। अश्वत्थवृक्ष की एक शाखा (पञ्च-पुण्डीरा वल्शा) एक पलाशवृक्ष है, पलाशवृक्ष की पाँच शाखाओं में से अन्त की नित्यभूपिण्डात्मिका शाखा पर अवलम्बित महापृथिवी रूप स्तोम्यत्रैलोक्य वटवृक्ष हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है, कि पलाश, और वटवृक्ष, दोनों अश्वत्थस्वरूप के गर्भ में ही अन्तर्भूत हैं। अश्वत्थसीमा में (तदवयरूप से) ही दोनों प्रतिष्ठित हैं। अतएव अश्वत्थग्रहण से दोनों का ग्रहण किया जासकता है। यही अश्वत्थ-वृक्ष की सर्वरूपता है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय हुआ है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वे० उ० ३।६।

११६-अश्वत्थ मूर्त्ति महेश्वर का "अणोरणीयान्" "पूर्णमिदं" व्याख्यानुसृत विभूति परक निर्वचन—

महामायावच्छिन्न, सहस्रवल्शोपेत महाविश्व में महामायी महेश्वर ही अपने महेश्वर (अव्यय) रूप से 'पर' है, एवं ईश्वररूप से अपर (किंवा, अवर) है। अपने महिमभाव से वही महतो महीयान् है, हृदयभाव से अणोरणीयान् है। वह सर्वव्यापक (मायामण्डलव्यापक, महाविश्वव्यापक) मायीमहेश्वर

---

* अश्वत्थ की विशद वैज्ञानिक व्याख्या मूलभाष्यान्तर्गत 'अश्वत्थविद्या' प्रकरण में ही देखनी चाहिए।

वृत्तवत् स्तब्ध खड़ा हुआ है इसी पूर्णपुरुष की पूर्णता के उदक पूर्णरूपों से सर्वविश्वप्रपञ्च-'**पूर्णमदः-पूर्णमिदम्**' रूप से पूर्ण बन रहा है। अश्वत्थमूर्त्ति इस मायीमहेश्वर का अपना अश्वत्थात्मक समष्टिरूप अमृतसत्यलक्षण, क्षराक्षरगर्भित अव्ययपुरुष है। मायी महेश्वररूप अव्ययपुरुष से अविनाभूत अश्वत्थ वृक्षशाखात्मक, ब्रह्मसत्यलक्षण, अव्ययक्षरगर्भित पलाशवृक्षात्मक, उपेश्वरमूर्ति अक्षरपुरुष इसी मायीमहेश्वर का दूसरा विवर्त्त है। मायी महेश्वर के अव्ययरूप से अविनाभूत, अश्वत्थ वृक्षान्तिमपर्वमहिमात्मक, देवसत्य-लक्षण, अव्ययाक्षरगर्भित, वटवृक्षात्मक, ईश्वरमूर्त्ति आत्मक्षरपुरुष इसी मायीमहेश्वर का तीसरा विवर्त्त है। इसप्रकार अश्वत्थ मूर्त्ति वह मायीमहेश्वर ही अमृतसत्याव्यय, ब्रह्मसत्याक्षर, देवसत्यात्मक्षर रूप से महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर इन तीन भावों में परिणत होता हुआ अश्वत्थ-पलाश-बटरूप से सर्वत्र व्याप्त होरहा है। अश्वत्थमूर्त्ति अव्यय के गर्भ में सब वृक्षरूप प्रतिष्ठित हैं। अतएव '**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्**' इत्यादिरूप से इसी को विभूति-परिगणना में मुख्य स्थान दिया गया है।

त्रिमूर्त्ति अश्वत्थवृक्ष (मायीमहेश्वर) का मूल ऊर्ध्व है, शाखाएँ अवाङ्रूप से वितत हैं। केन्द्र ही वस्तु का ऊर्ध्व भाग कहलाया है, जिसे 'उत्तर' भी कहा जासकता है। केन्द्र के आधार पर वितत बहिर्म्मण्डल अधोभाग कहलाया है, जिसे 'दक्षिण' भी कहा जासकता है। केन्द्र में वह उक्थरूप से प्रतिष्ठित है, परिधिमण्डल में अर्क (रश्मि) रूप से प्रतिष्ठित है। यद्यपि मायाबलोपाधि सम्बन्ध से यह मात्राद्दष्ट्या सादि-सान्त है, तथापि अपने मूलात्मक परात्परांशरूप अव्ययरूप से यह सर्वथा सनातन है, शाश्वतधर्म्मा है। ऊर्ध्वमूल, अवाक्शाख, अव्ययप्रधान, सर्वैकरसमूर्त्ति *, यह अश्वत्थ ही महामायारूप से अमृतसत्य (महेश्वर) है, एकबलशात्मिका योगमायारूप से ब्रह्मसत्य (उपेश्वर) है, द्यावापृथिव्यात्मिका योगमायारूप से देवसत्यात्मशुक्र (ईश्वर है)। सर्वव्यापक सर्वरूप इसी अश्वत्थवृक्ष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

---

*—**ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
छन्दांसि यस्यपर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥गी०१५।१।
सदृशं त्रिषुलिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ गी०ब्रा०··· ।
ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेवशुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् ६।१। *

१२०–अमर्त्य-मर्त्य-विभूतिनित्य युक्त "अश्वत्थमूर्त्ति" अव्यय पुरुष, एवम् "ब्रह्माश्वत्थ" "कर्म्माश्वत्थ" के स्वरूप का उपबृंहण—

अश्वत्थमूर्त्ति–अव्ययपुरुष–'अमृतं चैवमृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'–'अर्द्धं ह वै प्रजापति रात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इत्यादि स्मार्त्त–श्रौतसिद्धान्तानुसार अमृत-मर्त्य, दोनों विभूतियों से नित्य युक्त है। अमृतरूप विद्याव्यय है, मर्त्यरूप कर्म्माव्यय है। आनन्द--विज्ञान--मनोमय वही अव्यय ब्रह्म है, मनः--प्राण वाङ्मय वही अव्ययकर्म्म है। ब्रह्माव्यय मुक्तिसाक्षी है, कर्म्माव्यय सृष्टिसाक्षी है। मुक्तिसाक्षी ब्रह्माव्यय ब्रह्माश्वत्थ है, सृष्टिसाक्षी कर्म्माव्यय 'कर्म्माश्वत्थ' है। ब्रह्माश्वत्थ सनातन है, कर्म्माश्वत्थ विकुर्वाण होने से क्षरभावात्मक है। 'न श्वः तिष्ठति' यह कर्म्माश्वत्थ का निर्वचन है। 'अश्ववत्तिष्ठति'–'अश्वत्थवत् वा तिष्ठति, यह ब्रह्माश्वत्थ का निर्वचन है। ब्रह्माश्वत्थ का ईश्वरविवर्त्त से सम्बन्ध है, कर्म्माश्वत्थ का जीवविवर्त्त से सम्बन्ध है। पूर्व में महेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, नामक तीन विवर्त्तों का जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखता है, जिसका उपलब्ध भाष्यों में स्पर्श भी नहीं हुआ है। सभी व्याख्याताओं ने केवल कर्म्माश्वत्थ को ही अपना लक्ष्य बनाया है, जबकि–'**एषोऽश्वत्थः सनातनः**'–'**तेनेदंपूर्णं पुरुषेण सर्वम्**' '**अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्**' इत्यादिरूप से अनित्य संसारवृक्षात्मक--जीववृक्षात्मक--कर्म्माश्वत्थ से अतिरिक्त सनातन–पूर्ण–अव्यय--रूप ब्रह्माश्वत्थ का पदे पदे विश्लेषण हुआ है।

१२१–ब्रह्माश्वत्थ षोडशी प्रजापति का "परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर"-कलान्तर्भाव से षोडशकलत्व, एवं "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोस्येहाभवत् पुनः" श्रुति निरुक्ति का सङ्गमन—

परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, की १--५--५ कलाओं से जहाँ ब्रह्माश्वत्थ षोडशीप्रजापति है, षोडशकल है, वहाँ इन चार निष्कल परात्पर, अमृतव्यय, ब्रह्माक्षर, शुक्राक्षर पर्वों से वही ब्रह्माश्वत्थ, किंवा अश्वत्थब्रह्म चतुष्पाद बन रहा है। विश्वातीत निष्कल परात्पर सृष्टिकर्म्म मूलाधिष्ठान है। विश्वेश्वर पञ्चकल अव्यय सृष्टिकर्म्म का साक्षी है। विश्वात्मा पञ्चकल अक्षर सृष्टिकर्म्म का निमित्त (कर्त्ता) है। विश्वयोनिपञ्चकल आत्मक्षर ही अपने विश्वसृट्--पञ्चजन--पुरञ्जनरूपों से सृष्टि का उपादानकारण है। इसप्रकार चतुष्पाद् ब्रह्माश्वत्थ के परात्पर, अव्यय, अक्षर, ये तीन पाद तो ऊर्ध्व (केन्द्र) भाग के ही अनुगामी बने रहते हैं। सृष्टिरूप में परिणत होता है, चौथा उपादान कारणभूत विकुर्वाण आत्मक्षर। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जासकता है कि, चतुष्पाद ब्रह्म के तीन पाद तो स्थितिभावापन्न हैं, निश्चित हैं, अनेजत् हैं, कम्परहित हैं। एवं चौथा आत्मक्षरपाद ही गतिभावापन्न है, विचाली है, एजत् है, सकम्प है। अनेजत्--एजत् की समष्टि ही ब्रह्माश्वत्थ वृक्ष है। इसका अनेजत्भाग ब्रह्माश्वत्थ का मौलिक स्वरूप है, एजत्भाग कर्म्माश्वत्थ (संसारवृक्ष) का आदिप्रवर्त्तक है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए श्रुति ने कहा है – '**त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः, पादोस्येहाभवत्पुनः**' (यजुः सं०·······)।